MAPS-201

भारतीय राजनीतिक चिंतन

Indian Political Thought

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

फोन नं0- 05946- 261122, 261123

टॉल फ्री नं0- 18001804025

ई-मेल- info@uou.ac.in

वैबसाईट- http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम समिति

प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्या शाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रो0 अजय सिंह रावत उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
प्रो0 एम0 एम0 सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढवाल, उत्तराखण्ड	प्रो0 मधुरेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
डॉ0 ए0के0 रुस्तगी, रीडर, राजनीति विज्ञान जे0एस0पी0जी0 कॉलेज, अमरोहा, उत्तर प्रदेश	डॉ0 सूर्य भान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
डॉ0 घनश्याम जोशी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	

पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन

1.डॉ0 सूर्य भान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर - राजनीति विज्ञान,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
2, डॉ0 घनश्याम जोशी,लोक प्रशासन विभाग,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ. विजय प्रताप मल्ल राजनीति विज्ञान प्रवक्ता ,जे.एल.नेहरू पी.जी.कालेज बाराबंकी	**1,2,3**
डॉ.राजीव कुमार सिंह , सहायक प्राध्यापक राजनीति विज्ञान ,केन्द्रीय वि.वि. हरियाणा	4,5,7,8
डॉ. अजीत कुमार – प्रवक्ता –आर.आर.पी.जी.कालेज.अमेठी	6
डॉ. डी.के.पी.चौधरी एसोसिएट प्रोफेसर-राजनीति विज्ञान, एस.बी.एस. राजकीय महाविद्यालय रुद्रपुर	13,14
डॉ0 गौरव त्रिपाठी असि0 प्रोफेसर राज-0 विज्ञान राजकीय पी0 जी0 कॉलेज, लालगंज मिरजापुर)	**11,12**
डॉ. संतोष कुमार सिंह -राजनीति विज्ञान प्रवक्ता -चौरी बेलहा महाविद्यालय तरवा आजमगढ़	**9,10,15,16**

प्रकाशन वर्ष- 2018

संस्करण :2019, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

प्रकाशक :कुलसचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी , नैनीताल -263139

अनुक्रम

भारतीय राजनीतिक चिंतन (MAPS-201)

इकाई 1: प्राचीन भारतीय चिन्तन , विशेषतायें

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगल काल तक माना जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गुलामी के समय इस भ्रम को फैलाया गया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन अति साधारण स्तर का है। कुछ विद्वानों ने इसे आदर्शवादी अव्यावहारिक माना। भारत के वेद पुराण उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन के उत्कर्ष उदाहरण है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आद्युनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण है। प्लेटो के समकालीन कौटिल्य का दर्शन व्यावहारिक है। भारतीय चिन्तन व्यावहारिक ही नहीं अत्याधिक उपयोगी है। भारतीय चिन्तन का मूल मानव है व मानव के चारों ओर घूमता है। पाश्चात्य चिन्तन में मानव 18वीं शताब्दी में केन्द्रबिन्दु बना। जबकि भारतीय चिन्तन में यह प्रारम्भ से ही है। भारतीय चिन्तन को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कभी इसे राजधर्म, राजशास्त्र , दण्डनीति तथा नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। पंचतंत्र में इसे नृपतंत्र कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत है इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य , वेद पुराण , धर्मशास्त्रों , उपनिषदों, महाकाव्यों , जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों को शमिल किया जाता हैं। इसके अलावा समय-समय पर विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुकनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें ह्वेनसांग एवमं फाहयान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पुरातन अवशेष गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन के स्त्रोत के रूप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहीं है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखा जाता है। इसमें आध्यात्मिकता पर बल है। भारतीय चिन्तन में राज को आवश्यक माना जाता है। इसमें राज का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमें दण्ड की कठोर की व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण व्यावहारिक हैं और राजा का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम प्राचीन भारतीय चिन्तन -

1. को समझ सकेंगे।
2.के मुख्य स्त्रोतों के बारे में जान सकेंगे।
3. की मुख्य विशेषताओं को जान सकेंगे।
4. पर देशी प्रभाव तथा विदेशी प्रभाव को समझने में भी सहायता मिलेगी।
5.और पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन के अन्तर को समझ सकेंगे

1.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अति प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगलकाल तक माना जाता है। आज से हजारों वर्ष पूर्व जब दुनिया में चिन्तन का विस्तार नहीं हो पाया था उस समय भी भारतीय राजनैतिक एवं सामाजिक चिन्तन सर्वोच्च शिखर पर था। यह गौरवशाली परम्परा वैदिक काल से आज तक बनी हुई है।

औपनिवेशिक काल में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इस भ्रम को फैलाया कि भारत का प्राचीन चिन्तन अति साधारण है इसमें कुछ भी उल्लेख करने योग्य नहीं है। उनमें से कुछ विद्वानों ने इसे निरा आदर्शवाद, अव्यावहारिक रहस्यवाद से भरा हुआ बताया। इस भ्रम को मैक्स मूलर, डनिग जैसे पूर्वाग्रह से ग्रस्त विद्वानों ने आगे बढ़ाया । समय गुजरने के साथ नये तथ्य सामने आये और फैलाया गया भ्रम टूट गया। नये तथ्यों ने स्पष्ट किया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन से अत्यधिक प्राचीन एवं प्रासंगिक है। भारत में प्लेटो एवं अरस्तू से शताब्दियों पूर्व राजनैतिक का व्यापक विवरण मिलता है। भारत के वेद, पुराण, एवं उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन की उत्कृष्ट नमूने है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आधुनिक स्वरूप का उदाहरण है। अरस्तू के समकालीन कौटिल्य का सम्पूर्ण दर्शन व्यावहारिक है तथा यह सिद्ध कारता है कि भारत का चिन्तन कहीं भी पीछे नहीं है। यहां पर मैक्सी का कथन प्रासगिंक हो जाता है जब वह कहते है-''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनैतिक इतिहास यूरोप के राजनैतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।''एशियाटिक सोसायटी के उदय के साथ स्थिति में बदलाव प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन की बदली परिस्थितियों में भारतीयों की संस्कृति एवं इतिहास की जानकारी की आवश्यकता महसूस की गई। यहीं से भारतीय चिन्तन का नया स्वरूप दुनिया के सामने आया।

1.3.1 चिन्तन का महत्व

दुनिया में अनेक विद्वान राजनैतिक चिन्तन को अनुपयोगी एवं हाँनिपद्र मानते है। इसमें मुख्य रूप से बेकन, लेस्ली, स्टीफन, बर्क, डनिंगआदि प्रमुख हैं। स्टीफन तो कहता है कि -''वे देश भाग्यशाली है जिनके पास कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है क्योंकि ऐसा तत्व चिन्तन निकट भविष्य में होने वाली क्रान्तिकारी उथलपुथल का सूचक होता है।'' डनिंग का स्पष्ट मत था कि -'' जब कोई राजनैतिक पद्धति राजनैतिक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके विनाश की घड़ी आ गई है।''

उपरोक्त कथन चिन्तन को अनुपयोगी मानते है। वे इसे आदर्शवादी, काल्पनिक भ्रम पैदा करने वाला मानते है। वे तर्क देते है कि अच्छे विचारक प्रायः अच्छे शासक नहीं होते हैं। वे कहते हैं कि सैद्धान्तिक ज्ञान व्यावहारिक नहीं होता है तथा व्यावहारिक ज्ञान सिद्धान्त पर खरा नहीं उतरता है। प्लेटो इसका आदर्श उदाहरण है। वह अपने आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने में पूर्णतः असफल रहा।

इसका दूसरा दोष यह है कि अधिकांश विचार परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः उनका सामान्यीकरण करते हुए सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। राजनैतिक दर्शन में हाल्स, रूसो तथा मैकियावेली के मानव संबंधी विचार तत्कालीन समाज की देन थे। कतिपय यही कारण था कि तत्कालीन परिस्थितियों में उपजी निराशा, हताशा ने उनके विचार को मानव के प्रति नकारात्मक बना दिया था। उपरोक्त दोष के होते हुए भी चिन्तन का अध्ययन मानवोपयोगी है। इससे होने वाले लाभ निम्न है-

1.राज्य और उसका मूर्त रूप सरकार है। यह मानव से निर्मित है तथा मानव के इर्द-गिर्द ही घूमता है। अतः मानव के संबंध में विचार करना, विभिन्न प्रश्नों पर विचार करना सदैव से मानव तथा समाज के लिये लाभदायक रहा है।

2.राजनीतिक चिन्तन का मानव के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों ने मानव को बहुत लाभ पहुंचाया है। रूसो के विचारों ने 18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया और इसी क्रान्ति से समानता, स्वतन्त्रता तथा भाईचारे का विचार सामने आया। मार्क्स ने 20वीं शताब्दी में ''बोल्शेविक क्रान्ति'' को जन्म दिया। इसी से साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ।

3.राजनीतिक चिन्तन से एक अलग प्रकार का लाभ यह होता है कि यह विभिन्न प्रकार की गई शब्दावलियों, सिद्धान्तों को जन्म देता है। इसमें प्रमुख्य रूप से राष्ट्रीयता, लोककल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद, पंथनिरपेक्षता आदि प्रमुख है।

4.राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से एक अन्य लाभ यह होता है इससे हमें ऐतिहासिक घटनाओं को समझने और उसकी व्याख्या करने में सहायता मिलती है।

5.इससे वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव इतिहास में रहती है। अतः उसका निवारण भी इतिहास से आता है। चिन्तन समस्या का निवारण ही नहीं करता वरनभविष्य में आने वाली समस्याओं का हल एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि चिन्तन का अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से लाभप्रद है। यह स्वभाविक प्रक्रिया है जो लम्बे समय से चली आ रही है।

1.3.2 चिन्तन के विविध नाम

राजनीतिक चिन्तन को प्राचीन समय में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। यह समयानुसार न केवल नाम वरनअपनी लोकप्रियता को खोता एवं पाता रहा है। यहां पर प्रो0 अलतेकर का कथन प्रांसगिक हो जाता है जब वह कहते है-''राजधर्म, राजशास्त्र, दण्ड नीति, नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र आदि नामों से प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र को संबोधित किया गया है।'' विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इसके विविध नाम दिखायी पड़ते है जैसे विभिन्न स्मृतियों में इसे राजधर्म, महाभारत में इसे राजशास्त्र , दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र कहा गया। पंचतत्र में इसे नृपतंत्र कहा गया। इसको दण्डनीति पुकारने का आधार भी बहुत स्पष्ट है। बहुत से विद्वान राजसत्ता का अंतिम आधार दण्ड को ही मानते है। वे मानते है कि

राजनैतिक सत्ता यदि कानून तोड़ने वालों को दण्ड नहीं देगी तो अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। अतः दण्ड द्वारा ही भय उत्पन्न कर व्यवस्था लायी जा सकती है। अतः राजनीतिक चिन्तन को दण्ड नीति का पुकारा गया।

कौटिल्य ने इस धारणा को अस्वीकार किया। उसकी मान्यता थी कि दण्ड से भय उत्पन्न होता है। वे कहते है कि कानून तोड़ने वालों को दण्डित करने से जनता स्वतः कानूनों का पालन करने की ओर बढ़ती है। मनु ने दण्ड देने वाली मानवीय सत्ता को राजा नहीं माना वरनदण्ड को शासक माना। ऐसे में शासक को कर्तव्य तथा समाज को बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति के नाम से जाना जाता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वास्तव में शासननीति का ही विवरण था।

नीतिशास्त्र शब्द में नीति का अर्थ सही मार्ग दिखाने से लिया जाता है। उचित अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक उस विशाल अर्थ में नीति की चर्चा करता है। कामदंक एवं शुक्र के शासन संबंधी ग्रन्थ नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। वे इसे राज्य शास्त्र या दण्ड नीति के नाम से नहीं पुकारते हैं। कौटिल्य ने अपने शासन संबंधी ग्रन्थ को अर्थशास्त्र कहा। कौटिल्य की मान्यता थी कि 'अर्थ' शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय स्पष्ट होता है। साथ ही वह भूमि भी इंगित होती है जिस पर रहकर व्यवसाय किया जाता है। अतः उस भूमि को प्राप्त करना तथा उसको बनाये रखने का शास्त्र ही अर्थशास्त्र है। शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र ने केवल संपति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है वरनशासन शास्त्र के सिद्धान्तों को भी स्थापित करना है। क्रामन्दक के समय में जो नीति शब्द राज्य की नीति के संबंध में प्रयुक्त किया जाता था वहीं जब सामान्य आचरण के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा है। राजनीति तो इसका एक हिस्सा है। ऐसे में राज्य से संबंध रखने वाले नियमों तथा तथ्यों को आचरण के अन्य पहलूओं से अलग दिखाने के लिये नीति शब्द के साथ ''राज'' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। डा0 भण्डारकर के शब्दों में-'' जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिये किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको राजा के आचरण नियमों से अलग करने के लिये राजनीतिक शब्द का प्रयोग किया जाय।''

प्राचीन भारत में राजशास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते है। यह संकुचित विषय न होकर व्यापक विषय था। इसमें आने वाले विषय को धर्म से अलग नहीं रखा गया था। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म और राजा की सत्ता आदि के साथ ग्रन्थ कई बातें सम्मिलित थी। इसमें जनकल्याणकारी कार्य भी शामिल थे।

1.3.3 चिन्तन के स्त्रोत

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य जैसे वेद, पुराण, धर्म सूत्रों, धर्म शास्त्रों, उपनिषेदों, महाकव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातक शमिल हैं। इनके अतिरिक्त

समय-समय पर विभिन्न विद्वानों की रचनाओं जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांमदकीय नीतिशास्त्र, शुक्र नीति आदि प्रमुख हैं। इसी समय अनेक शासकों के समय विदेशी विद्वानों ने उनके राज्य का न केवल भ्रमण किया वरन व्यापक सामायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विश्लेषण अपने ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। इसमें फाहृयान एवं हृवेनसांग का विवरण उल्लेखनीय है। कुछ संस्कृत के विद्वानों जैसे पाणिनी के व्याकरण, अष्टध्यायी, कालीदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्रा राक्षस से भी जानकारी मिलती है। यहां पर डा0 जयसवाल का कथन प्रासंगिक हो जाता है-'' हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें प्राप्त होती है। सौभाग्य से इस समय हिन्दू राजनीतिशास्त्र के कुछ मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध है।''

भारतीय चिन्तन के स्त्रोत को अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न भागों में बांट सकते हैं-

1. देशी अथवा भारतीय स्त्रोत
2. विदेशी स्त्रोत

1.3.3.1 देशी स्त्रोत

देशी अथवा भारतीय स्त्रोत में अनैतिहासिक साहित्य एवं इतिहास परक साहित्य दोनों शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य हैं जिसमें मुख्य रूप से वेद उनकी संहितायें, ब्राहमण ग्रन्थ और सूत्र सम्मिलित है। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्यों जैसे रामायण, महाभारत का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्म के साहित्य जैसे बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि का भी उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय चिन्तन की स्पष्ट झलक कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में भी दिखाती है। भारतीय चिन्तन के भारतीय स्त्रोत निम्नलिखित है-

1.वेदः- भारतीय धार्मिक साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। यह चार भागों में हैं जिनको ऋगवेद , सामवेद, यजुर्वेद तथा यर्थववेद आदि हैं। इनमें वेदों के माध्यम से शासन तथा राज्य की उत्पति के सिद्धान्तों का पता चलता है। इसमें राजा के अधिकार, राजा-प्रजा संबंध तथा शासन नीतियों का विस्तृत मिलता है। वास्तव में वेद प्राचीनतम स्त्रोत है। इनसे तत्कालीन राजनीति तथा पद्धति का अच्छा ज्ञान होता है।

2.ब्राहमण तथा उपनिषदः- वैदिक मंत्रों तथा संहिताओं की गटा टीकाओं को ब्राहमण कहा जाता है। ब्राहमण साहित्य में मुख्य रूप से तटेय, पंचविश, शतपथ, तैतरीय आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपनिषेदों के द्वारा तत्कालीन समाज, शासन तन्त्र, राजा प्रजा संबंधों का पता चलता है। उपनिषेदों की संख्या बहुत है। इसमें मुख्य रूप से वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताखतर, केन, कट, प्रश्न, मुण्डक आदि प्रमुख हैं। इनमें विम्बसार के पूर्व की राजनैतिक दशा का ज्ञान होता है।

3.महाकाव्यः-वैदिक साहित्य के बाद साहित्य के दो स्तम्भों रामायण था महाभारत की रचना होती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक दशा को सामने लाने का श्रेय इन ग्रन्थों को है। रामायण के रचियता वाल्मिकी ने भगवान राम के चरित्र वर्णन से सम्पूर्ण समाज का चित्र ही उकेर कर रख दिया है। महाभारत में शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्य तथा राज्य के साथ संबंधों का वर्णन है। यह प्राचीन चिन्तन को मजबूत करते हैं।

4.पुराणः- महाकाव्यों के साथ पुराण अपने समय की ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते है। ये महाकाव्यों के समकालीन हैं। इसमें आदिम काल से गुप्तकाल की समस्त सामग्री का उल्लेख है। विष्णु पुराण मौर्य वंश के विषय में, मत्स्य पुराण आंध्र वेश के विषय में व्याख्या करते हैं। वायुपुराण में गुप्तों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वायु पुराण में ही सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था की उत्पति का वर्णन है। राजनैतिक दृष्टि से अग्नि पुराण का महत्व सर्वाधिक है जिसमें शासन का जनकल्याण का आधार बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में सामाजिक वर्ण व्यवस्था के नियमों के पालन तथा जनकल्याण पर बल दिया गया है।

5.स्मृतियाँ- ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियों का विशेष महत्व है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्वय, नारद, बृहस्पति, पराशर, आदि की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इन स्मृतियों में साधारण वर्णाश्रम, धर्म, राजा के कर्तव्य, प्राचश्चित आदि का विस्तृत विवरण है।

6.जैन साहित्यः- जैन साहित्य प्राचीन चिन्तन को प्रमाणित करता है। मुख्य रूप से जैन साहित्य प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा दोनों में उपलब्ध है। जैन सूत्रों में इतिहास की अनेक उपयोगी सामग्री है। जैन साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र लिखित ''परिशिष्ट पर्वन'' बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में महावीर के काल से मौर्यकाल का विस्तृत विवरण मिलता है। भद्रवाहु चरित नामक दूसरे ग्रन्थ में भद्रबाहु से लेर चन्द्रगुप्त मौर्य तक बहुत जानकारी मिलती है।

7.बौद्ध साहित्यः- बौद्ध धर्म में तीन प्रमुख ग्रन्थ है। जिन्हें त्रिपटक के नाम से जाना जाता है। इनमें संत पिटक, धम्म पिटक और विनय पिटक आदि है। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इससे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। निकाय एवं जातक ग्रंथों में तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती समाज का उल्लेख है। बौद्ध धर्म ग्रन्थ दिव्यावदान, ललिताविस्तार, महावस्तु, मंजुशी आदि संस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त अश्वेघोष का बुद्ध चरित वसुवंधु का धर्म कोष, नागार्जुन का माहययिका सूत्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

8.लौकिक साहित्यः- लौकिक साहित्य तत्कालीन समाज का विभिन्न काल खण्ड में चित्रण करते हैं। इसमें कालीदास की रचनायें, पाणिनी की रचनायें, पतंजलि की रचनायें प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने अपनी रचनाओं जैसे पाणिनी की अष्टध्यायी तथा पंतजलि की व्याकरण महाभाष्य के द्वारा तत्कालीन समाज का चित्र खींचा।

9.कौटिल्य का अर्थशास्त्रः- कौटिल्य का ''अर्थशास्त्र'' भारत का ही नहीं वरनविश्व के प्रमुख राजनैतिक ग्रन्थों में से एक था। इसे राजनीतिशास्त्र का आधार माना जाता है। ''अर्थशास्त्र'' में राजा को वेद तथा तत्वज्ञान आदि विषय का अध्ययन करने को कहा गया है। सलटोरो के शब्दों में - ''प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।''

10.नीतिशास्त्रः- नीतिशास्त्रों में कांमदकीय नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति सार का महत्वपूर्ण योगदान है। कौटिल्य के बाद राज्य एवं शासन पर लिखे ग्रन्थों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कांमदनीय नीतिसार गुप्तकाल में 500ई0 के आसपास लिखा गया। शुक्रनीति भी तत्कालीन शासन व्यवस्था का वर्णन करता है। इसके समय में गणराज्यों का अंत हो चुका था अतः इसमें राजा का ही वर्णन है। शुक्र के अनुसार शासन का उद्देश्य जनता का सर्वांगीण विकास करना है।

11.अन्य ऐतिहासिक स्त्रोतः- अन्य ऐतिहासिक स्त्रोत में विभिन्न कालखण्डों में रचित विभिन्न रचनायें है। इसमें कल्हण रचित राजतंरगिणी प्रमुख है। इसमें प्राचीन काल से 12 वीं शताब्दी तक का कश्मीरी इतिहास का उल्लेख है। बाणभट्ट द्वारा रचित ''हर्ष चरित'' में हर्ष के शासन के विभिन्न पहलूओं का वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल का ''नवसाहसाँकचरित'' परमार वंश की जानकारी देता है। वाक्पतिराज के काव्यग्रन्थ ''गौडवहों'' से कन्नौज के राजा यशोवर्मन के शासन की जानकारी मिलती है। विल्हण रचित ''विक्रमांक देव चरित्र'' ग्रन्थ से कल्याण के चालुक्य वंश के इतिहास का पता चलता है। पाँतजलि के ''महाभाष्य'' और कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' शुगवंश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। विशाखदत्त के ''मुद्राराक्षस'' नाटक के द्वारा नंदवंश तथा मौर्यवंश का उल्लेख मिलता है। चन्दवरदाई की रचना 'पृथ्वीराज रासो' से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

1.3.3.2 विदेशी स्त्रोत

भारतीय चिन्तन के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्त्रोत विदेशी स्त्रोत कहलाता है। इसमें मुख्य रूप से विदेशों विद्वानों की रचनाओं, टीकाओं से प्राप्त सूचनाओं को शमिल किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से यूनानी एवं रोम के विचारकों को शामिल किया जाता है। यूनानी विचारकों को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता हैः-

1.	सिकंदर के पूर्व के विचारक	-	स्काइलेक्स, हैरोडोटस, हीसियस
2.	सिकंदर के समकालीन	-	नियक्सि, ओनिसक्रेटिस
3.	सिकंदर के बाद	-	मेगस्थनीय

सिकंदर के पूर्व के यूनानी विचारकः- इसमें मुख्य रूप से स्काइलेक्स था जो एक यूनानी सैनिक था। उसने अपनी पुस्तक में भारतीय सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन किया है। हेरोडोटस ने भी भारतीय व्यवस्था का वर्णन किया है। उसका विवरण मुख्यतः सीमावर्ती क्षेत्रों पर आधारित था।

सिकंदर के समकालीन विचारकः- सिकंदर के समकालीन विचारकों में अरिस्टोवुलस, निर्याकिस, ओनिसक्रेटिस, एरियन आदि प्रमुख थे। ये वे विद्वान थे जो आक्रमण के समय सिकंदर के साथ भारत आये थे। वे भारतीय समाज के साथ नजदीक से जुड़े थे। कतिपय यही कारण था कि इनका विवरण अधिक सटीक और प्रमाणिक माना जाता है।

सिकंदर के बाद के विचारकः- इसमें मुख्य रूप से मेगस्थनीय, डायमेकस, टिखनी, डायोडोरस, प्लूटार्क आदि प्रमुख हैं। यूनानी विचारकों में सर्वाधिक प्रमाणिक विवरण मेगस्थनीय का माना जाता है। जिन्होंने अपनी रचना 'इण्डिका' के माध्यम से एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। एरियन, जस्टिन, डायोडोरस का विवरण मुख्यतः सिकंदर के अभियानों से संबंधित था।

इसके अतिरिक्त एक विदेशी रचना 'पेरीप्लस आफ दी एरीशियन सी' ने तत्कालीन व्यापार, विदेशों संबंधों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त टाल्मी का भूगोल, टिलनी का 'नैचुरल हिस्ट्री' तथा इंडकोरलुस्टस का 'क्रिश्चयन आफ दी यूनीवर्स' में भारत भौगोलिक सांस्कृतिक विस्तार का विवरण प्रदान करते हैं।

चीनी यात्रियों का विवरणः- चीनी यात्रियों द्वारा विभिन्न कालखण्डों मे दिया गया विवरण बहुत उपयोगी है। इन चीनी यात्रियों में फाह्ययान, ह्वेनसांग तथ इटसिंग है। फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के समय भारत आया था। उसने बौद्ध तीर्थी का भ्रमण किया तथा उसका विस्तृत विवरण दिया। ह्वेनसांग हर्ष के समय भारत आया उसने समूचे भारत का भ्रमण किया। 7 वीं शताब्दी में इटसिंग ने भारत में शिक्षा के उच्च अध्ययन केन्द्र नालंदा विश्वविद्यालय , तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उनके सम्पूर्ण विवरण से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिणक अवस्था का ज्ञान होता है।

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरणः- भारत में इस्लामी आक्रमण के साथ मुस्लिम इतिहासकारों तथा यात्रियों के द्वारा भारतीय व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अल्वरूनी द्वारा रचित 'तहकीक एकहिन्द' से तत्कालीन राजपूत कालीन भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म, रीति-रिवाज आदि का वर्णन मिलता है। अलमसऊदी की 'मजरूल जहाब' आदि ग्रन्थ भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का चित्रण करते है।

1.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप

पुरातन अवशेष ही अनेक उलझी पहेलियों को सुलझाते हैं। भारत के इतिहास में प्राचीन समय से लेकर आज तक अनेक रहस्यों से पर्दा हट रहा है। इसमें महत्वपूर्ण भूमिका पुरातन अवशेषों का रहता है। इन्हीं के अध्ययन से हमें सामवाहन वंश के आद के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरातत्व में मुख्य रूप से प्राचीन अभिलेख, प्राचीन, मुद्रा, प्राचीन भवनों, स्मारकों आदि को शामिल किया जाता है। मार्शल, स्यूनर, आर0डी0 बनर्जी ने अनेक स्थानों पर खुदाई कर नये तथ्यों को उजागर किया। उनके प्रयासों से इतिहास का नया स्वरूप तथा लोगों के सोच की धारा ही बदल गई। डा0

आर0 डी0 बनर्जी ने 1921-22 में सिंध प्रांत में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब में हड़प्पा की खुदाई करवाई। इन खुदाई से जो नये तथ्य सामने आये उनसे स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है। इस दिशा में मार्शल का योगदान उल्लेखनीय है। गया, कालीवंगा, लोथल आदि की खुदाई ने नये रहस्यों पर से आवरण हटाया। पुरातत्व विद्वानों ने खुदाई में प्राप्त सामाग्रियों जैसे शव, मुद्रा, हड्डी, बर्तन, हथियार, औजार, श्रींगार सामग्रियों का अध्ययन कर इतिहास को नये तथ्यों से अवगत कराया। विभिन्न गुफाओं के अध्ययन से विभिन्न कालखण्डों की जानकारी मिलती है।

विभिन्न अभिलेखों जैसे गुफालेख, शिलालेख, स्तंभ लेख, ताम्र पत्र आदि को शामिल किया जाता है। ये अभिलेख विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुए है। इनके अध्ययन से राजनीति, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान होता है। इन अभिलेखों में अशोक के अभिलेखों को प्राचीनतम माना जाता है। उनके प्रमुख अभिलेखों में हाथी, गुफा अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख, गुप्तकालीन अभिलेख आदि हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेखों में मुख्य रूप से प्रयाग का अभिलेख महत्वपूर्ण है। दक्षिण के चोल, पाण्डव, पल्लव राजाओं के अभिलेख महत्वपूर्ण है। ये सभी अभिलेख प्राचीन इतिहास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है।

मुद्राएँ- प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान का प्रमुख आधार मुद्राएं हैं। ईसा से पूर्व 200 से 300 ई0 तक के भारत के इतिहास की सम्पूर्ण जानकारी हमें मुद्राओं के माध्यम से प्राप्त होती है। अनेक प्राचीन शासकों जैसे पल्लव, शक, वैक्ट्रियन के अध्ययन का आधार मुद्रा हैं। मुद्राओं में गुप्तकालीन मुद्राओं का बहुत महत्व है। वे न केवल अत्याधिक कलात्मक है वरनउसके निहितार्थ भी व्यापक हैं। ये राजा की वंशावली, तिथिक्रम तथा उत्तराधिकारी का बोध होता है। मुद्राओं के माध्यम से ही अनेक राज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणादे आदि गणतन्त्रों का अस्तित्व इन मुद्राओं के माध्यम से सिद्ध होता है।

स्मारक

इसके अन्तर्गत विभिन्न भवन, मूर्तियाँ आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन मंदिरों, विहारों, स्तूपों, मूर्तियों, भवनों आदि को शामिल किया जाता है। इनसे सामाजिक, धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है। लक्षशिला के टूटते भवनों में कुषाणवंश का विस्तृत विवरण मिलता है। पाटिलीपुत्र के भवनों से मार्य वंश का विस्तृत ज्ञान होता है। देवगढ़, कानपुर, झांसी आदि के अनेक भवनों में गुप्त वंश के सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का बोध होता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन को प्रमाणित करने में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। चिन्तन के स्त्रोत में देशी-विदेशी स्त्रोत तो को ही साथ ही विभिन्न पुरातन अवशेष, शिलालेखों, मुद्राओं ने न केवल तथ्य उजागर किये वरनसम्पूर्ण चिन्तन को प्रभावित किया।

1.4 भारतीय चिन्तन का विकास-भारत में चिन्तन के विकास का प्रारम्भ भारत में आर्यो के आगमन से माना जाता है। काल खण्ड की दृष्टि से यह काल सोलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष ईसा

पूर्व तक है। इन आर्यों का समाज जैसे ऋग्वेद में अंकित था पितृप्रधान था। शासन राजतन्त्रात्मक था। राजा निर्वाचित एवं नियन्त्रित था। समय के साथ वह वंशानुगत एवं नियंत्रणमुक्त हो गया। वैदिक काल में सभा एवं समिति लोकप्रिय निकाय थे। वरिष्ठ एवं शक्तिशाली व्यक्तियों की परिषद ही राजा का चुनाव करती थी। वह राजा को समय-समय पर परामर्श भी देती थी।

धर्म एवं कर्मकाण्ड का प्रभाव समय के साथ बढ़ा। युद्ध में विजय तथा लाभ की लालस ने 'बलि' प्रथा को बढ़ावा दिया। पुरोहितों के कार्य, महत्व को बढ़ावा मिला। जनसंख्या बढ़ी तथा कार्यों के आधार पर 'विशेषीकरण' पर बल दिया गया। युद्धों की संभावना की अधिकता के कारण एक संगठित सेना की आवश्यकता महसूस की गई। युद्ध के विशेषज्ञों को क्षत्रिय कहा गया। अनेक कर्मकाण्डों, रिवाजों के लिये ब्राहमणें का महत्व बढ़ा। अत्याधिक उपजाऊ भूमि में कृषि का विस्तार हुआ और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला। इसके कारण समाज में एक प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। इसी समय कृषि उद्योग एवं अन्य कलाओं से जुड़ी नई जातियां बनने लगी। इसके अतिरिक्त गैर आर्य जो युद्ध में पराजित हो गये थे वे दास के रूप में स्थापित हो गये। इस प्रकार नई परिस्थितियों एवं विकास ने समाज को चार भागों में विभाजित कर दिया।

द्वितीय चरण में बड़े राज्य स्थापित हो गये। सामाजिक विकास के साथ राजनैतिक विकास होने लगा। राजा की सैनिक शक्ति एवं भौतिक शक्ति का विकास हुआ। राजा निर्वाचित के स्थान पर वंश आधारित हो गया। इसी समय राजा कानून का संरक्षक एवं सम्प्रभु बन गया। राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई।

विकास के तीसरे चरण में राजा धर्म के प्रमुत्व से बाहर आ गया। राजा अत्याधिक सशक्त हो गया और वह धर्म को ही प्रभावित करने लगा। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म, जैन धर्म के साथ प्रारम्भ हुई। ब्राहमणवाद पर कठोर प्रहार हुआ। इन दोनों धर्मों ने राजा का समर्थन प्राप्त किया। राजा के समर्थन से न केवल इन दोनों धर्मों का तीव्र विस्तार हुआ वरनब्राहमणवाद का प्रभाव कम हुआ। यहीं से नये उदार विचारों का जन्म हुआ। नये विचारों को समाहित करते हुए नये कानून बनाये गये।

राजा नई परिस्थितियों में और अधिक मजबूत हो गया। वह नये धर्मों का प्रसार कर रहा था साथ ही कट्टर पुरातन व्यवस्था पीछे छूट रही थी। राजा निरन्तर मजबूत होता जा रहा था। इसी समय बड़ी राजशाही स्थापित होने लगी। बड़े सम्राटों का झुकाव भी अलग-अलग धर्मों की ओर होने लगा। जहां सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म का समर्थक था वहीं सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का समर्थक था। सामाजिक समरसता, सौहार्द बनाये रखने तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को नियन्त्रित करने के लिये राजा ने बल का प्रयोग किया। उसने स्वयं की आज्ञाओं, आदेशों को जारी कर धार्मिक क्षेत्र में भी दखल प्रारम्भ किया। मौर्य वंश के पतन के बाद भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन आये। नये छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए तथा नये राजा अस्तित्व में आये। शक एवं कुषाण राज्य स्थापित हुए। विदेशी शासकों ने प्रथम प्रहार सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक

व्यवस्था पर किया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था और कमजोर हुई। इसी समय दैवीय अधिकारों पर बल मिला। अनेक शक एवं कुषाण शासकों ने अपने को ईश्वर पुत्र घोषित कर दिया। यही से राजा का धर्म पर भी प्रभुत्व स्थापित हो गया। राजा धर्म प्रचारक, रक्षक तथा सर्वोच्च व्याख्याकार बन गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप संघात्मक था। इसके बावजूद महत्वपूर्ण मामलों में शक्तियों का केन्द्रीकरण था। सम्राट अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं सम्प्रभु था। उसकी सर्वोच्चता भूमि एवं जल पर स्थापित थी। वह पवित्र कानून का संरक्षक था धर्म प्रवर्तक था। वह देवता समान था तथा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

1.4.2 भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें

प्राचीन भारत में जो राजनैतिक व्यवस्था थी उसकी अपनी विशेषता थीं जो उसे पाश्चात्य चिन्तन से अलग करती है। ये विशेषतायें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक कारणों से प्रभावित थी। प्राचीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैः-

1.धर्म एवं राजनीति का सांमजस्यः- प्राचीन भारत में राजनीति तथा उसके सिद्धान्तों का विकास धर्म के एक सिद्धान्त के रूप में हुआ था। यही कारण है कि प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म को राजनीति के साथ जोड़कर देखा गया। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म से राजनीति को जोड़कर देखा गया। राजा से भी धर्म के पालन की आशा की जाती है। वह हर प्रकार के धार्मिक परम्पराओं, रीतियों से बंधा हुआ है। राजा से आशा की जाती है कि वह शासन भी धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर करे। राजनीति में धर्म एवं नैतिकता सदैव समावेश रहा है। भारत में प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ ही राजनीति के मुख्य ग्रन्थ माने जाते है। इनमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि प्रमुख हैं।

2.आध्यात्मिकता पर बलः- प्राचीन भारतीय राजनीति का झुकाव आध्यात्म की ओर अत्याधिक रहा है। भारत को आध्यात्मिक गुण भी कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक पहलू का विचार आध्यात्म से प्रेरित है। यहां पर जीवन शैली ही आध्यात्मिक रही है। कतिपय यही कारण है कि यहां राजनीति का रंग भी आध्यात्मिक है। भारत में राजनीति में आत्मा का विकास एवं मानव के सर्वागींण विकास पर बल दिया गया है। भारतीय चिन्तन में माना गया कि जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है। जीवन इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

3.राज्य आवश्यक संस्था हैः-प्राचीन भारतीय चिन्तन की यह प्रमुख विशेषता है कि राज्य को आवश्यक संस्था मानती है। जीवन के तीन लक्ष्यों धर्म, अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति संभव नहीं है। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक और अनुपयोगी मानते हैं, व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत भारतीय चिन्तन ने राज्य को अति आवश्यक माना जाता है। यह न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है वरनआत्मा का विकास करने का भी माध्यम है।

4.राज्य के विस्तृत कार्य क्षेत्र पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन आदर्शवादी तो है परन्तु इसमें कही भी व्यक्तिवाद की झलक नहीं मिलती है। भारतीय चिन्तन में राजा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राज्य न केवल व्यक्तियों की रक्षा करेगा वरनउनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। राज्य इसके बाद नैतिकता के मार्ग पर प्रेरित कर अंतिम लक्ष्य (आत्मा का विकास) को प्राप्ति के लिये वातावरण उपलब्ध करायेगा।

5.राजा की सर्वोच्च सत्ता पर बलः-भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राजा सर्वोच्च शक्तियों का प्रयोग करता है। वह किसी के प्रति जबावदेह नहीं है। अनेक विद्वानों ने राजा को दैवीय माना है। उसमें दैवीय गुणों का समावेश किया है। कौटिल्य ने राजा और राज्य के बीच कोई अंतर नहीं किया है। राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। परन्तु उसे निरंकुश नहीं किया गया है।

6.दण्ड पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन यह मानता है कि मानव में आसुरी शक्तियों की प्रधानता होती है। अतः उनको नियन्त्रित करने के लिये दण्ड की आवश्यकता होती है। भारतीय चिन्तन में कठोर दण्ड का प्रावधान है जिससे समाज संदेश जाय और अन्य लोग कानून तोड़ने से बचे। प्राचीन विद्वानों ने इसे दण्ड नीति के नाम से पुकारा है। मनु, कौटिल्य सभी ने दण्ड पर बल दिया।

7.व्यवहारवादी दृष्टिकोणः- भारतीय चिन्तन आदर्शवादी न होकर व्यावहारिक है। भारतीय चिन्तन में यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू की तरह कल्पना का अभाव है। ए0के0 सेन के शब्दों में - ‘‘हिन्दू राजनीतिक चिन्तन उत्कृष्ठ वास्तविकताओं से भरा हुआ है। कुछ राजनीतिक अपवादों को छोड़कर भारतीय राजनीतिक विचारों का संबंध राज्य के सिद्धान्त एवं दर्शन से उतना नहीं जितना राज्य की समस्याओं से है।

8.विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर बलः- भारतीय प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं का केन्द्र संस्थाओं को बनाया है। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का व्यापक वर्णन किया गया है। समस्त अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मूल रूप से राजनीतिक संगठनों तथा उनके कार्यों को बनाया गया है।

9.सामाजिक व्यवस्था का प्रभावः- प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था वहां की सामाजिक व्यवस्था की देन होती है। प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक में हो रहा परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था की देन होता है। भारत के चिन्तन में ऐसा देखा गया है कि यहां पर भी सामाजिक व्यवस्था का व्यापक प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर है।

10.राजा के व्यापक कार्यों का वर्णनः- प्राचीन भारतीय चिन्तन में प्रायः विद्वानों ने राजा के कार्यों का व्यापक वर्णन किया है। इन रचनाओं का अधिकांश हिस्सा राजपद की योग्यता, महत्व एवं कार्यों के वर्णन में है। राजा का परम कर्तव्य क्या है? उसे किस प्रकार इसका पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं पर न केवल विचार हुआ वरन उसका समाधान भी प्रस्तुत किया गया। यह उस समय हो रहा था जब पश्चिम में व्यवस्थित अध्ययन भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। भारतीय चिन्तन यर्थातवादी, संस्थावादी तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति पर बल देता है।

मूल्यांकन

भारतीय राजनीतिक चिन्तन अत्यन्त प्राचीन है। कुछ विद्वानों इसे पांच हजार वर्ष से भी प्राचीन मानते हैं। यह दुनिया की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। यद्यपि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने झूठ का एक ऐसा आवरण डाला जिसमें यह सिद्ध किया गया कि भारत में प्राचीन चिन्तन था ही नहीं। जो कुछ भी था वह पाश्चात्य चिन्तन के सामने ठहरता ही नहीं। नये शोधों, पुरातत्व विभाग की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अति प्राचीन काल से ही राजनैतिक चिन्तन न केवल अस्तित्व में है वरनउसका स्तर भी काफी अच्छा है।

राजनैतिक चिन्तन के द्वारा किसी भी समाज की राजनैतिक व्यवस्था का न केवल ज्ञान होता है वरनउसमें सुधार की संभावना भी बनी रहती है। राजनैतिक चिन्तन से विश्व की घटनाओं को समझने की समझ उत्पन्न होती है। साथ ही अन्य देशों में उससे प्रेरणा लेकर मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उदाहरण के लिये रूसो के विचारों ने फ्रांस की क्रान्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही चिन्तन से नई शब्दालियों , परिभाषाओं का भी ज्ञान होता है।

जहां तक राजनैतिक चिन्तन के स्त्रोत का प्रश्न है तो यह दो स्तरों पर पाया जाता है। इसका पहला स्त्रोत देशी है तथा दूसरा स्त्रोत विदेशी है। देशी स्त्रोत में भारतीय विद्वानों की रचनायें, ग्रन्थ, महाकाव्य आदि है। इसमें मुख्य रूप से वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न काल खण्डों में रचित विभिन्न रचनायें आती हैं। यह सभी भारतीय चिन्तन की दिशा को स्पष्ट करती है। इसके अतिरिक्त विदेशी स्त्रोत भी है। जिनमें विभिन्न विदेशी विद्वानों के द्वारा समय-समय पर लिखी गई रचनायें आती हैं। इसमें मुख्य रूप से यूनानी विचारकों, चीनी विचारकों की रचनाओं का योगदान है। इसके अतिरिक्त शिलालेख, मुद्राओं, स्तूप आदि पर लिखी गई रचनाओं का अपना योगदान है। भारतीय चिन्तन मूल रूप से यर्थात पर आधारित है। इसमें आध्यात्मिकता के तत्व दिखाई पड़ते है। भारतीय चिन्तन में राजनीति से धर्म को अलग नहीं देखा जाता है। इन दोनों को साथ ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय चिन्तन में राजा तथा राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक स्वीकार किया गया है। इसमें सदैव संस्थाओं को महत्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक चिन्तन न केवल प्राचीनतम है वरनयह व्यावहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का आइना सदृश्य दिखता है जो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप भी बदलता हुआ दिखायी पड़ता है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन ने केवल प्राचीन

वरनअत्यन्त उच्च कोटि का है। यह तत्कालीन समाज से न केवल प्रभावित है वरनआगे आने वाले समाज के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

स्व-मूल्यांकन हेतु प्रश्नः-

1. प्राचीन भारतीय चिन्तन उच्च कोटि का है। सत्य/असत्य
2. भारतीय राजनीतिक चिन्तन पाश्यात्य चिन्तन से प्राचीन है। सत्य/असत्य
3. प्लेटो और अरस्तू कहां के विचारक थे?
4. कौटिल्य की रचना का क्या नाम था?
5. फ्रांस की क्रान्ति पर सर्वाधिक प्रभाव किस विचारक का था?
6. राजनीतिक चिन्तन का ....के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।
7. प्राचीन भारतीय चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत क्या है?
8. प्राचीन भारतीय चिन्तन के विदेशी स्त्रोत कौन से है?
9. अश्वघोष की रचना का क्या नाम है?
10. पाणिनी की रचना का क्या नाम है?

1.5 सारांश

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है। भारतीय चिन्तन के केन्द्र में मानव है। जबकि पाश्चात्य चिन्तन के केन्द्र में मानव नहीं है। इसके बावजूद मैक्समूलर , डनिंग जैसे पाश्चात्य समीक्षकों ने इसे अव्यावहारिक व अनुपुयुक्त माना । उक्त आलोचनायें उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन अनवरत मानव उपयोगी रहा है।

भारतीय चिन्तन के अनेक स्त्रोत रहें है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन रचनायें जैसे वेद,पुराण,धर्मसूत्र,उपनिषद, महाकाव्य आदि। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विदेशी विद्वानों के विवरण ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग कालखण्डों में आई विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, एवं शुक्रनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय चिन्तन शिलालेखों, स्तंभलेखों , गुफालेखों, एवमं ताम्रलेखों में भी परिलक्षित होता है। भारतीय चिन्तन धर्म एवमं एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की पवित्रता पर बल है। इसमें आध्यात्मिकता पर झुकाव है। इसके साथ ही भारतीय चिन्तन में राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय चिन्तन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। इसमें कठोर दण्ड की व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन में राजा के कार्यक्षेत्र को

व्यापक माना गया है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन एकपक्षीय पुरातनपंथी एवं अधूरा नहीं है वरन यह पूर्णत व्यावहारिक एवमं आधुनिक है।

1.6 शब्दावली

पाश्चात्य- पश्चिमी भूभाग अथवा पश्चिम के देश जैसे यूनान, इंग्लैण्ड, फ्रांस

औपनिवेशिक कालः- भारत में बिटिश शासन के समय को औपनिवेशिक काल कहा जाता है।

पूर्वाग्रहः- पहले से निर्णय लेकर (तय करके) कार्य करना ही पूर्वाग्रह कहलाता है।

आदर्शवादः- अच्छी स्थिति , आदर्श स्थिति की कल्पना करना तथा जो लागू करने में मुश्किल हो आदर्शवाद के अन्तर्गत आता है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य,3. यूनान, 4. अर्थशास्त्र 5. रूसो 6. यथार्थवाद7. वेद, पुराण, शिलालेख, स्तूप, ग्रन्थ,

8. स्काइलेक्स, मेगस्थनीज, हवेनसांग, फाहयान , 9. बुद्धचरित, 10. अष्टध्यायी

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या

2.समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र

3.परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें

4.वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री

1.वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया

2.श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.राजनीतिक चिन्तन से क्या आशय है? भारतीय प्राचीन चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत बताइए।

2.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें बताइये।

3.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन क्या है? यह किस प्रकार पाश्चात्य चिन्तन से भिन्न है, स्पष्ट कीजिये।

4.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के महत्व पर एक निबन्ध लिखिये।

5.राजनीतिक चिन्तन से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख चरणों पर प्रकाश डालिये।

6.प्राचीन राजनीतिक चिन्तन के विकास पर निबन्ध लिखिये।

इकाई 2 : मनु

इकाई संरचना

2.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई 1 में हमने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के बारे में अध्ययन किया है |जिसमें यह यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है।

इस इकाई में हम मनु के राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार तथा राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |यही नहीं इसके आगे हम मनु के विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए विदेश नीतिका भी अध्ययन करेंगे |अंततः हम मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे |

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मनु के -

1.राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार का अध्ययन कर सकेंगे |

2. राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |

3.विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन

4.विदेश नीति का भी अध्ययन करेंगे |

5.मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे |

2.3 सामान्य परिचय

प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तन मनु का माना जाता है। उन्होंने अपनी रचना ''मनुस्मृति'' में राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। विभिन्न विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म विषयक समस्त ज्ञान मनु के द्वारा प्रारम्भ किया गया। ''मनु स्मृति'' को हिंदू समाज की व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में मनु स्मृति का सर्वाधिक महत्व है।
''मनु स्मृति'' के रचना काल के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैव्य नहीं है। महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का उल्लेख आता है। डा0 वी0सी0 सरकार ''मनुस्मृति'' को ईसा से 150 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। मैक्स मूलर इसे चौथी शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं। डा0 हण्टर इसे ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं मानते हैं। कुछ विद्वान इसे रामायण एवं महाभारत काल की रचना मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान रेनेगिनो मनु शब्द को ऐतिहासिकता से जोड़ने के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि मनु की उत्पत्ति मूलधातु मन से हुई है जिसका अर्थ है चिन्तन, मनन और सार्वभौम बुद्धि तथा विचार। मन धातु से ही मनु तथा मानव की उत्पत्ति हुई है। रेनेगिनो का मत है कि जिस प्रकार वेद की रचना का काल निर्धारित नहीं है उसी प्रकार स्मृति की उत्पत्ति के संबंध में प्रयास भी निरर्थक है। स्मृतिया एक लम्बे काल तथा परम्परा का प्रतिनिधित्व होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनु स्मृति का ज्ञान मनु से नारद, नारद से मार्कण्डेय, मार्कण्डेय से समुति भार्गव, समुति भार्गव से भृगु ऋषि को प्राप्त हुआ। भृगु ऋषि के द्वारा ही मनुस्मृति का संकलन हुआ।
इसके रचना काल के संदर्भ में मतभेद अवश्य है परन्तु एक विधि ग्रन्थ, नियामक ग्रन्थ के रूप में इसकी मान्यता पर सर्वसम्मति है। भारत में गौतम एवं वृहस्पति ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया। जर्मन विद्वान ने तो एक स्थान पर पर लिखा है कि ''मनु स्मृति बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।'' मैकेन्जी व्राउन के शब्दों में '' यह हिन्दू कानून का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।''
''मनु स्मृति'' की विषय वस्तुः- मनु स्मृति में कुल 12 अध्याय है। ''मनु स्मृति'' का अध्यायवार विवरण इस प्रकार है-

1.प्रथम अध्यायः- जगत की उत्पति, भू लोक, अंतरिक्ष ज्ञान, नदी, समुद्र उत्पति, चार वर्ग उत्पति, स्त्री पुरूष उत्पति आदि। कुल 111 से 119 श्लोक तथा संक्षिप्त स्मृति सूची पायी जाती है।
2.द्वितीय अध्यायः- धर्मोपदेश, श्रृति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, सदाचार, यज्ञ, संस्कार , माता-पिता, चारों आश्रम का वर्णन है।
3.तृतीय अध्यायः- ब्रहाचर्य की महिमा, गृहस्थ कर्तव्य, यज्ञ की महिमा आदि का वर्णन है।
4.चर्तुथ अध्यायः- मनुष्य के नित्यकर्मो का वर्णन है, करने तथा न करने योग्य कार्यों का वर्णन।
5.पंचम अध्यायः- स्त्री संबंधी व्याख्या, अन्य शिक्षाओं का उल्लेख है।
6.षष्टम अध्यायः- वानप्रस्थ की अवस्था, वानप्रस्थ की महिमा, सन्यास आश्रम आदि का वर्णन।

7.सप्तम अध्यायः- राज व्यवस्था, प्रशासन के नियम, राज्य की उत्पति, दण्ड की उत्पति, कर तथा सेना संबंधी नियमों का उल्लेख है।

8.अष्टम अध्यायः- दण्ड के नियम, दण्ड से पूर्व छानबीन, अपराधों के लिये दिये जाने वाले दण्डों का विवरण है।

9.नवम्, दशम तथा ग्यारहवें अध्यायः- वैश्य, शूद्रों में धर्म का अनुष्ठान, प्रकार वर्ण संस्कारों की उत्पति आदि का वर्णन है।

10.बारहवें अध्यायः- मोक्ष प्राप्ति के साधन, विभिन्न कार्यो के गुण-दोष पाखण्ड, गुण-दोष आदि का वर्णन है।

2.3.1 राज्य की उत्पति विचार

''मनु स्मृति'' के सातवें अध्याय में राज्य संबंधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इसी में राज्य की उत्पति एवं साव्यवी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। मनु ने राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी है। इसमें कई जगह सामाजिक अनुंबध सिद्धान्त का भी आभास दिखता है।

मनु स्पष्ट करता है कि राज्य के पूर्व मानव की स्थिति, कष्टपूर्ण, असहनीय थी। इस कष्ट के निवारण के लिये ईश्वर इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा, कुबेर, यम आदि ने सारभूत अंश से राजा का निर्माण किया । इन आठ उत्कृष्ट तत्वों से मिलकर राजा ने न केवल मानव दुखों को दूर किया वरनउनके कल्याण को सुनिश्चित किया। इन आठ तत्वों से बना राजा विश्व रक्षक, पोषक, समृद्धिकारक होता है। निश्चित रूप से मनु राज्य की उत्पति के दैवीय सिद्धान्त का पोषक है परन्तु उसके इस सिद्धान्त में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की झलक भी दिखती है। राजा सर्वोच्च है, वह ही सभी के कल्याण का माध्यम है। ''मनुस्मृति'' में राजा का यह दायित्व है कि वह इस भूमि पर सभी दिशाओं में शंति और व्यवस्था कायम रखे।

मनु का दैवीय उत्पति का सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त में अंतरः- प्रायः मनु के दैवीय उत्पति के सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त से की जाती है। इन दोनों में काफी अंतर दिखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने दैवीय उत्पति के सिद्धान्त के द्वारा राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की है।

मनु राजा को निरंकुश सत्ता का पक्षधर नहीं है। मनु ने राजा को धर्म, नैतिकता के अधीन रखा है। उसने इस बात पर बल दिया है कि राजा सदा प्रजा का पालन करे तथा उसकी रक्षा करे। राजा को देव का अंश बताया गया परन्तु इसमें उसके गुणों पर योग्यता पर बल दिया गया है न कि उसके अधिकार, शक्तियों एवं मनमानी पर है। यहां पर मोरबानी का कथन प्रासंगिक लगता है कि - ''राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता है। धर्म राजाओं एवं मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा

राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन की क्षमता से सीमित है।

सालेटोर के शब्दों में-'' मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है। यदि एवं अपनी मूर्खता से जनता को सताता है।''

मनु ने स्पष्ट किया है कि राजा सभी नियमों एवं कानूनों से बंधा है। वह विशिष्ट है परन्तु साधारण मनुष्यों की तरह दण्ड भोगता है। उसका कहना है कि यदि किसी अपराध में दण्ड एक पण है तो राजा के भंग करने पर उसे सौ पण दण्ड दिया जाना चाहिए क्योंकि राजा अधिक विद्वान एवं योग्य है। इसके अतिरिक्त राजा का प्रशिक्षण, दिनचर्या उसे निरंकुशता की ओर नहीं जाने देते हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि दैवीय उत्पति सिद्धान्त अपनाये जाने के बावजूद भी मनु का राजा निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी नहीं है। उसके ऊपर कानून, नैतिकता एवं मर्यादा का नियन्त्रण है।

2.3.2 राजा संबंधी विचार

मनु ने राजा को अनेक राजाओं के सारभूत अंश से निर्मित बताया है। राजा ईश्वर से उत्पन्न है अतः उसका अपमान नहीं हो सकता है। राजा से द्वेष करने का अर्थ है कि स्वयं को विनाश की ओर ले जाना। ''मनु स्मृति'' में तो यहां तक लिखा है कि राजा में अनेक देवता प्रवेश करते हैं। अतः वह स्वयं एक देवता बन जाता है। ''मनु स्मृति'' के अनुसार-''ऐसा राजा इन्द्र अथवा विद्युत के समान एश्वर्यकर्त्ता, पवन के समान सबके प्राणावत, प्रिय तथा हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित न्यायधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरूण के समान दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के समान श्रेष्ठ पुरूषों को आनन्द देने वाला तथा कुबेर के समान कोष भरने वाला होना चाहिए।''

मनु ने राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि राजा को प्रजा तथा ब्राहमणों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील रहना चाहिए। राजा को अपने इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। उसे काम, क्रोध आदि से मुक्त रहना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि उसे शिकार, जुआ, दिवाशयन, परनिन्दा, परस्त्री प्रेम, मद्यपान, नाच-गाना, चुगलखोरी, ईर्ष्या, परछिद्रान्वेषण, कटुवचन,धन का अपहरण आदि से बचना चाहिए। मनु स्मृति में राजा के लिये मुख्य निर्देश निम्न हैं-

1.वह शस्त्र धन, धान्य, सेना, जल आदि से परिपूर्ण पर्वतीय दुर्ग में हर प्रकार से सुरक्षित निवास करे ताकि वह शत्रुओं से बच सके।

2.राजा स्वजातीय और सर्वगुण सम्पन्न स्त्री से विवाह करे।

3.राजा समय-समय पर यज्ञ का आयोजन करे और ब्राहमणों को दान करे।

4.प्रजा से कर वसूली ईमानदार एवं योग्य कर्मचारियों के द्वारा किया जाना चाहिए। प्रजा के साथ राजा का संबंध पिता-पुत्र की तरह होना चाहिए।

5.राजा को युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिए। युद्ध में मृत्यु से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

6.विभिन्न राजकीय कार्यों के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाय।

7.राजा को विस्तारवादी नीति को अपनाना चाहिए।

8.अपने सैन्य बल एवं बहादुरी का सदैव प्रदर्शन करना चाहिए।

9.गोपनीय बातों का गोपनीय बनाकर रखना चाहिए। शत्रुओं की योजनाओं को समझने के लिये मजबूत गुप्तचर व्यवस्था रखनी चाहिए।

10.अपने मंत्रियों को सदैव विश्वास में रखना चाहिए।

11.राजा सदैव सर्तक रहे। अविश्वसनीय पर बिल्कुल विश्वास न करे और विश्वसनीय पर पैनी निगाह रखे।

12.राजा को राज्य की रक्षा तथा शत्रु के विनाश के लिये तत्पर रहना चाहिए।

13.राजा को अपने कर्मचारियों, अधिकारियों के आचरण की जांच करते रहना चाहिए। गलत पाने पर उनको पदच्युत कर देना चाहिए।

14.राजा को मृदुभाषी होना चाहिए।

मनु ने राजा की दिनचर्या का भी वर्णन किया है। उसने सम्पूर्ण दिन को तीन भागों में बांटकर प्रत्येक के लिये अलग-अलग कार्य निर्धारित किये हैं। राजा को स्नान एवं ध्यान के बाद ही न्याय का कार्य करना चाहिए। राजकार्यों के संबंध मे अपने मंत्रियों के साथ तथा विदेश मामलों में अपने गुप्तचरों एवं राजदूतों के साथ परामर्श नियमित रूप से करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में राजा के गतिशील जीवन की चर्चा की गई है। इसमें राजा को सदैव सजग और सावधान रहने की आशा की जाती है।

युद्ध एवं संकट के समय राजा के कार्यः- मनु स्मृति में युद्ध के समय राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि युद्ध के समय राजा को भयभीत नहीं होना चाहिए और पूरी तैयारी और मनोबल के साथ शत्रु का संहार करना चाहिए। यह राजा का धर्म है कि वह शत्रु का संहार कर मातृभूमि की रक्षा करें। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि शांति के समय प्रजा के धान्य का छठा-आठवां भाग प्राप्त करे परन्तु युद्ध के समय वह चौथा भाग भी प्राप्त कर सकता है। आपातकाल में राजा द्वारा अतिरिक्त कर लेना कोई पाप नहीं है।

2.3.3 शासन संबंधी विचार

मनु के अनुसार शासन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में सहायक होना है। अतः राजा को अपने सहयोगियों के माध्यम से (मंत्रियों) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि राजा को सदैव लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, जो प्राप्त हो गया है उसे सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए। राजकोष को भरने का सदैव

प्रयास करना चाहिए। समाज के कमजोर एवं सुपात्र लोगों को दान करना चाहिए। राजा को प्रजा के साथ पुत्रवत वर्ताव करना चाहिए तथा राष्ट्रहित में कठोर भी हो जाना चाहिए। राजा को न्यायी, सिद्धान्तप्रिय तथा मातृभूमि से प्रेम करने वाला होना चाहिए।

राजा को राजकार्य में सहायता देने के लिए मंत्रीयों की व्यवस्था है। ''मनु स्मृति'' में ''मंत्री'' शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु सचिव शब्द का प्रयोग कई बार मिलता है। मनु स्मृति में कहा गया है कि अकेले आदमी से सरल काम भी मुश्किल हो जाता है। अतः शासन के जटिल कार्यों के लिये मंत्री नियुक्त किये जाने चाहिए। वे विद्वान, कर्तव्यपरायण, शास्त्रज्ञाता, कुलीन तथा अनुभवी होने चाहिए।

वह शासन कार्य में एकांत में तथा अलग-अलग तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त मत्रंणा करनी चाहिए। मंत्रियों को उनकी योग्यतानुसार कार्य सौंपना चाहिए। यहां पर मनु स्पष्ट करता है -''सूर, दक्ष और कुलीन सदस्य को वित्त विभाग, शुचि आचरण से युक्त व्यक्ति को रत्न एवं खनिज विभाग, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण से शुद्ध तथा चतुर कुलीन व्यक्ति को संधि विग्रह विभाग का अधिष्ठाता बनाया जाना चाहिए। मंत्रिपरिषद के अमात्य नामक व्यक्ति का दण्ड विभाग, सेना विभाग तथा राजा को राष्ट्र एवं कोष अपने अधीन रखना चाहिए। इनमें से वह ब्राह्मणों को विशेष महत्व देने पर बल देता है। उसका मत है कि -'' इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है।'' मनु की मान्यता है कि मत्रंणा अत्यन्त गोपनीय होनी चाहिए। वह इसके लिए मध्याह्न अथवा आधी रात को इसके लिये उपयुक्त मानता है। ''मनु स्मृति'' से यह भी पता चलता है कि उस समय मंत्रीयों का राजा के प्रति उत्तरदायित्व, मत्रंणा की गोपनीयता मिलकर निर्णय लेने की भावना तथा मंत्रीयों में विभागों के बंटवारे की व्यवस्था विकसित हो गई थी। प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिये वह योग्य, अनुभवी तथा ईमानदार कर्मचारी की नियुक्ति का पक्षधर है। भ्रष्ट अधिकारियों पर पैनी निगाह रखते हुए उनके विरूद्ध कठोर कार्यवाही करने चाहिए। कर्मचारियों एवं महत्वपूर्ण पदाधिकारियों पर नजर रखने के लिये गुप्तचर व्यवस्था को प्रभावी बनाया जाना चाहिए। राजदूत के संबंध में मनु ने स्पष्ट किया है कि निर्भीक प्रकृति के, सुवक्ता,देश काल पहचानने वाले, हृदय एवं मनोभाव को पहचानने वाले, विविध लिपियों के ज्ञाता तथा विश्वासपात्र को राजदूत बनाया जाना चाहिए।

2.3.4 प्रादेशिक प्रशासन संबंधी विचार

मनु ने प्रशसनिक व्यवस्था संबंधी निर्देश अपनी पुस्तक ''मनु स्मृति'' में दिये है। मनु का स्पष्ट मत है कि राजा दो, तीन, पांच और सौ गांवों के बीच अपना राज स्थान स्थापित करें तथा यहां शन्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये योग्य कर्मचारी नियुक्त करे। ''मनु स्मृति'' में राज्य को क्षेत्रीय आधार पर पुर तथा राष्ट्र को विभाजित किया गया है। पुर या दुर्ग से आशय राजधानी से है जो चारों ओर से सुरक्षित सुविधाओं से पूर्ण तथा स्वस्थ भू-भाग में बसाई जानी चाहिए। शासन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिये राष्ट्र को छोटी-बड़ी बस्तियों में विभाजित करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' मे

स्पष्ट रूप से एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम तथा एक हजार ग्रामों की अलग-अलग संगठनों की व्यवथा है। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई है इसके अधिकारी को ग्रामिक कहा जाता है। मनु के अनुसार ग्रामिक का मुख्य कार्य शन्ति और व्यवस्था बनाये रखना है। इसको ही राजस्व एकत्र कर 10 ग्रामों के अधिकारी के पास भेजना है। 10 ग्रामों के अधिकारी को दशग्रामपति कहा जाता है। बीस ग्राम के अधिकारी को विशंती, सौ ग्रामों के अधिकारी को शती, तथा एक हजार ग्रामों के पति को सहस्त्रपति कहा गया है। इन सभी अधिकारियों के कार्यो के निरीक्षण उच्च्च अधिकारी करता है। प्रत्येक अधिकारी के वेतन का भी उल्लेख मनु स्मृति में मिलता है। ग्रामों के अतिरिक्त नगरों के प्रशासन की भी व्यवस्था की गई है। नगर अधिकारी को स्वार्थ चिन्तक नाम दिया गया है।

2.3.5 विधायिका (परिषद)

मनु ने कार्यपालिका के साथ ही विधायिका अथवा परिषद का उल्लेख किया है। परिषद का अर्थ विधायिका से लिया जाता है। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि परिषद में तीन से दस तक सदस्य होने चाहिए। इन सदस्यों में से तीन वेदों के जानकार होने चाहिए। वेदों की जानकारी के साथ राष्ट्रीय नीतियों को क्रियान्वित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यहां पर मोरवानी का कथन महत्वपूर्ण है- ''परिषद ऐसे विद्वान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होने वेदों, टीकाओं का अध्ययन किया हो जो अपने तर्को के संबंध में प्रमाण देने में सक्षम हो।''

मनु स्मृति में कुल, जाति, श्रेणी और जनपद नामक जनता की संघीय संस्था का भी उल्लेख किया। इसमें यह भी बताया गया है कि इन संस्थाओं द्वारा बनाये गये नियमों को वह स्वीकृति प्रदान करे।

2.3.6 कानून-न्याय एवं दण्ड व्यवस्था

मनु स्मृति में सदैव राजा के न्यायपूर्ण आचरण पर बल दिया गया है। न्याय ही दण्ड का आधार है। मनु का यह मानना था कि दण्ड के भय के कारण ही लोग स्थिर रहते है। मनु का कहना है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह देश, काल, अपराध की गुणता आदि पर विचार करके ही अपराधियों को दण्ड देना चाहिए। मनु का मानना है कि राजा दण्ड के भय से ही शासन करता है। यदि राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो बलवान लोग दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगेगें जैसे मछलियों को लोहे की छड़ में छेदकर पकाया जाता है। राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह राज्य में न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करें। राजा को सदैव तत्पर रहते हुए कुल, जाति, गण और जनपद में जो भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा उन्हें यथोचित दण्ड की व्यवस्था करता है। मनु ने दण्ड के चार प्रकार बताये है-

1. घिग्दण्ड
2. वाग्दण्ड
3. धनदण्ड
4. वधदण्ड

मनु ने दण्ड की महत्ता पर बहुत अधिक बल दिया है। उसकी मान्यता है कि दण्ड के अभाव में राज्य एक क्षण भी नहीं चल सकता है। मनु दण्ड को सामाजिक जीवन का आधार मानता है। वह दण्ड के महत्व को निम्न तर्कों के द्वारा सिद्ध करता है-

1.दण्ड सभी मनुष्यों का रक्षक होता है। यही कारण है कि सभी उसका पालन करते है।

2.यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान होता है।

3.दण्ड की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की रक्षा एवं देखभाल करता है।

4.दण्ड राज्य की संपति की रक्षा तथा वृद्धि के लिये अनिवार्य है।

दण्ड के संबंध में मनु स्पष्ट करता है कि यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान तत्व है। अतः दण्ड देने वाला व्यक्ति राज्य में सर्वोच्च होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यक्त दण्ड संबंधी विचार को ही सम्प्रभुता का आधार कहा जाता है।

कानून अथवा विधि संबंधी विचार

मनु ने कानून निर्माणके लिये परिषद अथवा विधायिका का उल्लेख किया है। परिषद के सन्दर्भ में उसका स्पष्ट मत है कि इसका निर्धारण बौद्धिक क्षमता से होना चाहिए न कि संख्या के आधार पर। उसने स्पष्ट किया है कि इसके दस सदस्यों में तीन वेद के ज्ञाता, एक निर्वक्ता, एक भीमांसाकर, एक निसक्त, एक धर्म शास्त्र का कहने वाला तथा तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के होने चाहिए। मनु यह भी स्पष्ट करता है कि यदि ऐसे दस व्यक्ति न मिले तो योग्य वेदों के जानकार तीन व्यक्ति ही काफी है।

न्याय संबंधी विचार

मनु स्मृति में न्याय व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया जाता है। मनु के अनुसार सामान्यतः दो प्रकार के विवाद होते हैं - हिंसा के कारण उत्पन्न विवाद तथा धन संबंधी विवाद। मनु का मानना है कि राजा को स्वंय विवादों का समाधान करना चाहिए। यदि वह स्वंय न कर पाये तो योग्य ब्राहमण को नियुक्त किया जाना चाहिए। राजा द्वारा नियुक्त ब्राहमण भी ऐसे तीन अन्य व्यक्तियों के साथ न्यायालय में न्याय करना चाहिए। मनु अपेक्षा करता है कि सभी विवादों का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता से करना चाहिए। यदि सत्य असत्य से पराजित होती है तो उसके सदस्य भी पाप से नष्ट हो जाते है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि न्यायधीश वेदों का जानकार ब्राहमण व्यक्ति को ही होना चाहिए। शूद्रों को यह महत्वपूर्ण दायित्व नहीं देना चाहिए। न्यायधीशों को शारीरिक भाषा, मुख संकेत तथा मनोविज्ञान समझने की क्षमता रखनी चाहिए। जहां पर निर्णय हो उस स्थान का सभा कहा जाता है। सभा के न्यायधीश को सत्य की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए। सत्यता की जांच करने के लिये लिखित युक्ति तथा साक्षी आदि का परीक्षण करना चाहिए। मनु ने प्रमाणों को भी दो भागों में बांटा है-

1. मानुष प्रमाण
2. दिव्य प्रमाण

मानुष प्रमाणः- मनु ने मानुष प्रमाण को तीन भागों में बांटा है। ये मुख्य रूप से लिखित, युक्ति तथा साक्षी होते है। मनु आगे स्पष्ट करते है कि लिखित प्रमाणों को सर्वाधिक महत्व होता है। इसमें भी यह देखना चाहिए कि बलपूर्वक तो कोई लिखित प्रमाण तैयार नहीं कराया गया है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि झूठ बोलने वाले, सेवक, शत्रु, सन्यासी, कोढ़ी के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिए। साक्ष्य से पूर्व शपथ का विधान रखना चाहिए। मिथ्या साक्ष्य देने वालों को कठोर दण्ड देना चाहिए। स्त्री के लिये स्त्री साक्षी को स्वीकार करना चाहिए। गवाह के रूप में ब्राह्मण गवाह को विशेष महत्व देना चाहिए। युक्ति प्रमाण के संबंध में मनु कहता है कि यदि किसी व्यक्ति की किसी चीज को कोई 10 वर्ष से अधिक समय से भोग कर रहा है तो वह वस्तु उसी की हो जायेगी। इस संबंध में यह जरूर कहता है कि संबंधित मामला बालक तथा पागल का नहीं होना चाहिए।

दिव्य प्रमाणः- दिव्य प्रमाण में शपथ लेने, जल में डूबना, जलती अग्नि को ग्रहण करना आदि सम्मिलित किये गये है। यह प्रमाण तभी प्रासंगिक होते है जब मानुष प्रमाण विफल हो जाते है। मनु में न्यायिक पुनरावलोकन के तत्व भी मिलते है। वह यह स्पष्ट करते है कि यदि राजा को लगे कि न्याय गलत हो गया है तो वह विवाद का पुनः अवलोकन कर सकता है।

2.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार

करारोपण के संबंध में भी मनुस्मृति में व्यापक व्यवस्था की गई है। मनु भी प्रजा के साथ पुत्रवत संबंध रखने का हिमायती था। उसकी मान्यता थी कि प्रजा से थोड़ा-2 कर ही लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कर न लेने से राजकोष खाली होता है और राज्य कमजोर होता है वही अत्याधिक, दमनकारी कर नीति से प्रजा की जड़ तथा विश्वास घटता है। कर का निर्धारण सदैव न्यायपूर्ण होना चाहिए। वह कहता है कि कर लगाने का उद्देश्य विलासिता नहीं वरनजनकल्याण होना चाहिए।

मनु स्मृति में कर की मात्रा का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। मनु के अनुसार पशु एवं स्वर्ण का 50 वां भाग, धान्य का छठां भाग, आठवा और बारहवां भाग लेना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि अत्याधिक वृद्ध, लंगड़े तथा अंधों से कर नहीं लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कारीगरों, श्रमिकों, बोझा ढोने वालों से एक महीने में एक दिन का काम लेना चाहिए। प्रजा से कर के रूप में ली जाने वाली सामग्री को उसने बलि कहा। व्यापारियों से लिया जाने वाला कर शुल्क कहलाया। किसी व्यक्ति से लिया गया आर्थिक दण्ड अथवा जुर्माना दण्ड कहलाया। उसने इसके अतिरिक्त संतरण कर, पशुकर, आयकर का भी उल्लेख किया है।

2.3.8 विदेश नीति संबंधी विचार

मनु ने विदेश नीति संबंधी दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

1.मण्डल सिद्धान्तः- मनु के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए। उसे सदैव अपनी सीमाओं के विस्तार के संबंध में सोचना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजा को सदैव मण्डल सिद्धान्त

के अनुसार आचरण करना चाहिए। मनु के मण्डल सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु ''विजीगीषु राजा'' होता है।

मनु ने राज्य मण्डल की चार मूल प्रकृतियां बतायी है। जो राजा विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहता हो, विजिगीषु तथा उसके विरोधियों में संधि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो वह राजा मध्यम है। जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओं के मध्य एकमत होने पर अनुग्रह करने तथा विरोध करने पर निग्रह करने में समर्थ हो तो वह राजा उदासीन है। शत्रु राजा तीन प्रकार के होते है- सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु , राज्य की भूमि के पार्श्ववर्ती शत्रु।

मनु स्पष्ट करता है कि विजिगीषु राजा का चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग-अलग या मिलकर साम, दाम, दण्ड, भेद से उनको अपने वश में करे। राजा को सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि वह शत्रुओं की कमियों को पता कर अपनी तैयारी करे। साथ ही वह सम्पूर्ण तैयारी को गोपनीय बनाकर रखने पर बल देता है।

2.षाड़गुण्य नीतिः- मनु की यह मान्यता है कि राजा को छः नीतियों का पालन करते हुए न केवल अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए वरनसीमाओं का विस्तार भी करना चाहिएं वह साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा राष्ट्रहित में वृद्धि पर बल देता है। इसके लिये उसे निम्न छः नीतियों को अपनाना चाहिए-

1. संधि
2. विग्रह
3. यान
4. आसन
5. द्वैधीभाव
6. सश्रंय

इन छः नीतियों का पालन मौके, परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। राजा को ऐसे सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए जिससे शत्रु मध्यम तथा उदासीन राजाओं की संख्या न बढ़ सके। इनकी संख्या बढ़ने से मित्र के शत्रु होने तथा पराधीन होने की संभावना बढ़ जाती है।

मनु की मान्यता है कि शंतिकाल में राजा को राजदूत के माध्यम से संबंध संचालन एवं मित्रता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। राजदूत के ऊपर ही दो राज्यों के बीच अच्छे संबंध बनाने की जिम्मेदारी होती है। अतः राजदूत की नियुक्ति में योग्यता, शास्त्रों का ज्ञान, वाकपटुता तथा देश प्रेम जैसे गुणों पर ध्यान देना चाहिए। मनु के शब्दों में - ''राजा को साम, दाम, दण्ड, भेद का नीति का प्रयोग करके अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए। इस कार्य के लिये युद्ध को अंतिम विकल्प के रूप में प्रयोग में लाना चाहिए।

मनु का षाड़गुण्य नीति का प्रावधान आपातकाल के लिये किया गया है। सामान्य काल में राजा से अपेक्षा है कि वह कूटनीति के द्वारा हित संवर्धन करे। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि विजेता राजा द्वारा पराजित राजा के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए। विजेता राजा के द्वारा पराजित लोगों के रीति-रिवाज, मर्यादाओं, परम्पराओं का सम्मान किया जाना चाहिए। किसी योग्य व्यक्ति को वहां का राजा नियुक्त कर देना चाहिए। उससे संधि कर उसको मित्र बना लेना चाहिए।

2.4 मनु और कौटिल्य के बीच तुलना

मनु और कौटिल्य प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक थे। उनके विचारों में अनेक बिन्दुओं पर समानता तथा अनेक बिन्दुओं पर असमानता दिखायी पड़ती है। दोनों ही विद्वान प्राचीन भारतीय परम्पराओं रीतियों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। दोनों ही ब्राह्मणों को ऊंचा स्थान एवं कम सजा का प्रावधान की व्यवस्था करते है। कौटिल्य सृष्टि के सृजन के सम्बन्ध में स्पष्ट मत नहीं रखता परन्तु मनु का मत है कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की उत्पति उनकी भुजाओं से, वैश्यों की उत्पति उनके पेट से हुई है। दोनों मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष मानते है। दोनों ही दण्ड नीति को स्वीकार करते है। मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है। राज्य की उत्पति के संबंध में दोनों के विचार समान है। मनु दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को तो मानता है परन्तु उसमें समझौते की झलक मिलती है। कौटिल्य भी उत्पति के संबंध में समझौतावादी सिद्धान्त स्वीकार करता है। दोनों ही सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory), को स्वीकार करते हुए राज्य रूपी शरीर के सात अंश बताये है। इनमें स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र प्रमुख हैं। दोनों ही राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन माना है। वे राज्य को सर्व सत्ताधारी बताते है। दोनों की राज्य का समान लक्ष्य मानते हैं। दोनों ने प्रशासन में मंत्रियों की भूमिका को स्वीकार किया है। मंत्रियों की योग्यता के संबंध में दोनों के विचार समान है। कौटिल्य ने राजनीतिक व्यवस्था पर अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में व्यापक व्याख्या की परन्तु मनु ने इतनी व्यापक व्याख्या नहीं की। दोनों ने दण्ड व्यवस्था में ब्राह्मणों को कम दण्ड देने की वकालत की है। कर व्यवस्था पर दोनों के विचार समान है। वे कर जन कल्याण के लिये लगाने पर बल देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों अथवा विदेश नीति के संचालन में दोनों ही षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

2.5 मूल्यांकन

मनु को प्रथम मानव माना जाता है। उनका ग्रन्थ ''मनुस्मृति'' हिन्दू धर्मशास्त्र की सर्वाधिक प्राचीन रचना मानी जाती है। उन्होंने राज्य, शासन, दण्ड, न्याय, परराष्ट्र नीति पर महत्वपूर्ण विचार दिये। उनका आदर्श राजा प्लेटो के दार्शनिक राजा से अधिक महत्वपूर्ण है। मनु ने राजतंत्र का समर्थन किया परन्तु उसका राजा निरंकुश नहीं है। मनु ने सम्प्रभुता, राजधर्म, प्रशासनिक व्यवस्था, कर व्यवस्था पर महत्वपूर्ण विचार दिये है। राजा पर नियन्त्रण तथा जनकल्याणकारी विचार एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। वह मानवतावादी है। उनके विचारों केन्द्र में मानव है।

सामाजिक व्यवस्था को लेकर भी बहुत उत्कृष्ट विचार दिये। वे धर्म, वर्ण व्यवस्था, आश्रम पर महत्वपूर्ण विचार रखते है। वे सभी के विकास एवं कल्याण पर बल देते थे।

मनु के शासन संबंधी विचार बहुत महत्वपूर्ण है। वे अराजकता को समाप्त करने तथा व्यवस्था स्थापित करने पर बल दिया। उन्होनें दण्ड एवं न्यायव्यवस्था पर अत्याधिक बल दिया। उनका राज के कार्यों के संबंध में दृष्टिकोण जनकल्याणकारी है। उनका राजा एक आदर्श राजा है। इसके बावजूद वह व्यावहारिक भी है। वह धूर्त एवं निरंकुश नहीं है। मनु द्वारा प्रतिपादित मण्डल सिद्धान्त तथा षाड़गुण्य नीति आज के समय में भी प्रांसगिक है। आज दुनिया के देश विदेश नीति का आधार इन्हीं सिद्धान्तों को बनाते हैं। संधि, विग्रह, यान, युद्ध संबंधी विचार मनु की अमूल्य देन है जो कि उन्हें राजनीति शास्त्रों में अमर कर देता है।

अभ्यास प्रश्न -

1. मनु की रचना का क्या नाम था?
2. मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पति का सिद्धान्त क्या है?
3. मनु किस प्रकार की शासन प्रणाली का समर्थक था?
4. मनु वर्ण व्यवस्था का समर्थक था। सत्य/असत्य
5. मनु द्वारा प्रतिपादित षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त किस से सम्बन्धित है?

2.6 सारांश

मनु प्राचीन भारतीय चिन्तन के मुख्य विचारक है। उन्होंने अपनी कृति ''मनु स्मृति'' में राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये। मनु ने राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को अपनाया। उनका दैवीय उत्पति का सिद्धान्त में समझौतावादी तत्व मिलते हैं। मनु ने राजतन्त्र का समर्थन किया परन्तु उनका शासक नियन्त्रणविहीन न होकर संयमित है। उसे आशा की जाती है कि वह कानूनों का पालन करे तथा रीतियों एंव परम्पराओं से संयमित है। राज्य के संबंध में मनु राज्य रूपी शरीर की बात करता है। वह राज्य के सात अंगों का साप्तांग सिद्धान्त देता है। मनु ने इन अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। प्रशासन को मनु ने कई भागों में बांटा है। मनु दण्ड एवं न्याय की व्यवस्था का भी वर्णन करता है। उसका दण्ड संबंधी सिद्धान्त बहुत व्यावहारिक एवं यर्थातवादी है। न्याय संबंधी विचार बहुत व्यापक है जिसमें न्याय के विभिन्न पहलूओं का व्यापक वर्णन किया गया है। मनु ने विदेश नीति के संचालन में मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति को दिया है। इसमें विभिन्न परिस्थितियों में राजा द्वारा अलग-अलग नीतियां अपनाने पर बल दिया गया है। यह विदेश नीति के निर्धारण का एक व्यावहारिक सिद्धान्त है। यह बदलते विश्व परिदृश्य में बदलती नीति द्वारा राष्ट्रहित के संवर्धन का एक यर्थातवादी समाधान है जो आज के भूमण्डलीकरण के दौर में भी प्रासंगिक है। मनु द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त सिद्धान्त बहुत प्रांसगिक है जो मनु को अमर बना देती है।

2.7 शब्दावली

सावयवी सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त में राज्य एक जीवधारी मानते हुए उसके विभिन्न अंगों की कल्पना की जाती है।

दैवीय उत्पतिः- इसके अन्तर्गत राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी जाती है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य को ईश्वर ने बनाया है।

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.मनु स्मृति , 2.दैवीय उत्पति का सिद्धान्त, 3.प्रजातन्त्र, 4. सत्य, 5.विदेश नीति के संचालन से

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या

2.समस्त्रे आर0, कौटिल्यस का अर्थशास्त्र

3.परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें

4.वर्मा, वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया

2.श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

2.11निबधात्मक प्रश्नः-

1.मनु के राजनैतिक विचारों पर एक निबन्ध लिखिये।

2.मनु के विदेश नीति संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

3.मनु के राजनैतिक विचारों का वर्तमान में प्रासगिकता स्पष्ट करते हुए एक निबंध लिखिये।

4.मनु के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

इकाई -3: कौटिल्य

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। साधारण ब्राहमण परिवार में जन्म के बावजूद अपनी योग्यता,मेधा,क्षमता तथा साहस से न केवल अपना मुकाम स्थापित किया वरनअपनी संगठन क्षमता, कूटनीति, शौर्य से नंदवंश का नाश किया। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से नंदवंश के अत्याचार से भारतीय जनमानस को मुक्त कराया साथ ही चन्द्रगुप्त मौर्य को स्थापित करते हुए भारतीय राजनीतिक एकीकरण के द्वारा एक सशक्त राजनीतिक सत्ता की स्थापना की।

विद्वानों का मत था कि कौटिल्य का जन्म 400 ई0 पूर्व तक्षशिला के एक गरीब परिवार में हुआ था। उनको कई नामों से पुकारा जाता था जिसमें विष्णुगुप्त, चाणक्य, कौटिल्य प्रमुख थें। कौटिल्य ने नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा समाप्त होने के साथ वह वहीं प्राध्यापक हो गये। समा्रट महानंद द्वारा सभा में किये गये अपमान ने उसे न केवल झकझोर दिया वरनउसे सक्रिय राजनीति में धकेल दिया। नन्द बंश के नाश होने के बाद मौर्य वंश की स्थापना हुई। सिकन्दर के जाने के बाद कौटिल्य ने पंजाब के राजाओं से मैत्री कर यूनानियों को देश से निकाल दिया।

भारतीय राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने अपनी कृति ‘‘अर्थशास्त्र’’ के द्वारा शासन संचालन , राजा के अधिकार , कर्तव्य का व्यापक चित्रण किया है। उसने प्रजा हित के लिये राजा को कठोर परिश्रम एवं कड़े नियम बनाने की वकालत की। वह प्राचीन भारत का संभवतः पहला विद्वान था जिसने राजनीतिक सिद्धान्तों का वर्णन किया। कौटिल्य के द्वारा प्रस्तुत साप्तांग सिद्धान्त ,मण्डल सिद्धान्त तथा षाडगुण्य सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र को उसकी अमूल्य देन है। उन्होंने अपने ग्रन्थ ‘‘अर्थ शास्त्र’’ में इन सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उनके ग्रन्थ में प्रन्द्रह अधिकरण एक सौ अस्सी प्रकरण , एक सौ पचास अध्याय तथा छः हजार श्लोक है। इसमें राजनीति के अतिरिक्त , दर्शन,शिक्षाशास्त्रों, नीति शास्त्र, सैन्य शास्त्र, रसायन शास्त्र , इंजीनियरिंग आदि का वर्णन किया गया है।

3.2 उद्देश्य

निम्नलिखित है

1.प्राचीन भारतीय चिन्तन के गौरव से विद्यार्थियों को परीचित कराना।

2.इसके द्वारा हम कौटिल्य के विभिन्न सिद्धान्तों को जानने का प्रयास करेंगें।

3.कौटिल्य के विचारों के माध्यम से भारत के राजनीतिक एकीकरण में उनके योगदान को जानने का प्रयास करेगें।4.कौटिल्य के विचारों के अध्ययन से आदर्श राजा के कार्य, उसके अधिकार तथा उस पर स्थापित नियन्त्रण को समझने का प्रयास करेंगे ।5.कौटिल्य के अध्ययन के द्वारा राजनीति के व्यवहारवादी पक्ष (यथार्थवाद) को जानने का प्रयास करेगें ।

3.3 राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से मिलते - जुलते विचार दिये है। उनका मानना है कि राज्य से पूर्व समाज में अराजकता, मत्स्य न्याय अथवा जिसकी लाठी उसकी भैंस की तरह की स्थिति थी। इस स्थिति में सभी परेशान थे। अपने जीवन, संपति की रक्षा के लिए लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया। शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए लोगों ने उपज का 1/6 भाग कर के रूप में देने लगे। व्यापार में 1/10 भाग तथा सोने से होने वाले आय का भी कुछ भाग प्राप्त करने लगे।

कौटिल्य अपनी पुस्तक ‘‘ अर्थशास्त्र ’’ में स्पष्ट करता है कि राजा जनकल्याण में कार्य करेगा तथा लोग कोष में अपना अंश तभी करेंगे जब उनकी सुरक्षा, कल्याण आदि राजा द्वारा सुनिश्चित किया जायेगा। इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति में जन स्वीकृति का विचार दिया है।

कौटिल्य का राज्य की उत्पत्ति का विचार समझौतावादी विचाराकों हाव्स, लाक तथा रूसों से मेल खाता है। उनका मानव भी स्वार्थी, झगड़ालू है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दूसरे को नुकसान पहुँचाने में नहीं हिकचता है। मानव जीवन पर आये संकट, ने सभी को मिलकर व्यवस्था सुनिश्चित करने पर विवश किया।

कौटिल्य ने राजा पर जन कल्याण का अंकुश लगाया है। उसने आशा की है कि जन स्वीकृति से अस्तित्व में आया राजा अपने को बनाये रखने के लिये सदैव प्रयासरत रहता है। कौटिल्य ने ‘‘राजकोष’’ पर जनता का नियन्त्रण माना है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि बिना जन स्वीकृति के नया कर नहीं लगाया जा सकता है। वह राजा को पूर्ण आजादी नहीं देता वरनउस पर जनस्वीकृति का बंधन लगाता है।

3.3.1 राज्य के कार्य एवं स्वरूप

कौटिल्य राज्य के स्वरूप के संबंध में साव्ययी रूप में विचार रखते है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि राज्य सात अंगों जैसे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र से मिलकर बना है। उसकी मान्यता है कि यह आवश्यक अंग है। कौटिल्य के साव्ययी विचारों से पूर्व की भारतीय चिन्तन में इसकी झलक मिलती है। ऋग्वेद में जहां इसकी झलक मिलती है वहीं यर्जुवेद में कहा गया है कि विराट पुरूष की पीठ राष्ट्र है और उसकी उदर पीठ, जांघ तथा घुटने आदि उसकी प्रजा है।

कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत सावयवी सिद्धान्त पूर्णतः स्पष्ट और मौलिक है। इसका उद्भव ऋग्वेद के पुरूष उक्ति में मिलता है। कौटिल्य ने अपने सात अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्व दिया है। राजा के बाद मंत्री या अमात्य है जो उसे परामर्श देते है। उनकी सहायता से ही राज्य का संचालन संभव हो पाता है। दुर्ग राज्य की सुरक्षा का कवच है। जनपद अथवा भू-भाग राज्य के अस्तित्व का भैतिक आधार है। जन कल्याण के लिए भरा हुआ कोष आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दण्ड भी राज्य का आवश्यक अंग है क्योंकि बिना भय के कानून का पालन सुनिश्चित कराना असंभव है। कौटिल्य इसमें मित्र को

भी स्थान देता है। आधुनिक समय में जनसंख्या, निश्चित भू-भाग , सरकार तथा सम्प्रभुता को राज्य का अंग माना जाता है परन्तु कौटिल्य ने इसे साथ मानते हुए इसमें कोष, दुर्ग मित्र को जोड़ा है।
कौटिल्य ने राज्य को पुलिस राज्य नहीं माना है। वह राज्य के व्यापक कार्यों की वकालत करता है। उसका मानना है कि राज्य को व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता करना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि इस परम् उद्देश्य को पाने के लिये राज्य को सभी यत्न करने चाहिए। राज्य के द्वारा नागरिकों में देशभक्ति और कर्तव्य परायणता भरने के प्रयास करने चाहिए। उसका मानना था कि राज्य द्वारा जन कल्याण के सभी कार्य करने चाहिए। कौटिल्य नागरिक सुरक्षा, जनकल्याण को आवश्यक मानता था। वह विदेशी राष्ट्रों पर पैनी नजर रखने की भी वकालत करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्न है-

1.राज्य की सुरक्षा करना।
2.शांति और व्यवस्था बनाये रखना।
3.प्रजा की वाह्य और आंतरिक संकटों से रक्षा करना।
4.देश की सीमाओं का विस्तार करना।
5.कृषि को उन्नत करने का सदैव प्रयत्न करना।
6.पशुओं का संरक्षण और संर्वद्धन करने का प्रयत्न करना।
7.व्यापार को बढ़ावा देना।
8.वनों का विस्तार तथा कल-कारखानों का प्रसार करना।
9.सामाजिक, शैक्षणिक कार्यों को करना।

राजा एवं सेना संबंधी कार्यः- कौटिल्य राज्य के सात अंगों में राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। वह शासन की धुरी के समान है। वह शासन को प्रभावी बनाने तथा जनकल्याण को सुनिश्चत करने का माध्यम है।

राजा के गुणः- कौटिल्य ने राजा के आवश्यक गुणों का विस्तृत विवरण दिया है। उसके अनुसार राजा को कुलीन, स्वस्थ, शास्त्र का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। उसे अभिगामी गुणों, प्रज्ञा गुणों, उत्साह गुणों तथा आत्म सयंम गुणों से युक्त होना चाहिए। अभिगामी गुणों अर्न्तगत राजा की कुलीनता, धैर्य, दूरदर्शीता, सत्यवादिता, आदि आती है। इसके अर्न्तगत राजा से यह आशा की जाती है कि वह उचित , सत्य तथा शास्त्रों के अनुरूप चीजों को ग्रहण करेगा। उत्साह गुण में राजा में निर्भीकता, तेजी एवं दक्षता से कार्य करने की आशा रखी जाती है। आत्म संयत गुणों में राजा से संयमी, बलवान, मृदुभाषी तथा उदार होने की आशा की जाती है।

कौटिल्य का मत है कि शिक्षा एवं कठोर अभ्यास से इन गुणों का विकास किया जा सकता है। कौटिल्य का कहना था-‘‘ जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल भी बिना किसी युद्ध के अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है।’’

कौटिल्य ने शिक्षा पर बहुत महत्व दिया है। उन्होंने शिक्षा की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार मुण्डन संस्कार के बाद वर्णमाला और अंकमाला का अभ्यास कराया जाय। उपनयन के बाद उसे क्रयी, वार्त, दण्ड नीति का ज्ञान कराया जाए। वर्ता के अध्ययन से राजा की आर्थिक समस्याओं को समझने की क्षमता विकसित होती है। दण्ड नीति में योग्य राजा अपने राज्य मे शांति और व्यवस्था लागू कर जनकल्याण सुनिश्चत करता है। आन्वीक्षकी विद्या राजा की बुद्धि को तीव्र करती है। यह लोक उपकार करती है। इसे राजा सुख-दुख में स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता है।

राजा की दिनचर्याः-कौटिल्य के चिन्तन में राजा का प्रमुख स्थान है। राजा को सदैव सजग, सर्तक रहना चाहिए। राजकर्म को ठीक प्रकार से करने के लिए वह दिन-रात को आठ भागों में बांट देता है। वह प्रत्येक भाग को डेढ़ घंटे का होगा। वह दिन के प्रथम भाग में राजा के द्वारा रक्षा तथा पिछले दिनों के आय-व्यय को देखने पर बल देता है। दूसरे भाग में वह जनता, नागरिकों से मिले तथा उनका कल्याण सुनिश्चित करने पर बल देता है। तीसरे भाग को स्नान, भोजन तथा स्वध्याय के लिए सुरक्षित करता है। चौथे भाग में कर विभाग का निरीक्षण पर बल देता है। पांचवा भाग मंत्रीपरिषद से परामर्श करने के लिए सुरक्षित है। सातवें भाग में स्वेच्छा से वह कोई कार्य कर सकता है। आठवां भाग हाथी, घोड़े, सेना के निरीक्षण के लिये आरक्षित है।

इसी प्रकार रात्रि को आठ भागों में विभाजित किया गया है। रात्रि के पहले भाग में गुप्तचरों को देखे। दूसरे भाग में स्नान, भोजन स्वध्याय तथा तीसरे भाग में संगीत सुनने के लिए निश्चित करता है। चौथा , पांचवा भाग शयन के लिए निश्चित है। छठे भाग में जागकर दिन में संपादित किये जाने वाले कार्य पर विचार करें। सातवें भाग में गुप्तमंत्रणा करें तथा गुप्तचरों को यथा स्थान भेजें। आठवें भाग में आचार्य , पुरोहित आदि से आाशीर्वाद ग्रहण करें। इसी समय वैद्य, रसोइया, ज्योतिष से परामर्श करें। इन सबसे निवृत होने के बाद दान दक्षिणा देने के बाद वह दरबार में प्रवेश करें। कौटिल्य वंशानुगत राजतंत्र का समर्थक था। वह राजा के बाद ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी सौंपने का पक्षधर था। यहां पर कौटिल्य योग्य उत्तराधिकारी का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि यदि योग्य उत्तराधिकारी न हो तो प्रधानमंत्री के द्वारा योग्य राजकन्या को उत्तराधिकारी बनाना चाहिए।

राजा के प्रमुख कार्यः- कौटिल्य ने राजा के निम्नलिखित प्रमुख कार्य बताये हैः-

1.प्रजा का कल्याण के लिए प्रयास करना।

2.धर्म का पालन तथा रक्षा करना।

3.शांति और व्यवस्था बनाये रखना।

4.प्रशासनिक कार्यो हेतु योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करना।

5.विधि निर्माण करना।

6.न्यायिक कार्य करना।

7.दण्ड की व्यवस्था करना।

8.आर्थिक एवं वाणिज्यिक कार्यों की निगरानी करना।

9.राजकोष की अभिवृद्धि के उपाय करना।

10.युद्ध के लिए सदैव तैयार रहना।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कौटिल्य राजा को व्यापक शक्तियां प्रदान करता है परन्तु वह सामाजिक, धार्मिक नियमों से बंधा हुआ है। प्रो0 अल्तेकर का स्पष्ट मत है कि ''कौटिल्य का राजा बहुत लौकिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक बंधनों से मर्यादित है।''

प्राचीन समय से भारतीय चिन्तन में राज्य के साव्यय रूप का उल्लेख मिलता है। इस सिद्धान्त में राज्य की कल्पना एक जीवित शरीर की तरह की जाती है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि जिस प्रकार मानव शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बना है उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर भी विभिन्न अंगों से मिलकर बना है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में राज्य की कल्पना विराट पुरूष की तरह की गई है। कौटिल्य प्राचीन भारत का पहला विद्वान था जिसने राज्य के संबंध में इतने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य ने राज्य संबंधी अपने विचार में राज्य को सात अंगों का मिश्रण बताया। उनकी मान्यता थी कि राज्य रूपी शरीर सात अंगों से मिलकर बना है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य का राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त साप्तांग सिद्धान्त कहलाया। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' के छठे अधिकरण के पहले अध्याय में राज्य के सात अंगों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सात अंग निम्न हैः-

1.स्वामी अथवा राजा 2.अमात्य 3.जनपद 4.दुर्ग 5.कोष 6.दंड, 7. मित्र

1.स्वामी अथवा राजा:- कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में स्वामी अथवा राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य की सफलता राजा पर निर्भर करती है। कौटिल्य को भारत में प्राचीन समय में पाये जाने वाले गणतन्त्रों का पर्याप्त ज्ञान था परन्तु वह योग्य कल्याणकारी राजा का प्रबल समर्थक था। कतिपय यही कारण था कि उसने राजा की योग्यता, गुणों तथा नीतियों का व्यापक उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है। बी0पी0 सिंह का स्पष्ट मत है कि ''कौटिल्य की शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन को गति प्रदान करने में राजा का एकमात्र स्थान है।''

कौटिल्य राजा में आदर्श रूप देखता है। उसका राजा सर्वगुण सम्पन्न एक आदर्श व्यक्ति है। कौटिल्य के राजा संबंधी विचार प्लेटो के आदर्श राजा या दार्शनिक शासक (Philosopher King) के समान है। वह स्पष्ट करता है कि राजा ढ़ृड़ निश्चयी, विचारशील, सत्यवादी , वृद्धों के प्रति सम्मान का भाव रखने वाला, विवेकपूर्ण,दूरदर्शी उत्साही तथा युद्ध में चतुर होना चाहिए। उसमें कठिन समय में साहस न छोड़ने तथा समस्या को पकड़ने की क्षमता होनी चाहिए। वह राजा में राजकोष की वृद्धि की क्षमता रखने की क्षमता होना आवश्यक मानता है।

कौटिल्य राजा में आध्यात्मिक एवं नैतिक गुण को भी आवश्यक मानता है। उसका मानना है कि कुछ गुण स्वभाव से होते है परन्तु कुछ गुण अभ्यास, अध्ययन से विकसित किये जा सकते है। कतिपय यहीं कारण है कि वह राजा की शिक्षा पर बहुत बल देता है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि '' जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी जल्द नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल बिना किसी युद्ध के नष्ट हो जाते है।'' कौटिल्य के अनुसार राजा को दण्ड नीति, राज्य शासन, सैनिक शिक्षा, मानव शास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का जानकार होना चाहिए। राजा को अपनी इन्द्रियों पर सदैव अंकुश रखना चाहिए। कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में राजा का स्थान सर्वोच्च है। राजा राज्य रूपी शरीर में मस्तिष्क के समान है। जिस प्रकार मस्तिष्क के अक्षमता का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर के अंगों पर पड़ता है उसी प्रकार अयोग्य राजा से सम्पूर्ण राज्य ही अस्वस्थ्य हो जाता है।

2.अमात्य या मंत्री:- सामान्यतः अमात्य का अर्थ मंत्री से लिया जाता है। कौटिल्य अमात्य के अर्न्तगत मंत्री एवं प्रशासनिक अधिकारियों दोनों से रखता है। कौटिल्य का मत था कि जिस प्रकार एक पहिये की गाड़ी नहीं चल सकती उसी प्रकार एक व्यक्ति सम्पूर्ण प्रशासन नहीं चला सकता है। राजा को प्रशासन में सहयोगियों से परामर्श लेना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार सभी कार्यों की सफलता अमात्यों पर निर्भर करती है। कृषि आदि कार्यों की सफलता राजवंश अन्तपाल आपत्तियों का प्रतिवाद , उपनिवेशों की स्थापना, अपराधियों को दण्ड तथा राज करो का निग्रह सम्पूर्ण कार्य अमात्यों द्वारा

सम्पन्न होते है। कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि योग्य, अनुभवी व्यक्ति को बिना किसी पक्षपात के अमात्य बनाना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि उनकी चरित्र परीक्षा के बाद नियुक्ति होना चाहिए। अमात्यों को उनकी क्षमता के अनुसार कार्य सौंपे जाने चाहिए।

3.जनपद:- जनपद कौटिल्य के राज्य रूपी शरीर का तीसरा अंग है। कौटिल्य का जनपद से अर्थ उस भू-भाग में निवास करने वाले नागरिकों अथवा निवासियों से है। उसका मानना था कि जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि दूसरे प्रदेशों से लोगों को आमंत्रित कर नये जनपद स्थापित किये जाय। प्रत्येक जनपद में कम से कम 100 घर तथा अधिक से अधिक 500 घर वाले गांव बसाये जाय जिसमें किसान एवं शूद्र अधिक हो। एक गांव दूसरे से दो कोस से अधिक दूर न हो।

जनपद के संगठन के संबंध में कौटिल्य स्पष्ट करता है कि ''आठ सौ गांवों के बीच स्थानीय , चार सौ गांवों के बीच द्रोणमुख , दो सौ गांवों के बीच खार्वटिक तथा दस गांवों के समूह के रूप में संग्रहण की स्थापना की जाय। इस प्रकार प्रशासनिक दृष्टि से जनपद , स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक , संग्रहण और गांव में बंटा होगा। कौटिल्य राज्य के छोटे आकार में विश्वास करता था।

कौटिल्य जनपद निर्माण की पूरी योजना देता है जिसमें प्रारम्भ में तथा सीमान्त में किले बने हो जिसमें अन्न व पानी प्रचुरता से हो। आपात काल में बन एवं पर्वत में जा रक्षा की जा सके। जनपद के

पास शत्रु राजा के विरोधियों की संख्या अधिक होनी चाहिए। शत्रु राज्य कमजोर होना चाहिए। उसके पास घने जंगल हो जो कीमती लकड़ी, हिंसक पशुओं से भरे हो। इसके अन्दर नदी , तालाब हो तथा इसकी जलवायु अच्छी हो। निवासियों में नीच वर्ग की आबादी अधिक हो तथा मेहनती लोगों की अधिकता हो। ऐसा जनपद सम्पन्न जनपद होगा।

कौटिल्य ने जनपद के निवासियों के संदर्भ में स्पष्ट किया है कि वह निष्ठावान , स्वाभिमानी और सम्पन्न होनी चाहिए। वह सरल हृदय वाली, राजा के करो को स्वेच्छा से चुकाने वाली होनी चाहिए। प्रजा के अन्दर स्व-अनुशासन तथा कर्तव्य परायणता होनी चाहिए।

4.दुर्गः- कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो तरह के दुर्ग का वर्णन किया हैः-

1. दुर्ग विधान
2. दुर्ग निवेश

दुर्ग विधान का कौटिल्य का आशय मुख्य दुर्ग से है। इसमें वह मुख्य दुर्ग के निर्माण पर बल देता है। दुर्ग निवेश से उसका आशय दुर्ग के अन्दर के भवनों तथा राज्यों के अन्दर महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्मित भवनों से है।

दुर्ग राज्य की रक्षात्मक आक्रामक शक्ति दोनों का प्रतीक है। प्रत्येक राज्य की सुरक्षा के लिए मजबूत किला आवश्यक होता है। किले में सेना की मोर्चाबंदी , आक्रमण के लिए गुप्त निकास द्वार , गोला बारूद , भोजन का बंदोबस्त होना चाहिए।

कौटिल्य ने दुर्ग को चार श्रेणियों में बांटा हैः-

1.औदक दुर्गः- वह दुर्ग जो चारों ओर से पानी तथा तालाब से घिरा होता है वह औदक दुर्ग कहलाता है।

2.पर्वत दुर्गः- बड़ी चट्टानों से निर्मित , पर्वतों पर स्थित दुर्ग पर्वत दुर्ग कहलाता है।

3.धान्वन दुर्गः- ये ऐसे दुर्ग होते हैं जो ऐसे मरूस्थलीय जगहों पर बने होते है जहां न तो पानी होता और न ही पहुचंना आसान होता है।

4.वन दुर्गः- घने जंगलों में बना दुर्ग जहां का रास्ता बेहद दुर्गम हो उसे वन दुर्ग की संज्ञा दी।

कौटिल्य की मान्यता थी कि औदक और पर्वत दुर्ग संकट के समय राज्य की तथा उसके नागरिकों की रक्षा में सहायक होते हैं, जबकि धान्बन दुर्ग एवं वन दुर्ग संकट के समय राजा की सुरक्षा के लिए आवश्यक एवं अति उपयोगी होते हैं।

5.कोष-

राज्य में राजा को अनेक काम करने होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए धन की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक राज्य में कोष अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि वह कोष की वृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि धर्म, अर्थ, काम में अर्थ प्रधान है। सेना, भूमि , समृद्धि आदि सभी में कोष की आवश्यकता होती है।

कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि प्रत्येक राज्य को युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहना आवश्यक है। युद्ध हो या न हो परन्तु राज्य को तैयार रहना चाहिए। इन सभी कार्यों के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष हो। कोष से सेना एवं दुर्ग दोनों की रक्षा होती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि राजा को कोष को प्रचुर करने के लिए प्रयास करना चाहिए। उसे प्रजा से प्राप्त अनाज का छठा भाग, व्यापार से दसवां, पशुओं के व्यापार से प्राप्त पचासंवा भाग सदैव राजा के द्वारा राजकोष में जमा किया जाए। कौटिल्य स्पष्ट करता है कि -'' राजा प्रजा से इस तरह संग्रह करे जैसे माली बगिया से पके-पके फल लेता है। प्रजा यदि कर देने में असमर्थ है तो उसे कच्चे फल की तरह ग्रहण न किया जाय क्योंकि अशक्त प्रजा से कर संग्रह उसमें असंतोष अथवा विद्रोह करने का कारण होता है।

6.दण्ड अथवा सेना: - प्राचीन भारत के सभी चिन्तकों ने दण्ड को बहुत महत्व दिया है। कौटिल्य ने दण्ड का प्रयोग सेना के संदर्भ में किया है। सेना राज्य की सुरक्षा की प्रतीक है। कौटिल्य का मत है कि जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है उसके मित्र तो बनते है साथ ही उसके शत्रु भी मित्र बन जाते है। कौटिल्य सेना में क्षत्रियों को अधिकाधिक शामिल करने की बात करता है। उसकी मान्यता है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य जातियों को भी शामिल किया जा सकता है।

कौटिल्य की मान्यता थी कि सैनिकों को स्वाभिमानी होना चाहिए। राजा को उनकी बेहतर सेवा के लिये , बेहतर वेतन तथा सुविधा के लिए तैयार रहना चाहिए। कौटिल्य ने सेना में हस्ति सेना, अश्व सेना , रथ सेना तथा पैदल सेना का उल्लेख किया है। कौटिल्य इसमें हस्ति सेना को सर्वाधिक महत्व देता है। दण्ड समान रूप से सभी पर लागू होता है अतः सभी पर समान रूप से लागू करने के लए भी सेना अथवा शक्ति की आवश्यकता होती है। दण्ड अथवा भय के अभाव में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। कौटिल्य का मत है कि राजा को आपात काल के लिये सदैव तैयार रहना चाहिए। आपातकाल के समय मित्रों की सहायता से मुकाबला किया जाना चाहिए। ''कौटिल्य ने मित्रों पर विशेष बल दिया है। उसका मानना है कि मित्र वंश परम्परागत , विश्वासी, स्थायी एवं हितैषी होने चाहिए।

3.3.4.1विभिन्न अंगों का तुलनात्मक महत्व

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताये है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि राज्य का निर्माण इन सात अंगों से मिलकर हुआ है। अतः प्रत्येक अंग की मजबूती से राज्य शक्तिशाली होगा। वह प्रत्येक अंग को महत्वपूर्ण मानता है। इनमें परस्पर सहयोग से राज्य का संचालन सुचारू हो सकता है। राज्य के सात अंगों के संदर्भ में मनु, भीष्म,शुक्र का मत है कि स्वामी, जनपद,दुर्ग, कोष, दंड और मित्र आदि महत्व की दृष्टि से क्रमानुसार है। कौटिल्य भी सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से स्वामी को सर्वाच्च, सर्वशक्तिशाली और महत्वपूर्ण मानता है। वह सम्पूर्ण शासन की आधारशिला मानता है। इसके विपरीत आचार्य भारद्वाज ने इस मत की उपेक्षा करते हुए स्वामी की तुलना में अमात्य को ज्यादा

महत्वपूर्ण माना है। कौटिल्य ने अपनी रचना में स्वामी को अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसने सम्पूर्ण प्रशासन के केन्द्र में स्वामी को रखा है। उसका मानना है कि एक अयोग्य अमात्य को हटाया जा सकता है। उसके स्थान पर राजा नया अमात्य नियुक्त कर सकता है। वह सम्पूर्ण प्रशासन की आधारशिला राजा को मानता है। कौटिल्य अपने साप्तांग सिद्धान्त के द्वारा राजनीतिशास्त्र को अधिक लौकिक स्वरूप प्रदान करता है।

3.3.5 मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार

कौटिल्य ने अपनी रचना "अर्थशास्त्र" में राजा के लिये मंत्रीपरिषद की आवश्यकता पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि राजा एक रथ है जैसे रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेला राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता। अतः राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह योग्य अमात्यों का चुनाव करें। कौटिल्य प्रत्येक कार्य के संचालन पर सद्भावना पर विशेष ध्यान देता है।

महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार पशु बादलों पर, बाहम्ण वेदों पर , पत्नी पति पर निर्भर करती है , उसी प्रकार राजा भी मंत्रीपरिषद पर निर्भर करता है। मनु ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया है। कौटिल्य ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया।

मंत्रीपरिषद का निर्माणः- मंत्रीपरिषद के गठन में कौटिल्य का सर्वाधिक जोर अमात्यों का योग्यता पर है। इसके लिये उसने अत्यंत कठोन नियम एवं मापदण्ड तय किये हैं। उसका मानना है कि क्षमतावान, योग्य और बिना दाग का व्यक्ति को मंत्रीपरिषद में स्थान दिया जान चाहिए। बेनी प्रसाद के शब्दों में ''कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक , व्यक्तिगत जीवन, बौद्विक चातुर्य, उचित निर्णय , कर्तव्य की उच्च भावना, लोकप्रियता मंत्रीपरिषद के लिये आवश्यक योग्यतायें होने चाहिए।

मंत्रीपरिषद में मन्त्रियों की संख्या कितनी होगी उसका आकार क्या होगा इस पर कौटिल्य स्पष्ट राय नहीं रखते। मनु ने अमात्यों की संख्या 12, वृहस्पति ने सोलह, शुक्राचार्य ने बीस मन्त्रियों की संख्या सुझायी है। कौटिल्य इस संख्या के संदर्भ में मौन है। वे कार्य के अनुपात तथा योग्यता के आधार पर संख्या निश्चित करने पर बल देता है।

अमात्यों की नियुक्तिः- इस संबंध में उसने सबसे पहले विभिन्न आचार्यों के पर प्रकट किये । कौटिल्य ने आचार्य भारद्वाजक, विशालरक्ष, पराशर, वाटव्याधि और बाहुदंतीपुत्र के विचारों का विश्लेषण किया । कौटिल्य की मान्यता थी कि विद्या, साहस, गुण, दोष, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्त करें।

कौटिल्य की मान्यता थी कि अर्थशास्त्र के विद्वान, बुद्धिमान, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, उत्साही, प्रभावशील, सहिष्णु, पवित्र, स्वामीभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान और द्वेषवृत्ति रहित पुरूष ही प्रधानमंत्री के योग्य है।

अमात्यों के आचरण की परीक्षाः- कौटिल्य ने अमात्यों के आचरण की समीक्षा पर विशेष बल दिया। कौटिल्य का मत है कि धर्म, अर्थ, काम तथा भय के आधार पर अमात्यों के आचरण का परीक्षण करना चाहिए। उक्त चारों कसौटियों पर सफल होने के बाद ही अमात्य को मंत्रीपरिषद में नियुक्त करना चाहिए।

मत्रंणा एवं गोपनीयताः- कौटिल्य ने गोपनीय मत्रंणा पर विशेष बल दिया। उसकी मान्यता थी कि मत्रंणा का गोपनीय न होना राजा एवं मंत्रीपरिषद के लिये घातक होता है। जिस प्रकार कछुआ अपने कवच को समेटे होता है और केवल आवश्यकता होने पर उन्हें बाहर करता है। उसी प्रकार भी मंत्रणा गोपनीय होनी चाहिए। मंत्री की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मंत्रणा का स्थान अत्यंत सुरक्षित हो। राजा एवं अन्य मंत्री इतने संयमित और विचारमान हो कि किसी भी चेष्ठा से भी गोपनीयता भंग न हो। मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां पक्षी भी झांक न सके तथा आवाज बाहर न जाये। कौटिल्य का मत था कि मंत्रणा सदैव तीन-चार लोंगो के साथ की जानी चाहिए। एक ही व्यक्ति से बार-बार मंत्रणा करने से कई बाद संदेह एवं कठिन प्रश्न का सही हल नहीं निकल पाता है। इसमें कई बार संबंधित मंत्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कार्य करने लगता है। कौटिल्य तीन से चार मंत्री का पक्षधर है। इससे अधिक मंत्री होने पर प्रायः सुरक्षा एवं अनिर्णय की समस्या उत्पन्न होती है।

मंत्रीपरिषद के कार्यः- कौटिल्य के अनुसार मंत्रीपरिषद के निम्न कार्य हैः-

1.राजा को परामर्श देना।

2.संकट के समय राजा की रक्षा करना।

3.राजा को भ्रष्ट, अनैतिक कार्यों से बचाना।

4.राजा के गुप्त भेदों को किसी के समक्ष उजागर न करें।

5.राजा की मृत्यु का समाचार भी बहार नहीं जाना चाहिए।

राजा एवं मंत्रीपरिषद का संबंधः- राजा एवं मंत्रीपरिषद के संबंधों के विषय में कौटिल्य का विचार है कि राजा सामान्यतः मंत्रीपरिषद के बहुमत के आधार पर कार्य करें। इसके साथ ही यदि परामर्श उचित न हो तो वह स्वविवेक से निर्णय ले सकता है। कौटिल्य ने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि अयोग्य, अर्कमण्य, विलासी राजा होने पर उस पर मंत्रीपरिषद का नियन्त्रण आवश्यक है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। ‘दिव्यावदान’ में इस बात का उल्लेख मिलता है जब बौद्ध धर्म के प्रति अति श्रद्धालु राजा अशोक ने बौद्ध संघों को अंधाधुध दान देना शुरू कर दिया और राजकोष खाली होने लगा तो मंत्रियों ने युवराज के साथ मिलकर महान अशोक को ऐसा करने से रोका था। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामंत्री के रूप में जिस प्रकार कार्य किया उसमें भी महामंत्री एवं मंत्रीपरिषद की भूमिका का महत्व स्पष्ट होता है।

3.4 प्रशासनिक व्यवस्था

राजा एवं मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के व्यावहारिक संचालन के संबंध में कौटिल्य ने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य 'प्रजा प्रेमी' राज्य की कल्पना करता है। जिसमें शासन का मुख्य उद्देश्य जन कल्याण करना है। यही कारण है कि बड़े कार्यों के संचालन के लिये अनेक प्रशासनिक सहयोगियों की आवश्यकता पर बल देता है। वह राजा को सम्पूर्ण प्रशासन का प्रधान मानता है परन्तु प्रशासन हेतु अठारह (18) अन्य प्रशासनिक अधिकारियों का वर्णन करता है। कौटिल्य ने उन्हें अठारह तीर्थों की संज्ञा दी है। ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैः-

1.मंत्रीः- राज्य प्रशासन में राजा के बाद मंत्री का प्रमुख स्थान होता है। मंत्री राजा का विश्वस्त व्यक्ति होता है। वह राजा को परामर्श देता है।

2.पुरोहितः- राज्य प्रशासन में मंत्री के बाद पुरोहित का स्थान होता है। पुरोहित राजा को धर्म एवं नीति के संबंध में संकेत देता है।

3.सेनापतिः- सेनापति की राज्य के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सेना का प्रधान होता है। वह सेना का गठन करता है तथा संकट के समय में सेना का संचालन करता है।

4.दौवारिकः- दौवारिक राजमहल में रक्षकों का प्रधान होता है। उसी के द्वारा राजा के पास कोई प्रार्थना पत्र पहुंचता है।

5.अंतर्वेशिकः- अंतर्वेशिक राजा का अंतपुर में प्रधान अंगरक्षक होता है। राजा की बीमारी की अवस्था में वह राजा की दिनचर्या से संबंधित कार्यो का संपादन करता है।

6.प्रशास्ताः- प्रशास्ता एक पदाधिकारी होता है जो सेना को नियन्त्रण में रखता है। वह शंति और व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता है।

7.युवराजः- युवराज राजा का ज्येष्ठ पुत्र और राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

8.समाहतीः- कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था में समाहती को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसका स्थान वित्तमंत्री के समान है। उसका मुख्य कार्य वार्षिक बजट प्रस्तुत करना होता है। वह सम्पूर्ण आय-व्यय का लेखा-जोखा रखता है। वह राज्य के आय को बढ़ाने के लिये कर लगाने तथा उसकी वसूली की व्यवस्था करता है।

9.सन्निधाताः- सन्निधाता राज्य का एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह राजकोष का अध्यक्ष होता है। उसका मुख्य कार्य राजकोष का भलिभांति संग्रह और पर्यवेक्षण करना है।

10.प्रदेष्टा आयुक्तः- प्रदेष्टा आयुक्त एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह कार्यपालिका तथा न्यायिक दोनों कार्यों का संपादन करता है। उसका मुख्य कार्य अपराधों का दमन करना तथा जो राज कर नहीं देते उनसे कर वसूल करना या दंड देना होता है।

11.नायकः- यह सेना का संचालक होता है। वह एक सैनिक पदाधिकारी होता है।

12.पौर व्यावहारिकः- पौर व्यावहारिक नगर का न्यायिक पदाधिकारी होता है।

13.कर्मातिकः- कर्मातिक खान उद्योगों का अधिकारी होता है। वह राज्य के कल कारखाने एवं उद्योगों की देख-रेख करता है।

14.मंत्रिपरिषद का अध्यक्षः- मंत्रीपरिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता हैं इसके अलावा कौटिल्य ने अन्य विभागाध्यक्षों का उल्लेख किया है जो प्रशासन के दृष्टि से आवश्यक होते हैं। इसमें पोतवाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष आदि प्रमुख हैं।

15.दंडपालः- यह सेना एवं पुलिस का मुख्य अधिकारी होता है।

16.दुर्गपालः- यह दुर्ग का प्रभारी होता है। यह राज्य के समस्त दुर्गों की देखभाल करता है।

17.अंतपाल या सीमारक्षकः- यह मुख्य अधिकारी होता है जो सीमावर्ती प्रदेशों की रक्षा करता है।

18.आटविकः- आटविक वन संपति की रक्षा करता है।

प्रशासनिक विभागाध्यक्ष

कौटिल्य ने प्रशासन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का वर्णन इस प्रकार किया हैः-

1.कोषाध्यक्षः- कोषाध्यक्ष राजकोष का स्वामी होता है। वह कोष को सम्पन्न रखता है। वह विभिन्न विशेषज्ञों की अनुमति से कोष में विभिन्न रत्नों, आभूषणों को भी रखता है।

2.सीताध्यक्षः- राज्य में कृषि से प्राप्त अनाज के रूप कर के संग्रहण का जिम्मेदार होता है। यह इन अनाजों का भंडारण करता है। यह कृषि का जानकार भी होता है।

3.पठ्याध्यक्षः- पठ्याध्यक्ष एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। यह राज्य में क्रय विक्रय वाली वस्तुओं की व्यवस्था करता है।

4.आयुधागाराध्यक्षः- आयुधगार का अध्यक्ष युद्ध एवं अस्त्र शस्त्र संबंधी चीजों की व्यवस्था करता है।

5.पोतवाध्यक्षः- पोतवाध्यक्ष के पास महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। वह समस्त नापतौल की व्यवस्था का जिम्मेदार होता है।

6.शुल्काध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो राज्य की समस्त शुल्क या चुंगी की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

7.सूत्राध्यक्षः-यह वह पदाधिकारी होता है जो सूत संबधी समस्त व्यवसाय का निर्धारण करता है। यह सूत,रस्सी आदि की निगरानी करता है।

8.सुराध्यक्षः- यह आबकारी विभाग का प्रमुख होता है। यह समस्त मादक पदार्थों जैसे भांग, गांजा, शराब आदि पर नियन्त्रण रखता है।

9.सूनाध्यक्षः- सूनाध्यक्ष के पास वधशाला की जिम्मेदारी होती है। यह पशुओं, मछलियों, पक्षिओं तथा जंगली जानवरों की निगरानी करता है।

10.मुद्राध्यक्षः- यह मुद्रा के निर्माण , संचालन के प्रति जिम्मेदार होता है। इसका दायित्व अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है।

11.रथाध्यक्षः- यह रथ सेना का प्रभारी होता है। यह राज्य की सुरक्षा के लिये प्रभावी रथ सेना के निर्माण के लिये जिम्मेदार होता है।

12.अश्वाध्यक्षः- यह घोड़ों की रक्षा के लिये कार्य करता है। वह राज्य में अनेक स्थानों पर घुड़सालों का निर्माण करवाता है।

13.गजशाला अध्यक्षः- यह हाथियों के सम्पूर्ण प्रबंधन के लिये उत्तरदायी होता है। वह उनकी सुरक्षा , उनके आहार का भी प्रबंध करता है।

14.गणिकाध्यक्षः- इसका कार्य राज्य में गणिकाओं (वेश्याओं) की निगरानी करना होता है।

15.नौकाध्यक्षः- नौकाध्यक्ष नौकाओं के निर्माण, नौका मार्गों पर उनके निर्बाध संचालन के लिये जिम्मेदार होता है।

16.गोध्यक्षः- यह गोवंश की रक्षा तथा उनके विकास के लिये जिम्मेदार होता है।

17.सुवर्णाध्यक्षः- यह राज्य के अन्दर सोने चांदी के कार्य करने के लिये स्थान बनवाने तथा उनकी निगरानी का कार्य करता है।

18.कोष्ठगाराध्यक्षः- कोष्ठगाराध्यक्ष राज्य में अनाजों के भंडार की व्यवस्था करता है।

19.कुप्याध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो जंगल में उपलब्ध वनस्पितियों एवं अन्य सामग्रियों की रक्षा करता है।

स्थानीय शासन

कौटिल्य ने प्रशासन के सबसे निचले हिस्से पर अर्थात स्थानीय शासन का भी उल्लेख किया है। वह राजा के द्वारा गो, स्थानिक और नगराध्यक्ष आदि अधिकारियों की नियुक्ति का समर्थन करता है। उसके द्वारा वर्णित प्रमुख स्थानीय प्रशासन के अधिकारी निम्न हैः-

1.गोपः- यह स्थानीय शासन का प्रमुख पदाधिकारी था। वह पांच से दस ग्रामों का जिम्मेदार था। इन ग्रामों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी गोप की होती है।

2.स्थानिकः- यह गोप के ऊपर स्थापित एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। जिले के समस्त गोप उसके अधीन थे।

3.नगराध्यक्षः- प्रत्येक नगर का अध्यक्ष नगराध्यक्ष कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने प्रशासन की व्यापक एवं सुचारू व्यवस्था की थी। उसने प्रशासन के प्रत्येक पहलू पर न केवल ध्यान दिया वरन उसके लिये अलग विभाग एवं पदाधिकारी नियुक्त किया। कौटिल्य ने प्रशासन को अनेक भागों में बांटा। कौटिल्य की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में स्थानीय प्रशासन को भी स्थान दिया गया है। वह सत्ता के केन्द्रीयकरण के स्थान पर विकेन्द्रीयकरण का समर्थक था।

3.5 कानून एवं न्याय संबंधी विचार

कौटिल्य ने कानूनों के सख्ती से पालन पर बल दिया। कौटिल्य का कानून अनुभववाद और आध्यात्मवाद पर आधारित है। उसके कानून का आधार धर्म है। उसकी मान्यता थी कि जो राज्य कानून का पालन तथा न्याय सुनिश्चित नहीं कर पाते वह शीघ्र नष्ट हो जाते है। उसकी मान्यता थी कि राज्य का उद्देश्य प्रजा के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा करना है। असमाजिक तत्वों तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। वह कानून एवं दण्ड को सगी बहनों की तरह मानता है जो राज्य को स्थायित्व और नागरिक जीवन में सुधार का संचार करता है।

कानून का उद्देश्यः- कानून का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का कल्याण करना है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के सभी पहलुओं का समाधान कल्याणकारी रूप में करता है।

कानून की परिभाषाः- कौटिल्य के अनुसार कानून शाही आदेश है जो स्वीकृति के द्वारा लागू किया जाता है। कानून सभी शाही आदेशों का प्रतिरूप है। उउन्होंने राजा को वरूण के समान माना है। वह सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ न्यायधीश की भूमिका भी अदा करता है।

कानून के स्त्रोतः- कौटिल्य ने कानून के चार स्त्रोत बताये हैः-

1.धार्मिक उपदेश

2.व्यावहारिक अथवा साथियों का व्यवहार

3.समाज के रीति रिवाज और परम्परा

4.राजकीय आदेश

कौटिल्य ने उपरोक्त के सदंर्भ में एक स्थान पर लिखा है कि ''धर्म व्यवहार, चरित्र राजाज्ञा ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं।

कानून का वर्गीकरणः- कौटिल्य ने कानून का व्यापक वर्गीकरण किया है। उन्होनें इसको निम्न भागों में बांटा हैः-

1.विवाह संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' में विवाह पर व्यापक विमर्श किया है। इसमें उन्होनें धर्म विवाह, स्त्री का पुर्न विवाह , पति-पत्नी द्वेष , पर पुरूष अनुसरण और पुर्न विवाह पर व्यापक चर्चा कर इनके नियम और कानून का वर्णन किया है।

2.दाय अथवा उत्तराधिकार विषयक कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' में उत्तराधिकार का सामान्य नियम पैतृक क्रम से विशेषाधिकार, पुत्रक्रम से विशेषाधिकार का वर्णन किया है। उसकी मान्यता है कि माता-पिता या पिता के जीवित रहते लड़के संपत्ति के उत्तराधिकारी नहीं होते। पिता के न रहने पर वह संपति का बटवारा कर सकते है। संयुक्त परिवारों में रहने वाले पुत्रों तथा पौत्र चौथी पीढ़ी तक अविभाजित पैतृक संपति के बराबर के हकदार है जिसका कोई उत्तराधिकारी न हो उसे राज्य ले लेवे। उसकी मान्यता है कि पलित, पलित की संतान , मूर्ख, अंधा कोढ़ी उत्तराधिकार के अधिकारी नहीं होगें।

3.अचल संपति संबंधी कानूनः- इसके अन्तर्गत कौटिल्य ने संपति के बेचने, सीमा विवाद , कर की छूट, गांवों का बंदोबस्त, सामूहिक कार्यों में शामिल न होने का मुआवजा आदि का वर्णन इसके अन्तर्गत किया गया है। इसमें कर की छूट , रास्ते को रोकना, गांवों का बंदोबस्त भी शामिल है।

4.ऋण संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ऋण , ब्याज के नियम , एक व्यक्ति पर अनेक व्यक्ति के कर्जा संबंधी कानूनों का वर्णन किया है। वह ब्याज के संदर्भ में कहता है कि 100 पण पर सवा पण ब्याज लेना चाहिए। ऋण देने वालों तथा लेने वालों के चरित्र की निगरानी होनी चाहिए। अन्न संबंधी ब्याज फसल के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए।

5.धरोहर संबंधी कानूनः- इसके अन्तर्गत धरोहर , गिरवी, उधार की वस्तु को लौटाने गिनकर रखी गई धरोहर आदि के संबंध में व्यापक चर्चा की गई है।

6.दास और श्रमिक संबंधी कानूनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" में दास , श्रमिक और नौकरों के वेतन पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने यूनानी विचारकों की तरह दास प्रथा को स्वीकार किया है। वह निम्न जातियों तथा अनार्यों को दास बनाने पर बल देता है। विशेष स्थिति में यदि उच्च कुल का व्यक्ति दास बन गया हो तो उसे मुक्त कर देना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि दासी से संतान उत्पन्न हो जाए तो उसे दासता से मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

7.साझेदारी विषयक कानूनः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि ठेके पर मजदूरी करने वाले मजदूर प्राप्त मजदूरी को आपस में बांट लें। व्यापारी को माल खरीदने से बेचने तक हुए खर्चे को जोड़ने के बाद बेचने से प्राप्त धन से हुए लाभ को साझीदार से बांट लेना चाहिए।

8.क्रय-विक्रय संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने क्रय-विक्रय संबंधी नियमों का विस्तृत उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। उन्होने स्पष्ट किया है कि क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों का बयान ; एक दिन में , किसानों का क्रय-विक्रय तीन दिन तथा दूध वालों का बयाना 5 दिन में वापस किया जा सकता है।

9.स्व-स्वामी संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने स्व-स्वामी संबंधी कानूनों का भी उल्लेख किया है। उसका मत है कि यदि कोई व्यक्ति किसी संपति को उपभोग कर रहा है तो उस पर उसी का स्वामित्व माना जाना चाहिए। वह आगे और अधिक स्पष्ट करता है और कहता है कि यदि कोई व्यक्ति दस वर्ष तक किसी संपति पर अपना अधिकार खो देता है तो उस पर उसका दावा नहीं रह जाता है।

10.निंदा संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने निंदा संबंधी अथवा विवाद के संबंध में स्पष्ट किया है कि किसी को धमकाना, निदां करना , वाक्यारूष्य नामक अपराध के अन्तर्गत है।

11.जुआ संबंधी कानूनः- जुआ पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। उसका यह मानना था कि धूताध्यक्ष को अपनी निगरानी में नियत स्थान पर जुआ खलने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड की व्यवस्था की है।

न्याय संबंधी विचार- प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुरूप कौटिल्य भी स्वधर्म के पालन पर बहुत जोर देता है। उसकी मान्यता थी कि स्वधर्म पालन से न केवल स्वतः व्यवस्था बनती है वरनलोक परलोक दोनों सुधरता है। इसके बावजूद जो नागरिक कानून का उल्लघंन करते है। उनको दंडित करने की भी व्यवस्था वह करता है। उसकी मान्यता थी कि न्याय कि बिना प्रजा धर्म, अर्थ, कात और मोक्ष्ज्ञ से वंचित हो जाता है। अतः न्याय के द्वारा ही प्रजा के उक्त परम् लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि कौटिल्य ने न्याय पर बहुत अधिक जोर दिया है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य न्याय को राज्य का प्राण मानता है।

न्यायधीश की नियुक्ति:- कौटिल्य ने अपने राजनीतिक दर्शन का आधार राजा को माना है। उनकी मान्यता एक योग्य, कर्तव्यपरायण तथा जनकल्याणकारी राजा की है। इसके बावजूद न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वह न्यायधीशों की नियुक्ति का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमार्त्य होने चाहिए जो एक साथ बैठकर विवादों का निपटारा कर सके। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जायेगी।

न्यायपालिका का संगठनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' में चार स्थानों पर न्यायपालिका के गठन का सुझाव दिया।उसके द्वारा की गई न्यायपालिका की व्यवस्था इस प्रकार हैः-

1.जनपद संधि न्यायालयः- यह वह न्यायालय था जो दो राज्यों या गांवों की सीमा पर स्थापित किया जाता था। यही कारण है कि इसे संधि न्यायालय भी कहा जाता है।

2.संग्रहण न्यायालयः- कौटिल्य की न्यायपालिका की मुख्य इकाई थी। इसमें 10 गांवों के केन्द्र में स्थापित न्यायलय को संग्रहण न्यायालय कहा गया।

3.द्रोणमुख न्यायालयः- यह कौटिल्य की न्याय व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण इकाई थी। इसका क्षेत्र और अधिक व्यापक था। इसे चार सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित किया गया। इसका कर्मक्षेत्र संग्रहण न्यायालय से व्यापक था।

4.स्थानीय न्यायालयः- स्थानीय न्यायालय द्रोणमुख न्यायालय की अगली कड़ी था। इसका कार्यक्षेत्र द्रोणमुख न्यायालय से भी व्यापक था। इसमें आठ सौ गांवों का समाहित कराया गया। यह आठ सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित एक न्यायालय था।

न्यायपालिका का वर्गीकरण (प्रकारः-कौटिल्य ने विवाद के स्वरूप के आधार पर न्यायालयों को दो भागों में बांटा --

1.दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालय

2.फौजदारी अथवा कष्टक शोधन न्यायालय

दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालयः- धर्मस्थलीय न्यायालय वह न्यायालय है जो नागरिकों के परस्पर व्यवहार से उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करते है। इस तरह के

विवादों को कौटिल्य ने व्यवहार की संज्ञा दी है। इसमें मुख्य रूप से सम्पति , संविदा, उत्तराधिकार, विवाह , ऋण , धरोहर, साझेदारी आदि संबंधित विवाद आते है।

फौजदारी अथवा कष्टकशोधन न्यायालय:- कौटिल्य के अनुसार कष्टकशोधन न्यायालय वह न्यायालय है जिनका उद्देश्य राज्य के कष्टक अथवा शत्रुओं को राज्य से दूर रखना है। इसका मुख्य लक्ष्य राजा अथवा राज्य के विरूद्ध किये जाने वाले अपराधों पर विचार करना है। इसके अर्न्तगत मुख्य रूप से प्रजा के प्रतिदिन के सम्पर्क के धोबी,जुलाहे्र, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट आदि के द्वारा प्रजा के शोषण आदि के मामले आते है। इसमें कर्मचारियों के द्वारा प्रजा के उत्पीड़न के मामले भी आते है। कौटिल्य ने इन सभी अपराधों को कष्टक की श्रेणी में रखा है। इन अपराधों का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की व्यवस्था पर बल दिया।

कौटिल्य की सम्पूर्ण न्यायव्यवस्था आधुनिक है। वह न्याय की निष्पक्षता पर बहुत बल देता था। वह न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रिकरण का हिमायती था। उसने उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमात्यों पर बल दिया तथा निर्णय सर्वसम्मति या बहुमत से करने पर बल दिया जो कि आज के समय (ज्यूरी) बहु सदस्यीय न्यायिक पीठ के रूप में विद्यमान है। उन्होंने न्याय व्यवस्था को निष्पक्ष बनाने के लिये सम्पूर्ण प्रक्रिया, गवाही के लिखे जाने पर बल दिया। उसकी मान्यता थी कि न्याय प्रदान करने की व्यवस्था में लिंग तथा वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। उसने न्यायधीशों पर भी निगरानी पर बल दिया है। यह कार्य गुप्तचर विभाग को दिया गया। यदि न्यायधीश नियमों की अनदेखी करता है तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए।

दण्ड एवं गुप्तचर व्यवस्थाः-कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था के साथ दण्ड व्यवस्था का भी वर्णन किया है। कौटिल्य ने दण्ड के औचित्य एवं दण्ड के प्रकार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कौटिल्य का दण्ड संबंधी विचार बहुत तार्किक एवं यर्थातवादी है। उसकी मान्यता है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष आदि छः शत्रु न जाने कब मनुष्य को उत्तेजित कर दे तथा मनुष्य को अधर्म, दुराचरण की ओर ले जाते है। ऐसी स्थिति में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। चारों ओर 'मत्स्य न्याय' की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। इस स्थिति से बचने के लिये कौटिल्य ने एक प्रभावी दण्ड व्यवस्था की कल्पना की जिसमें कानून तोड़ने तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले को त्वरित रूप से दण्डित करने की बात की गई।

दण्ड का स्वरूपः- कौटिल्य की मान्यता थी कि समाज में धर्म बना रहे तथा समाज में लोककल्याण स्थापित हो इसी उद्देश्य के लिये दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा ही दण्ड देने का अधिकारी होता है अतः उसका दण्ड सुधारात्मक होना चाहिए। उसके द्वारा प्रतिशोधात्मक दण्ड नहीं देना चाहिए। दण्ड सुधार के लिये कल्याण के लिये होना चाहिए।

3.6 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार

१.कौटिल्य दण्ड के निर्धारण में समानता के सिद्धान्त को नहीं मानता है। उसका मानना है कि महिलाओं और बच्चों को कम दण्ड मिलना चाहिए। उसने वर्ण व्यवस्था के आधार पर भी भेद किया है। उसका मानना है कि ब्राहमणों को भी कम दण्ड मिलना चाहिए। कौटिल्य का मानना था कि दण्ड का निर्धारण अपराध, अपराध की परिस्थितियों, वर्ण, लिंग के आधार पर करना चाहिए।

दण्ड के प्रकारः- कौटिल्य ने तीन प्रकार के दण्ड बताये हैः-

1.शारीरिक दण्डः- शारीरिक दण्ड में वह कोड़े मारना, अंग छेदन, हाथ-पैर बांधकर उल्टा लटकाना, ब्राहमण अथवा उच्च जातियों के माथे पर चिन्ह अंकित करने को शामिल करता है। उसने पाप काने वाले पुरूष को अन्य दण्ड भी बताये है। इसमें मुख्य रूप से बेंत मारना, थप्पड़ मारना, बांए हाथ को बांये पैर से तथा दांये हाथ को दांये पैर से पीछे बांधना। दोनों हाथ आपस में बांधकर लटका देना, नाखुन में सुई चुभाना, घी पिलाकर धूप या आग के पास बैठाना। जाड़े की रात में गीले विस्तर पर सुलाना। वह कहता है कि माता-पिता को गाली देने वाले की जिह्वा काट लेनी चाहिए। राजा अथवा राज्य के भेद खोलने वाले को भी यदि दण्ड दिया जाना चाहिए।

प्राणदण्डः- कौटिल्य ने विभिन्न अपराधों के लिये प्राणदण्ड का भी प्रावधान किया है। यदि झगड़े में किसी की मृत्यु हो गई हो तो दूसरे को प्राणदण्ड दे दिया जाए। बलात्कार करने तथा जीभ काटने वाले , सेंध लगाकर चोरी करने, हाथी, घोड़े तथा रथ को नुकसान पहुंचाने वाले को भी मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए। माता-पिता ,पुत्र भाई, आचार्य के हत्यारे को भी यही दण्ड दिया जाना चाहिए। अपने पति, पुत्र, गुरू को विष देने वाली स्त्री को गाय से कुचलवा कर मारा जाये। ब्राहमणी के साथ व्याभिचार करने वाले शूद्र को जिंदा जला दिया जाए। रानी के साथ व्याभिचार करने वाले को जीवित भून दिया जाय।

2. आर्थिक दण्डः- कौटिल्य ने आर्थिक दण्ड को तीन भागों में बांटा हैः-

1.प्रथम साहस दण्ड

2.मध्यम साहस दण्ड

3.उत्तम साहस दण्ड

प्रथम साहस दण्डः- प्रथम साहस दण्ड में 48 से 96 पण तक का जुर्माना लगाने की व्यवस्था की गई है।

मध्यम साहस दण्ड:- मध्यम साहस दण्ड को दो सौ से पांच सौ पण तक की जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

उत्तम साहस दण्डः- इसमें पांच सौ से 1 हजार पण तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

कारागार अथवा जेलः- कौटिल्य ने अपराधियों के लिये जेल की व्यवस्था की है। उसकी मान्यता है कि यदि कोई ब्राहमण राज्य के विरूद्ध षणयंत्र करे तो उसे आजीवन कैद में डाल देना चाहिए।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि न्यायधीशों तथा समाहार्ता से सजा जाये लोगों को कारागृह में रखना चाहिए। कारागृह में स्त्री पुरूष के लिये अलग-अलग स्थान होना चाहिए। कारागार की पर्याप्त सुरक्षा होनी चाहिए।

कौटिल्य ने शुभ अवसरों पर कैदियों को मुक्त करने की व्यवस्था की। वह कौटिल्य का मानवीय दृष्टिकोण था। उसने आगे स्पष्ट किया है कि विजय पर राजकुमार के राज्याभिषेक के समय, राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को मुक्त कर देना चाहिए।

राज्य अधिकारियों के लिए दण्डः- कौटिल्य का मत था कि प्रत्येक राज्य अधिकारियों को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। यदि कोई अधिकारी नियमित आय का कम दिखाता है तो वह राजधर्म का अपहरण करता है। उसकी अक्षमता, अयोग्यता से यदि यह कमी होती है तो उसे उसी क्रम में दण्डित करना चाहिए। यदि कोई अधिकरी राजकोष में अधिक धन जमा कराता है तो उसकी भी जांच करा कर उसको दण्डित करना चाहिए क्योंकि उसकी वसूली प्रजा को प्रताड़ित कर हुई होगी। यदि अधिकारी ने धन का गबन करते हुए जमा नहीं किया है तो उसे कठोर दण्ड मिलना चाहिए।

वेश्वावृत्ति के लिये दण्डः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि यदि कोई पुरूष कामना रहित महिला से शारीरिक संबंध बनाता है तो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए। राजा की सेवा में नियुक्त गणिका को प्रताड़ित करने वाले व्यक्ति को बहत्तर हजार पण दण्ड देना चाहिए। राजा की आज्ञा पर कोई वैश्या यदि किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाने से इंकार कर दे तो उसे 1 हजार कोड़े लगवाये जाने चाहिए। पूरी रात का शुल्क ले बहाना बनाने पर शुल्क का आठ गुना दण्ड लिया जाना चाहिए।

२.गुप्तचर व्यवस्था

कौटिल्य ने गुप्तचर को प्रशासन को महत्वपूर्ण हिस्सा माना था। उसकी मान्यता थी कि बगैर प्रभावी गुप्तचर व्यवस्था के एक सुरक्षित, प्रगतिशील राज्य का निर्माण नहीं किया जा सकता है। भारत में प्राचीन काल से ही गुप्तचर व्यवस्था पर अत्याधिक बल रहा है। रामायण तथा महाभारत में गुप्तचर व्यवस्था का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने सर्वप्रथम गुप्तचर व्यवस्था को स्थापित किया। उसने गुप्तचरों के प्रकार, कार्य तथा भूमिका का विस्तृत वर्णन किया। उसने दो प्रकार के गुप्तचर बतायेः-

1.स्थायी गुप्तचर

2.भ्रमणशील गुप्तचर

स्थायी गुप्तचरः-कौटिल्य ने स्थाई गुप्तचरों को पांच भागों में बांटा हैः-

कापरिक गुप्तचरः- दूसरों के रहस्य को जानने वाला एवं दबंग किस्म का गुप्तचर होता है। यह सामान्यतः विद्यार्थी की वेशभूषा में रहता है।

उदास्थित गुप्तचरः- यह सन्यासी रूप में रहने वाला बुद्धिमान तथा सदाचारी व्यक्ति होता है।

गृहपलिक गुप्तचरः- गरीब किसान के वेश में रहने वाला एक बुद्धिमान व्यक्ति होता है।

वैदेहकः- गरीब व्यापारी के वेश में बुद्धिमान गुप्तचर को वैदेहक कहा जाता है।

तापस गुप्तचरः- जीविका के लिये सिर के बाल साफ कराये अथवा जहां रखे राजा का कार्य करने वाला व्यक्ति तापस गुप्तचर कहलाता है। ये सामान्यतः विद्यार्थियों के साथ नगर के पास आश्रम बना कर रहते है।

भ्रमणशील गुप्तचर:- ये एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर कार्य करते है अतः इन्हें भ्रमणशील अथवा संचार गुप्तचर कहते है।

इसके प्रमुख प्रकार निम्न हैः-

सत्री गुप्तचरः- ये राजा के संबंधी नहीं होते परन्तु इनका पालन राजा के लिये आवश्यक होता है। ये वशीकरण, धर्मशास्त्र, नाचने गाने, ज्योतिष में अति पारंगत होते है।

तीक्ष्ण गुप्तचरः- ये वे गुप्तचर होते है जो धन के लिये बड़े जोखिम उठा लेते है। वे हाथी, बाघ, सांप आदि से भिड़ जाते है। इन्हें तीक्ष्ण गुप्तचर कहते है।

रसद गुप्तचरः- अपने निकट संबंधियों से संबंध न रखने वाला, कठोर एवं क्रूर स्वभाव के व्यक्ति को रसद (विष देने वाला) गुप्तचर कहा जाता है।

परिव्राजिका गुप्तचरः-धन की इच्छुक ऐसी स्त्री जो अमात्यों के घर जाती हो, दबंग हो, बाहमणी हो तथा रनिवास में सम्मान हो, को परिव्राजिका गुप्तचर कहा जाता है।

उभयवेतन भोगी गुप्तचरः- यह दोहरा वेतन पाने वाले , दूसरे राज्यों की गतिविधियों का पता लगाने वाले गुप्तचर होते है। ये दूसरे राज्य में जा नौकरी करते है और दोहरा वेतन लेते है।

विषकन्याः- यह वह स्त्री थी जो विष का सेवन कर पाली जाती थी। इसे राज्य हित में शत्रु के पास भेजा जाता था जहां वह अपने सौन्दर्य, यौवन, हावभाव से शत्रु को भोग के लिये तैयार कर लेती थी। यही शत्रु के विनाश का कारण बनता था।

गुप्तचरों के कार्यः- कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रमुख कार्य निम्न बताये हैः-

1.गुप्तचर को उच्चाधिकारियों तथा अन्य अधिकारियों के आचरण का पता लगाकर राजा को सूचित करना चाहिए।

2.यदि कोई कर्मचारी विद्रोही प्रवृति का है तो उसकी सूचना तत्काल राजा को देनी चाहिए।

3.ऐसे षड़यत्रों की सूचना राजा को देना जो राजा के विरूद्ध प्रजा द्वारा रचे गये हो।

4.जनता के मनोभावों को पढ़ना तथा अंसतोष के कारणों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करना।

कौटिल्य के शब्दों में-‘‘राज्य में कर्मचारियों एवं प्रजा की शत्रुता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाए। राजा धन एवं मान द्वारा गुप्तचरों को संतुष्ट रखे।’’उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

3.8 मण्डल सिद्धान्त

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में मण्डल सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों से संबंध संचालन को मंडल सिद्धान्त के नाम से तथा अन्य विदेशी राज्यों के साथ संबंध संचालन

को षाडगुण्य नीति के नाम से अभिव्यक्त किया। कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त प्राचीन भारतीय ग्रन्थों पर आधारित है। यह राम राज्य में प्रचलित ''दिग्विजय सिद्धान्त'' पर आधारित है।

अर्थः- मण्डल का अर्थ ''राज्यों का वृत्त'' होता है। यह एक प्रकार की रणनीति है जिसमें विषय की आकांक्षा रखने वाला राज्य अपने चारों ओर के अन्य राज्यों को मण्डल मानता है।

मण्डल सिद्धान्त एक बारह राज्यों के वृत्तों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत मण्डल का केन्द्र ऐसा राज्य होता है जो पड़ोसी राज्य को जीतकर अपने में मिलाने का प्रत्यत्नशील रहता है। इसे वह विजिगीषु राजा कहता है। मंडल में बारह राज्य होते है- विजिगीषु, अरि, मित्र, मित्रमित्र, अरि मित्रमित्र, पाष्ठीग्राहा, आक्रंद, पार्ष्णिग्रालसार, आंक्रादासार, मध्यम और उदासीन।

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु मंडल के मध्य रहता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र मित्र और अरिमित्र येपाँचराज्य विजीगीषु के सामने तथा पाष्णिग्राह, आंक्रद, पार्ष्णिग्राहासार और आंक्रादासार ये चार राज्य के पीछे रहते है। शेष दो राज्य मध्यम एवं उदासीन बगल में रहते हैं। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त के बारह राज्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता हैः-

1.विजिगीषु राज्यः- अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखने वाला विजिगीषु कहलाता है। इसका स्थान मंडल के केन्द्र में होता है।

2.अरिः- विजिगीषु के सामने वाला राज्य जो उसका शत्रु होता है अरि कहलाता हे।

3.मित्रः- अरि के सामने का राजा मित्र कहलाता है। यह विजिगीषु का मित्र और अरि का शत्रु होता है।

4.अरिमित्रः- मित्र के सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। यह अरि का मित्र और विजिगीषु का शत्रु होता है।

5.मित्रमित्रः- अरिमित्र के सामने वाला राज्य मित्रमित्र कहलाता है। मित्र राज्य का मित्र होता है। यही कारण है कि वह विजिगीषु राज्य के साथ भी उसकी मित्रता होती है।

6.अरि मित्रमित्रः- मित्रत्रमित्र के सामने वाला राज्य अरि मित्र-मित्र कहलाता है क्योंकि वह अरिमित्र राज्य का मित्र होता है। अतः अरि राज्य के साथ उसका संबंध मित्रता का रहता है।

7.पार्ष्णिग्राह (पीठ का शत्रु)- विजिगीषु के पीछे जो राज्य रहता है वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है। अरि की तरह वह भी विजिगीषु का शत्रु होता है।

8.आंक्रदः- पार्ष्णिग्राह के पीछे जो राज्य होता है उसे आंक्रद कहते है वह विजिगीषु का मित्र होता है।

9.पार्ष्णिग्राहासारः- आंक्राद के पीछे वाला राज्य का पार्ष्णिग्राहासार कहलाता है। यह पार्ष्णिग्राह का मित्र होता है।

10.आंक्रादासारः- पार्ष्णिग्राहासार के पीछे वाला राज्य आंक्रदासार कहताता है। यह आंक्राद का मित्र होता है।

11.मध्यमः- मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु और परिराज्य दोनों की सीमा से लगा होता है। दोनों से शक्तिशाली होने के कारण यह दोनों की सहायता भी करता है। जरूरत पड़ने पर यह दोनों से अलग-अलग मुकाबला भी करता है।

12.उदासीनः- राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि, मध्यम इन तीनों से परे पर होता है। यह शक्तिशाली होने के कारण तीनों से मुकाबला भी कर सकता है।

उक्त बारह राज्यों का समूह राज्य मण्डल कहलाता है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि भौगोलिक आधार पर कौन मित्र तथा शत्रु हो सकते है।

मण्डल सिद्धान्त का विश्लेषण:- कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त एक व्यावहारिक एवं दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में कौटिल्य ने राज्य के चारों ओर बनने वाले मण्डल (दूसरे राज्यों के घेरा) का विश्लेषण किया है। उसके मण्डल सिद्धान्त की प्रमुख तत्व निम्न हैः-

1.कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त 12 राज्यों के एक केन्द्र की कल्पना करता है।

2.मण्डल सिद्धान्त में राज्यों को विशेष नाम एवं विशेष प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

3.कौटिल्य के अनुसार यह संख्या घट बढ़ सकती है।

4.कौटिल्य के अनुसार मध्यम एवं उदासीन राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों की शक्ति लगभग समान है।

5.कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु तथा उसके पड़ोसी का मित्र होता है।

6.उसकी मान्यता है कि राज्य को पड़ोसी राज्य से सतर्क रहते हुए अपना गठबंधन बनाना चाहिए।

7.यह शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित है। यह राज्यों के आपसी सहयोग पर आधारित है।

कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार स्थापित किया गया था परन्तु आज की बदली परिस्थितियों में जिसमें भूमण्डलीकरण का दौर है तथा सैनिक शक्ति की अपेक्षा आर्थिक शक्ति का महत्व बढ़ गया है , प्रांसगिक नहीं रह गया है। इसके बावजूद तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसकी यह महत्वपूर्ण देन है।

3.9 षाड.गुण्य नीति

कौटिल्य ने पड़ोसी देशों के साथ व्यवहार के लिये 6 लक्षणों वाली नीति अपनाने पर बल दिया। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी इसके लक्षण मिलते है। मनु के विचारों में तथा महाभारत में भी इसका उल्लेख मिलता है। कौटिल्य की मान्यता थी कि विदेश नीति का निर्धारण इन छः गुणों के आधार पर करना चाहिए। कौटिल्य ने षड़गुण्य नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -''उनमें दो राजाओं का मेल हो जाना संधि, शत्रु का अपकार करना विग्रह ,उपेक्षा करना, आसन हमला करना यान आत्म सर्मपण करना संश्रय, दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है।''

षाड़गुण्य नीति का व्यावहारिक पक्षः- कौटिल्य ने षाड़गुण्य नीति का विकास व्यावहारिक आधार पर किया। कौटिल्य यह जानता था कि राजा अथवा राज्य को कई बार ऐसे अवसर देखने पड़ते है

जब उनके सामने की चुनौती बहुत शक्तिशाली तथा कई बार चुनौती बेहद कमजोर होती है। ऐसे में राजा को परिस्थितियों के अनुसार नीति बनानी चाहिए तथा कमजोर होने पर विग्रह कर लेना चाहिए। यदि दोनों समान स्थिति में हैं तो आसन को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि राजा स्वयं को सक्षम एवं तैयार समझता है तो उसे यान (चढ़ाई) का सहारा लेना चाहिए। समय, परिस्थितियों के अनुसार नीति में परिवर्तन करके राष्ट्रहित को साधना चाहिए। कौटिल्य की मान्यता थी कि समय के साथ षाड़गुण्य में परिवर्तन किया जाना चाहिए। कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति इस प्रकार हैः-

1.संधिः- कौटिल्य के षड़गुण्य नीति का पहला एंव महत्वपूर्ण तत्व है। कौटिल्य का मत है कि यह दो राजाओं के मध्य हुआ समझौता है। यह राजा के द्वारा किया गया उपक्रम है जिसका उद्देश्य अपने को बलशाली बनाना तथा शत्रु को कमजोर करना है। कौटिल्य ने संधि के लिये निम्न आवश्यक परिस्थितियां बतायी हैः-

1.यदि राजा समझता है कि इससे उसके हित सिद्ध होंगे तथा शत्रु को हाँनि होगी।

2.शत्रु पक्ष के लोगों को कृपा दिखाकर अपने में शामिल करना।

3.शत्रु के साथ संधि कर उसका विश्वास हो जाये तो गुप्तचरों और विष प्रयोग से शत्रु का नाश करना।

4.उत्तम कार्यों के साथ शत्रु के उत्तम कार्यों से लाभ प्राप्त करना।

संधि के प्रकारः-कौटिल्य ने अनेक प्रकार की संधियों का उल्लेख किया है। इसमें से कुछ प्रमुख संधि इस प्रकार हैः-

हीन संधिः- हीन संधि एक विशेष प्रकार की संधि है जो बलवान राजा के साथ एक कमजोर राजा अपनी सुरक्षा और हित सवंर्धन के लिये करता है।

दंडोपनत संधिः- कौटिल्य ने इसके तीन प्रकार बताये है-

अमिष संधिः- जब पराजित राजा विजयी राजा के समक्ष अपनी सेना, धन के साथ सर्मपण कर दे तो उस संधि का अमिष संधि कहते है।

पुरूषांतर संधिः- अपने सेनापति तथा राजकुमार को विजयी राजा को सौंपकर जो संधि की जाती है उसे पुरूषंकर संधि कहते है।

अदृश्य पुरूष संधिः- यह एक विशेष संधि होती है जिसमें यह निश्चित होता है कि विजयी राजा के हित के लिये पराजित सेना या राजा उपक्रम करेगा। यह संधि अदृश्य पुरूष संधि कहलाती है।

देशोपनत संधिः- देशोपनत संधि के निम्न प्रकार होते है-

परिक्रय संधिः-यह वह संधि होती है जिसमें बलवान राजा द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किये गये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को धन देकर छोड़ा जाता है।

उपग्रह संधिः- यह वह संधि है जिसमें धनराशि निश्चित हो जाती है। यह किस्तवार धन अदा करने बल देती है।

सुवर्ण संधिः- सुविधानुसार निश्चित समय पर नियमित धनराशि देने की संधि सुवर्ण संधि कहलाती है।

कपाल संधिः- यह वह संधि हैं जिसमें संपूर्ण धनराशि तत्काल अदा करने की शर्त होती है। इसे कपाल संधि कहते है।

परिपणित देश संधिः- यह एक प्रकार की रणनीतिक संधि दो राज्यों के बीच होती है। इसमें दो राज्य रणनीति के तहत अलग-अलग दो राज्यों पर हमला करते है।

परिपणित काल संधिः- यह समय (काल) को आधार पर की गई संधि होती है। इसमें दो राज्य एक निश्चित समय पर कार्य करने पर सहमत होते है।

परिपणित कार्य संधिः- यह दो राज्यों के बीच एक निश्चित कार्य को करने का समझौता होता है। इसमें अपने-अपने हिस्से का कार्य तय हो जाता है।

मित्र संधिः- यह एक अलग प्रकार की संधि है जो दो मित्र राजाओं के बीच परस्पर हित पूर्ति के लिये की जाती है।

विषम संधिः- यह दो राज्यों के बीच दो अलग-अलग कार्यों को करने का समझौता है। इसमें एक राज्य हिरण्य का तथा दूसरा भूमि का कार्य करता है।

अति संधिः- यह विशेष संधि है जो उम्मीद से अधिक लाभ प्राप्त होने का प्रतीक है।

भूमि संधिः- यह दो राज्यों के बीच भूमि प्राप्त करने हेतु किया गया समझौता है। इसे भूमि संधि कहते है।

हिरण्य संधिः- यह हिरण्य लाभ के लिये की गई संधि है। यही कारण है कि इसे हिरण्य संधि कहते है।

विग्रह या युद्धः- यह राजा की महत्वपूर्ण नीति है। राजा को युद्ध का सहारा तभी लेना चाहिए जब उसे लगे कि शत्रु कमजोर हो गया है। कौटिल्य ने आगे स्पष्ट किया है कि यदि विजीगीषु राजा को यह लगे कि संधि और विग्रह दोनों से ही समान लाभ प्राप्त हो रहा है तो उसे विग्रह के स्थान पर संधि का सहारा लेना चाहिए।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि युद्ध के लिये एक शक्तिशाली सेना आवश्यक है। उसने सेना के चार अंग बताये है- पैदल सैनिक, हाथी, घोड़े , रथ आदि। कौटिल्य उक्त चारों में हाथी पर अधिक बल देता था। सैनिकों की भर्ती के संबंध में वह वंशानुगत सैनिकों को अधिक महत्व देता था। वह क्षत्रियों को अधिकाधिक सेना में रखने का पक्षधर था। यदि संख्या कम हो तो वह वैश्य एवं शूद्रों को भी शामिल करने पर बल देता है।

कौटिल्य ने विजय प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के बल को आवश्यक बताया। ये नैतिक बल, अर्थ बल तथा कूटनीतिक बल है। इसमें से वह नैतिक बल अथवा उत्साह शक्ति पर अधिक बल देता था।

युद्ध के प्रकार - कौटिल्य ने युद्ध के निम्न प्रकार बताये है-

1.प्रकाश युद्धः- यह युद्ध किसी देश या समय को निश्चित कर किया जाता है।

2.लूट युद्धः- यह छोटी सेना को बड़ा दिखाकर किया गया युद्ध है। इसमें किलों को जलाना, लूटपाट करना, धावा बोलना आदि शामिल है।

3.तूष्णी युद्धः- विष या औषधि के माध्यम से शत्रु को नाश करने का तरीका तूष्णी युद्ध कहलाता है। युद्ध का उपयुक्त समयः- कौटिल्य ने युद्ध की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उसने वर्ष के बारह महीनों का विश्लेषण कर उचित समय का वर्णन किया है। उनका मानना था कि युद्ध में अधिक समय लगने की स्थिति में पौष में, मध्यम समय लगने की स्थिति में चैत्र में, अल्प समय लगने पर जेठ युद्ध का श्रेष्ठ समय है। वह वर्षाकाल को युद्ध के लिये घातक मानता है। यदि भू-प्रदेश अनुकूल है तथा युद्ध टाला नहीं जा सकता तो इस समय भी युद्ध किया जा सकता है।

युद्ध का प्रबंध तथा नियमः- कौटिल्य युद्ध के व्यापक प्रबंध का पक्षधर था। वह मानता था कि युद्ध भूमि में सभी आवश्यकता की पूर्ति का प्रबंध युद्ध से पूर्व कर लेना चाहिए। यह सभी प्रबंध युद्ध भूमि में तैयार रहना चाहिए। इसमें आवश्यक औषधि सामग्री, वैद्य, खाने-पीने की सामग्री , रसोइयों तथा सैनिकों को खुश करने वाली महिलायें भी शामिल है। कौटिल्य युद्ध मैदान के कुछ नियम तय करता है। उसकी मान्यता है कि युद्ध में घायल सैनिकों, भागते सैनिकों तथा आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत एवं गिरे हुए मनोबल वाले सैनिकों को भी नहीं मारना चाहिए।

विजयी राजा के प्रकारः- कौटिल्य ने विजीगीषु राजा के तीन प्रकार बताये है-

1.धर्मविजयीः- धर्मविजयी गौरव एवं प्रतिष्ठा के लिये विजय प्राप्त करना चाहता है।वह शत्रु द्वारा आत्मसमर्पण करने से संतुष्ट हो जाता है।

2.लोभ विजयीः- लोभ विजयी वह राजा होता है जो भूमि एवं धन दोनों देने से संतुष्ट हो जाता है।

3.असुर विजयीः- असुर विजयी राजा वह होता है जो आसुरी प्रवृतियों से युक्त होता है। इसमें वह धन , भूमि, प्राण तथा स्त्री आदि को पाकर ही संतुष्ट होता है।

यान -

यान का अर्थ होता है आक्रमण। इस नीति को तभी अपनाया जाता है जब यह लगे कि उसकी सैनिक शक्ति मजबूत है तथा बिना आक्रमण किये शत्रु को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में यान का व्यापक वर्णन किया है।

आसन या तटस्थताः- यह वह अवस्था है जिसमें उचित समय की प्रतीक्षा में राजा चुपचाप तटस्थ होकर बैठा रहता है। यह अपने को मजबूत करते हुए शत्रु पर आक्रमण करने के साही समय की प्रतीक्षा है। कौटिल्य ने आसन के दो प्रकार बताये हैः-

1.विग्रह आसन

2.संघाय आसन

विग्रह आसनः- जब विजीगीषु(विजयी) और शत्रु दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते है तथा परस्पर एक दूसर को नष्ट करने की शक्ति न रखते हो तो कुछ काल युद्ध कर चुप बैठ जाते है।

संधाय आसन

जब दोनों राजा एक संधि कर चुपचाप बैठ जाते है तो उसे संधाय आसन कहते है।

संश्रयः

यह एक प्रकार का आश्रय या शरण है जो कमजोर राज्य बलवान राजा के यहां लेता है। यह तभी होता है जब राजा बेहद कमजोर हो तथा अपनी रक्षा करने में में असमर्थ हो।

द्वैधीभावः

द्वैधीभाव की नीति से कौटिल्य का आशय एक राज्य के प्रति संधि तथा दूसरे के प्रति विग्रह नीति को अपनाने की नीति है। यह राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक से सहायता लेने तथा दूसरे से लड़ने की नीति है। वह विशेष परिस्थितियों में विशेष नीति अपनाने का पक्षधर था। विदेश नीति के संचालन में वह साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की नीति के अपनाने का पक्षधर था। इन चारों में वह साम (समझाना) दाम (पैसे देना) से श्रेष्ठ है तथा भेद (फूट डालना) दण्ड (युद्ध से) श्रेष्ठ है।

षाड़गुण्य नीति का मूल्यांकनः- कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति का निम्न आधार पर आलोचना की जाती हैः-

1.आधुनिक समय में यह विदेश नीति अनुपयुक्त है। इसे व्यावहारिक नहीं माना जा सकता है।

2.इसमें अनैतिक माध्यम, छल, धोखा, आदि पर बहुत बल दिया जाता है।

3.कौटिल्य भूभाग विस्तार का पक्षधर था। वह इसके विस्तार के लिये सदैव प्रयत्नशील रहने का हिमायती था। इसमें हिंसा एवं रक्तपात की संभावना बढ़ जाती है।

मूल्याँकन

कौटिल्य भारतीय राजदर्शन का जनक है। कुछ पाश्चात्य विचारक भी यह मानते है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारक कौटिल्य है। राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य के महत्व को हम निम्न बिन्दुओं के द्वारा दर्शा सकते हैः-

1.कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में पूर्व भारतीय विद्वानों भारद्वाज, मनु, वृहस्पति के विचारों का मिश्रण सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया।

2.कौटिल्य पहला भारतीय विचारक था जिसने राजनीति को धर्म, नैतिकता से अलग एक स्वतन्त्र विषय के रूप में न केवल देखा वरनउसकी व्याख्या भी की।

3.कौटिल्य ने राजनीति का व्यावहारिक एवं यर्थाथवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। उसने केन्द्रीकृत एवं सुदृढ़ शासन की वकालत की। अपने सिद्धान्तों के आधार पर कोई मौर्य वंश की स्थापना की।

4.कौटिल्य ने राज्य के कार्यों का जो वर्णन किया है उसमें लोककल्याणकारी राज्य के बीच निहित दिखायी पड़ते है।

5.कौटिल्य राजतंत्र का समर्थक है परन्तु उसका राजा एक योग्य ईमानदार और नियन्त्रित राजा है। वह कुछ हद तक प्लेटो के दार्शनिक राजा की तरह है।

6.कौटिल्य ने व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसने प्रशासन को 18 भाग में विभाजित किया है। उसका प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण उसकी महत्वपूर्ण देन है।
7.कौटिल्य ने कानून के शासन पर बल दिया। कानून अनुभव तथा आध्यात्म पर आधारित है।
8.कौटिल्य ने न्याय के लिये स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नयाय विभाग की स्थापना पर बल दिया। उसने न्यायधीशों की नियुक्ति एवं कार्यो की स्पष्ट व्याख्या की।
9.कौटिल्य ने दण्ड की व्यापक व्यवस्था की। उसने दण्ड का स्वरूप, दण्ड के निर्धारण सिद्धान्त, प्रकार का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उसका दण्ड सिद्धान्त पूर्णतः व्यावहारिक है।
10.कौटिल्य ने राजपूत तथा राज्य की सीमा के अंदर गुप्तचरों के ऊपर व्यापक वर्णन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह मण्डल सिद्धान्त के द्वारा विदेश नीति संचालन तथा राष्ट्र की सीमा को सुरक्षित रखने तथा विस्तार की नीति को स्पष्ट करता है।
11.उसने धर्म एवं राजनीति पर विचार किया। आंतरिक एवं विदेशनीति धर्म पर आधारित होनी चाहिए। उसने राजनीति को धर्म आधारित बताया परन्तु कुछ स्थानों पर वह उसे स्वतन्त्र भी रखता है। वह धार्मिक संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है।

3.11 कौटिल्य एवं मैकयावेली

कौटिल्य ने पुस्तक ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ तथा मैकियावेली ने अपनी पुस्तक ‘‘दि प्रिंस’’ में अपने राजनीतिक विचारों का उल्लेख किया है। कुछ पाश्चात्य विचारक कौटिल्य को मैकियावेली का अग्रदूत मानते है तथा उसकी तुलना मैकियावेली से करते है। कौटिल्य एवं मैकियावेली में अनेक स्थानों पर समानता दिखती है तथा अनेक स्थान पर असमानता दिखती है। मैकियावेली से समानता वाले प्रमुख तत्व निम्न है-

1.दोनों राजा को असीमित शक्तियाँ देने के पक्षधर है। वे राजा को सर्वोच्च निर्णायक मानते है।
2.दोनों ही राज्य की एकता एवं विस्तारवादी नीति के समर्थक हैं।
3.दोनों ने युद्ध को राज्य की विस्तार एवं विदेश नीति का प्रमुख आधार माना है।
4.दोनों ही कठोर राष्ट्रवादी थे। वे राज्य की एकता स्थापित करने के पक्षधर थे।
5.दोनों ही यर्थाथवादी थे। दोनों के राजनीतिक सिद्धान्त यर्थात पर आधारित थे।
6.दोनों ही विदेश नीति पर बड़ा बल दिया। दोनों ही पड़ोसी राज्य को शंका से देखते हैं।
7.दोनों ने गुप्तचर पर विशेष बल दिया। दोनों गुप्तचरों को राज्य की आंख एवं कान माना। दोनों ने गुप्तचरों का विस्तृत विवेचन किया है।
8.दोनों ने राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिये नैतिकता के उल्लघंन को सही ठहराया है। इसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को सही ठहराया है।

कौटिल्य और मैकियावेली में अंतर:- कौटिल्य एवं मैकियावेली में कुछ बिन्दुओं पर अंतर दिखता हैः-

1.कौटिल्य एक आचार्य था। वह सादा एवं संयमित जीवन का समर्थक था। वही मैकियावेली न तो आचार्य था और न ही सन्यासी था।

2.कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" अपने लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात मौर्य वंश की स्थापना के बाद की वहीं मैकियावेली ने इसकी रचना अपने जीवन के निराशाजनक पल में की थी। उसने प्रिंस की रचना तब की जब वह राजनीतिक रूप से निष्कासित हो चुका था।

3.प्रिंस केवल राजनीति से सम्बन्धित है जबकि "अर्थशास्त्र" राजनीति तथा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ी है।

4.मैकियावेली मानव के प्रति नकरात्मक दृष्टिकोण रखता है जबकि कौटिल्य का दृष्टिकोण निराशाजनक नहीं है।

5.मैकियावेली का मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है जबकि कौटिल्य का उद्देश्य व्यापक राज्य एवं शासन व्यवस्था का प्रतिपादन करना है।

6.कौटिल्य परम्परावादी है जबकि मैकियावेली आधुनिक है। कौटिल्य राजतन्त्र का समर्थन करता है जबकि मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया है।

7.कौटिल्य ने विदेश नीति पर प्रकाश डाला है। इसके लिये राजदूत आदि का व्यापक वर्णन किया है। जबकि मैकियावेली में इसका अभाव है।

3.12 कौटिल्य एवं यूनानी विचारक

कौटिल्य की पृष्ठभूमि भारतीय थी जबकि यूनानी विचारकों जैसे प्लेटो की पृष्ठभूमि अलग थी। इसके बावजूद दोनों के बीच कुछ समानतायें दिखायी पड़ती है।

1.दोनों ही विचारकों ने राज्य को एक शरीर के रूप में है ।

2.दोनों ने राज्य को आवश्यक बताया। उनका मानना था कि राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने अंतिम उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

3.दोनों ही राजतन्त्रों के समर्थक है। दोनों का राजा दाशर्निक या योग्य राजा है। उनकी मान्यता उसकी योग्यता में है।

4.दोनों की राज्य को व्यक्ति के विकास का माध्यम मानते है।

असमानतायें -प्लेटो एवं कौटिल्य में निम्न बिन्दुओं पर असमानतायें दिखायी पड़ती हैः-

1.प्लेटो आदर्शवादी विचारक है तथा उसका दृष्टिकोण काल्पनिक है। वहीं कौटिल्य यर्थाथवादी तथा उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक है।

2.प्लेटो आदर्श राज्य की कल्पना कर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करता है वहीं कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" में राजनैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य एक मजबूत एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना है।

3.प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिये दार्शनिक शासक तथा साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया जबकि कौटिल्य ने साम्यवाद एवं आदर्श राज्य की स्थापना पर बल नहीं दिया।
4.प्लेटो ने स्त्री-पुरूष समानता पर बल दिया परन्तु कौटिल्य ने राजकार्यों में स्त्री सहभागिता पर बल नहीं दिया है।
5.कौटिल्य के “अर्थशास्त्र“ में राज्य के गठन, विदेश नीति, गुप्तचर व्यवस्था, वैदेशिक नीति का व्यापक वर्णन है जबकि प्लेटो के दर्शन में इसका अभाव है।

स्वमूल्याकंन हेतु प्रश्नः-

1. कौटिल्य की पुस्तक का नाम क्या था ?
2. कौटिल्य ने किस राजवंश की स्थापना की ?
3. कौटिल्य किसका महामंत्री था ?
4. कौटिल्य के विचार निम्न में से किससे मेल खाते है?
   I. आगस्ताइन II. मिल III. मार्क्स IV. मैकियावेली
5. निम्न में से किसने मण्डल सिद्धान्त दिया?
   I. कौटिल्य II. प्लेटो III. अरस्तू IV. मार्क्स
6. षाड़गुण्य नीति किसकी देन है?
   I.कौटिल्य II. प्लेटो III. सिसरो IV. आगस्टाइन

3.13 सारांश

कौटिल्य एक यर्थाथवादी प्राचीन भारतीय विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वह राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त देता है जो यूनानी विचारकों के आंगिक सिद्धान्त की तरह दिखता है। कौटिल्य राज्य का प्रशासन कैसे चलाया जाए, राजा को किन नियमों का पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करता है।
कौटिल्य अपनी पुस्तक में विदेश नीति के संचालन की व्यापक योजना प्रस्तुत करता है। वह अपने मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति के द्वारा विदेश नीति तथा पड़ोसी राज्य के साथ संबंध संचालन की व्यापक योजना प्रस्तुत करता है। वह राजदूत की नियुक्ति, गुप्तचरों की नियुक्ति , राजा की दिनचर्या एवं उस पर नियन्त्रण, दण्ड, न्याय आदि विषयों का विस्तृत विवेचन देता है।
कौटिल्य का विभिन्न विषयों पर दिया गया सम्पूर्ण विवेचन यर्थातवादी है। वह एक मजबूत राज्य का निर्माण करना चाहता हैं इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेना की मजबूती तथा विस्तारवादी नीति की वकालत करता है। वह सदैव पड़ोसी देश पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। इसके लिए वह देश के अन्दर मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था तथा गुप्तचरों के माध्यम से सूचना संकलन पर जोर देता है। वह विस्तारवादी नीति का समर्थक था। वह राष्ट्रहित की पूर्ति के लिये साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपनाने का पक्षधर था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कौटिल्य प्राचीन काल का पहला ऐसा विचारक था जिसने राजनीति पर इतना व्यापक और उद्देश्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसने शासन, प्रशासन एवं विदेश नीति संचालन पर दिये विचार सैकणों वर्ष गुजर जाने के बाद भी अत्यंन्त प्रांसगिक है। उसकी कृति अर्थशास्त्र उसकी मानवता को दी गई अमूल्य देन है।

3.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अर्थशास्त्र 2.मौर्यवंश 3. चन्द्रगुप्त मौर्य 4.मैकियावेली 5.कौटिल्य 6. कौटिल्य

3.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
2.समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3.परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4.वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1.वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2.श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

3.18 निबंधात्मक प्रश्न

1.कौटिल्य के प्रमुख राजनीतिक विचारों पर निबन्ध लिखिये ।
2.कौटिल्य के सांप्तग सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।
3.कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त क्या है? उसका विस्तृत विवेचन कीजिये।
4.एक राजनीतिक विचारक के रूप में कौटिल्य की प्रांसगिकता को स्पष्ट करते हुए निबंध लिखिये।
5.अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था पर निबंध लिखिये ।

इकाई 4: स्वामी विवेकानन्द

4.1. प्रस्तावनाः

मानव जीवन के विभिन्न आयामों के अन्तनिर्भरता तथा इनकी समग्रता के साथ एक आदर्श शक्ति, समाज एवं राज्य की कल्पना स्वामी विवेकानन्द के दर्शन की प्रमुख विशेषता रही है। वो अद्वैत वेदान्त के महान प्रतिपादक थे। ब्रजेन्द्रनाथ ने यह प्रमाणित किया है कि विवेकानन्द प्रारम्भ से ही 'परम सत्य' का साक्षात्कार के लिए बेचैन रहते थे। यद्यपि स्वामी जी अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठित विद्वान थे, फिर भी उनके व्यक्तित्व में भक्ति की भावना का प्राधान्य था जैसा कि माधव, बल्लभ आदि वेदान्त के आचार्यो में देखने को मिलता है. विश्व उन्हें एक ऐसे विद्वान के रूप में जानता है, जिसका ज्ञान प्रकाण्ड था और जिसने अपनी इच्छाशक्ति को भारत के पुर्नउत्थान में लगा दिया था। वे ईश्वरीय नगरी के तीर्थ यात्री और दलितों के लिए संघर्ष करने वाले महान योद्धा थे।

4.२. उद्देश्यः

1. विवेकानन्द को एक सामाजिक-राजनैतिक विचारक के रूप में चिन्हित कर सकेंगे।

2. नव वेदान्त के दर्शन को समझ सकेंगे।

3. विवेकानन्द का धर्म, व्यक्ति एवं मानव स्वतंत्रता संबंधी विचार को समझ सकेंगे।

४. विवेकानंद के नारी सन्दर्भ एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार को चिन्हित कर सकेंगे.

4.३. **जीवन परिचय**:

विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, 1863 का कलकत्ता के एक कुलीन क्षत्रीय परिवार में हुआ था। उनका वास्तविक नाम नरेंद्रनाथ दत्त था। वकालत का पेशा पिछली तीन पीढ़ियों से उनके परिवार के जीविकोपार्जन का साधन रहा था। वर्ष 1884 में स्नातक की उपाधि के बाद उन्होंने विधि की पढ़ाई के लिए दाखिला लिया किन्तु युवा नरेंद्र की बौद्धिक अभिलाषा इसमें पूर्ण नहीं होती और 1886 में उन्होंने भौतिक जीवन को त्याग एक संत की भांति जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। अपने स्नातक के दौरान वे श्री रामकृष्ण परमहंस के साथ संबंध में आए और इसके बाद उनका अधिकतर समय उन्ही के साथ ही बीता और परमहंस जी के प्रभाव से ही स्वामी जी ने भौतिक वस्तुओं का परित्याग कर दिया और इसके बाद उनका जीवन एक सन्यासी के रूप में ही बीता है। 1893 के धर्म संसद में उनके भाषण ने उनकी विद्वता एवं दर्शन को अंतर्राष्ट्रीय पहचान एवं स्थापना प्रदान किया। इसके बाद अपने जीवन का सात वर्ष वे विभिन्न सामाजिक कार्यों में व्यतीत करते हैं। वर्ष 1902, उनतालीस वर्ष की अल्पायु में उनका देहांत हो गया।

4.4 **प्रमुख कृतियां:**

1.कर्मयोग,2.भक्तियोग,3.राजयोग,4.प्रेमयोग,5.ज्ञानयोग,6.गीता और कृष्ण7. अ जर्नी टू अब्सोलूट (A Journey to Absolute)

4.5 **रूढ़िवाद का विरोध:**

विवेकानन्द का धार्मिक अध्यात्मवाद रूढ़िवाद की बेड़ियों से ग्रसित नहीं था। मानव जीवन में धर्म की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए तथा उसे मानव में निहित अध्यात्म के गुणों पर आधारित करते हुए, विवेकानन्द ने कर्मकाण्ड एवं भौतिकता से परे अध्यात्मवाद के दर्शन की नींव डाली। भारतीय धर्म स्वरूप के संकुचन से उपजी 'छुआछूत' एवं 'एकाधिकार' जैसी प्रवृत्तियों का उन्होंने खुले रूप से विरोध किया। भारतीय संस्कृति की महानता का प्रसार न केवल सम्पूर्ण भारत बल्कि मध्य एशिया एवं मिस्त्र तक फैला हुआ था और संस्कृति के इस विस्तार में सामाजिक विशेषीकरण, कठोर जातीय संरचना, छुआछूत जैसी कुप्रथा विद्यमान नहीं थी। हिंदू समाज को वृहद शास्त्रीय परम्परा के रूप में परिभाषित करते हुए, विवेकानन्द इन कुरीतियों को सामाजिक एवं आध्यात्मिक पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण मानते हैं, और समाज से इन कुरीतियों के खिलाफ उठ एक आपसी लेन-देन के आधार पर एक समतामूलक समाज की स्थापना का आहवान किया और यही सोच एवं समानता की भावना, समाज की वैचारिक आधार का मूल तर्क होगी।

4.6 **नव-वेदान्तवाद का दर्शन:**

एक संकल्पना के रूप में 'वेदान्त' विभिन्न भारतीय मनीषियों जैसा कि शंकर, रामानुज, माधवचार्य एवं अन्य द्वारा प्रतिपादित विचारों की श्रृंखला को समाहित करता है। इसमें अद्वैत, विशिष्ठवाद एवं द्वंद की शास्त्रीय परम्परा निहित है। 'वेदान्त' संबंधी विवेकानन्द के दर्शन के तीन प्रमुख स्रोत हैं। प्रथम वेदो तथा वेदान्त की महान परम्परा द्वितीय उनका रामकृष्ण (1836-1886) के साथ उनका सम्पर्क तथा तृतीय उनके जीवन का अनुभव।

विवेकानन्द की मेधा विशाल थी। उनको केवल भारत के साहित्य का ही गंभीर ज्ञान नहीं था बल्कि पश्चिम के विचारकों प्लेटो से स्पेंसर तक के तत्वशास्त्रीय साहित्य में भी उनकी अद्भुत गति थी। वे अद्वैत वेदान्त के संदेशवाहक थे और अद्वैत सम्प्रदाय के भाष्यकारों की परम्परा में उनका स्थान है। यद्यपि वे अद्वैतवादी तथा मायावादी थे किन्तु उनकी बुद्धि समन्वयकारी थी इसलिए उनकी व्याख्या की अपनी विशेषताएं है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस से उनका सम्पर्क उनको बुद्ध की तरह रहस्यवादी की ओर उन्मुख किया। दोनों ने ही अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए घोर निग्रह और तपस्या का मार्ग अपनाया था और दोनों ने सत्य का दर्शन करने के लिए तपस्या की थी।

विवेकानन्द के दर्शन का सार 'ब्रह्म' अथवा 'परम सत्य' की धारणा है। ब्रह्म परम सत्य और सर्वोच्च सत्ता है। वह अध्यात्मिक अनुभूतियों के रूप में ही अपने को व्यक्त करता है। विवेकानन्द ने जिस वेदान्त के ब्रह्म को स्वीकार किया, वह न तो हेगेल का स्थूल परमतत्व है, न ही माध्यमिकों का शून्य और न योगाचारियों का अल्पविज्ञान। स्वामी जी माया के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। अतः उनके अनुसार काल, प्रसर तथा कार्य-करण नियम की सार्थकता दृश्य जगत तक ही सीमित है। अपने 'ज्ञानयोग' में उन्होंने मायावाद का अनुप्रेरित तथा अलंकृत भाषा में समर्थन किया है। उनका कहना है कि माया कोई सिद्धांत नहीं है बल्कि तथ्य है किन्तु अनेक आलोचक माया के सिद्धांत को अद्वैत दर्शन का सबसे दुर्बल पक्ष मानते है। शुद्ध तर्क और विज्ञान के आधार पर माया के सिद्धांत का मण्डन करना असंभव प्रतीत होता है। विवेकानन्द ने माया के सिद्धांत का जो खण्डन किया वह भी बहुत कुछ वाक्चातुर्य पर आधारित है।

परमज्ञान की अवस्था में सत् का जिस रूप में दर्शन होता है वही ब्रह्म है। धार्मिक धारणा के स्तर पर वही सत् ईश्वर है। वे कहते हैं कि - अद्वैत दर्शन में सम्पूर्ण विश्व एक सत्ता है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। वही सत्ता जब विश्व के मूल में प्रकट होती है तो उसे ईश्वर कहा जाता है। वहीं सत्ता जब इस लघु विश्व अर्थात शरीर के मूल में प्रकट होती है तो आत्मा कहलाती है।..... सार्वभौम आत्मा जो प्रकृति के सार्वभौम विचार से परे है। वहीं ईश्वर-परमेश्वर है।

विवेकानन्द पर सांख्य दर्शन का भी प्रभाव था। जीवों की अनेकता का सिद्धांत उन्होंने सांख्य से लिया, किन्तु सच्चे अद्वैतवादी की भांति उनका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा सब जीव ब्रह्म ही है।

भौतिक एवं मानसिक बंधनों में बंधे हुए आत्मा को जीव के संसर्ग से उनमे विकार उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु वह ईसाई धर्म की इस मान्यता को नहीं स्वीकारते कि आत्मा स्वभावतः पापी है। इसके विपरीत उनका यह मानना था कि मनुष्य के कर्मों से जो प्रभाव और प्रवृत्तियां (संस्कार) उत्पन्न होते हैं उनका समग्र ही उनका चरित्र है। इस प्रकार मनुष्य का कर्म ही उसका चरित्र है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, इसलिए यदि आंतरिक और बाह्य प्रकृति को नियंत्रित करने का सतत् प्रयत्न किया जाए तो मनुष्य अवश्य ही ईश्वरत्व की प्राप्ति कर सकता है। उनका कहना था कि सृष्टि में मनुष्य उच्चतम प्राणी है, क्योंकि केवल वही स्वतंत्रता प्राप्त करने के योग्य है।

विवेकानन्द क्षराक्षर मूलंक द्वैतवादी कपिल को भारत के बुद्धिवादी दर्शन का जनक मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि यूनानी दर्शन के विकास पर सांख्य का प्रभाव है। उन्होंने गुणों का अर्थ शक्तियां लगाया है और इस प्रकार सांख्य के कुछ अंशो की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। विवेकानन्द का विश्वास था कि इस सिद्धांत में वेदांत की उस प्रस्थापना की पुष्टि होती हैं कि विश्व में एकात्मक सर्वव्यापी ऊर्जा ही प्रधान है।

4.7 **धर्म, सत्य एवं अहिंसा:**

विवेकानन्द के अनुसार सभी धर्म में जो कुछ भी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं और भविष्य के धार्मिक आदर्शों को उन सभी को एक साथ लेकर चलना पड़ेगा। ईश्वर संबंधी सभी सिद्धांत - सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने सभी धर्मों में निहित मानवीय मूल्यों पर बल दिया है और इस आधार पर धर्मों की एकता पर विश्वास करते हैं। उन्होंने धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया है। उनका कहना है कि धर्म के मूल लक्ष्य के सन्दर्भ में सभी धर्म एकमत हैं। आत्मा की भाषा एक है जबकि राष्ट्रों की भाषाएँ विभिन्न है, उनकी परम्पराएँ और जीने की शैली भिन्न है। धर्म आत्मा से संबंधित है लेकिन वह विभिन्न राष्ट्रों, भाषाओं और परम्पराओं के माध्यम से प्रकट होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसार के सभी धर्मों में मूल आधार एकता है, यद्यपि उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं।

स्वामी विवेकानन्द धर्म को भारत राष्ट्र का जीवन-केंद्र या प्रधान स्वर मानते हैं। वे मानते थे कि भारतवर्ष धर्म ही जीवन का केंद्र है और वही राष्ट्रीय जीवन रूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे तो वह राष्ट्र काल-कवलित हो जाता है।

अतः विवेकानन्द में धर्म प्रचार को आवश्यक मानते थे। उनका कहना था कि भारतवर्ष में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म प्रचार आवश्यक है। वे कहते हैं "भारत को

सामाजिक अथवा राजनीतिक विचारों से प्लवित करने से पहले आवश्यक है कि उसके आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाए।"

विवेकानन्द के अनुसार, विश्व में सत्य एक है और मानव उसे विभिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। अपने भाषण 'मेरी कार्यविधि' में स्वामी जी कहते हैं ''हमें मानव गठन करने वाला धर्म चाहिए, हमें मनुष्य गठन करने वाले सिद्धांत चाहिए, चारों ओर हमें मानव गठन करने वाली शिक्षा चाहिए।" सत्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए विवेकानन्द कहते हैं 'सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता का स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, जो हृदय के अंधकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।'

विवेकानन्द अहिंसा को श्रेष्ठ मानते है पर हिंसा को सर्वथा त्याज्य नहीं। उनके अनुसार ''गृहस्थ को अपने शुत्र के सामने दृढ़ होना चाहिए और गुरू तथा बन्धुओं के समक्ष नम्र।" विवेकानन्द के अनुसार अहिंसा की कसौटी है, ईर्ष्या का अभाव। स्वामी जी का दर्शन यह सीख देता है कि मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है। उससे मुहँ मोड़ना धर्म नहीं है। वे कहते थे अगर तुम्हे भगवान की सेवा करनी है तो मानव की सेवा करो। वह भगवान ही रोगी मनुष्य, दरिद्र मनुष्य और सब प्रकार के मनुष्यों के रूप में तुम्हारे सामने खड़ा है। इसलिए उन्होंने कहा - 'तुम्हे सिखाया गया है कि अतिथि देवो भव, पितर देवो भव, पर अब मैं तुमसे कहता हूँ दरिद्र देवो भव।'

4.8 **धार्मिक राष्ट्रवादः**

हेगेल की विचारशैली की भाँति विवेकानन्द का विश्वास था कि राष्ट्र एक स्वायत ईकाई है तथा प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्व की अभिव्यक्ति है। धर्म, भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण नियामक सिद्धांत रहा है। वे लिखते हैं कि ''प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्व हुआ करता है, अन्य सब वस्तुएं गौण हैं।" इसलिए उन्होंने राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धांत की नींव का निर्माण करने के लिए कार्य किया। विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन इसलिए किया कि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरू-दण्ड बनेगा। उनका कहना था कि राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है। यदि हम इतिहास की उपेक्षा करते हैं तो हम राष्ट्र के वजूद की ही उपेक्षा करते हैं। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद कर निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर करना होगा। विवेकानन्द कहा करते थे कि अतीत में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति मुख्यतः धर्म के क्षेत्र में ही हुई थी। धर्म ने भारत में एकता तथा स्थितरता को बनाए रखने के लिए एक सृजनात्मक शक्ति का काम किया था; यहाँ तक कि जब कभी राजनीतिक सत्ता शिथिल और दुर्बल हो गई तो धर्म ने उसकी भी पुनः स्थापना में योग दिया। इसलिए विवेकानन्द ने घोषणा की राष्ट्रीय

जीवन का धार्मिक आदेशों के आधार पर संगठन किया जाना चाहिए। उसके विचार में अध्यात्मिकता अथवा धर्म का अर्थ शाश्वत तत्व का साक्षात्कार करना था, सामाजिक मतवादी, धर्मसंघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरानी रूढ़ियों को धर्म नहीं समझना चाहिए। वे कहा करते थे कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है। इसलिए सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किए जाने चाहिए। तभी देश की बहुसंख्यक जनता उन्हें अंगीकार कर सकेगी। अतः राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक सिद्धांत राजनीतिक चिन्तन को विवेकानन्द की प्रथम महत्त्वपूर्ण देन माना जा सकता है। बंकिम की विवेकानन्द भी भारत को एक आराध्य देवी मानते थे और उसकी देदीप्यमान प्रतिभा की कल्पना और स्मरण से उनकी आत्मा जगमगा उठती थी। यह कल्पना कि भारत माता की दृश्यमान विभूति है।

विवेकानन्द एक प्रखर राष्ट्र भक्त थे और वे सभी भारतीयों को राष्ट्र भक्ति की भावना से ओत-प्रोत देखना चाहते थे। वे भारतीय नवयुवकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं 'मेरे भावी देशभक्तों, हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से यह अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों संतान आज पशु तुल्य हो गई हैं।...... यदि हाँ तो जानो कि तुमने देशभक्त होने होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है। इस समस्या के निवारण हेतु कतिप्य पथ निश्चित करना स्वामी विवेकानन्द के अनुसार दूसरी सीढ़ी है और उस पद पर दृढ़ता से चलना देशभक्त की निशानी है।

4.9 **स्वतंत्रता एवं निर्भयता:**

राजनैतिक परिपेक्ष्य में 'स्वतंत्रता की धारणा' विवेकानन्द की एक महत्त्वपूर्ण देन है। उनकी स्वतंत्रता की संकल्पना अत्यन्त व्यापक है। उनका कहना था कि सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्यतः स्वतंत्रता को ही खोज रहा है। वे स्वतंत्रता के प्रकाश को वृद्धि की एकमात्र शर्त मानते थे। विवेकानन्द आध्यात्मिक स्वतंत्रता अथवा माया के बन्धनों और प्रलोभनों से मुक्ति के ही समर्थक नहीं थे, बल्कि वे मनुष्य के लिए भौतिक अथवा बाह्य स्वतंत्रता भी चाहते थे। जॉन लॉक की भाँति वे प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत को मानते थे। उनके अनुसार ''प्राकृतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि हमें अपने शरीर, बृद्धि और धन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने दिया जाए और हम दूसरों को कोई हाँनि न पहुँचाए तथा समाज के सभी सदस्यों को धन, शिक्षा और ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार हो।'' विवेकानन्द के मतानुसार स्वतंत्रता उपनिषदों का मुख्य सिद्धांत था। उपनिषकारों ने शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आदि स्वतंत्रता के सभी पक्षों का डटकर समर्थन किया था। उनको यह आशा थी कि जिस प्रकार अमेरिका की स्वतंत्रता के साथ 'व्यक्ति स्वतंत्रता' का प्रार्दुभाव हुआ उसी प्रकार एक दिन समस्त विश्व में मानव स्वतंत्रता प्रतिष्ठित हो जाएगी। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता का सामाजिक न्याय की बात करने की अपेक्षा उन्होंने उससे भी अधिक बुनियादी आदर्श-शक्ति का संदेश दिया। बिना शक्ति के न हम अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को कायम रख सकते हैं और

न अपने अधिकारों की रक्षा करने में ही समर्थ हो सकते हैं। मनुष्य का चरित्र बाधाओं का प्रतिरोध करने से ही विकसित होता है। उनके विचार में शक्ति के संदेश का ओजपूर्ण समर्थन करना राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का सबसे अच्छा मार्ग था। आत्मबल के आधार पर निर्भय होकर खड़ा होना अत्याचार तथा उत्पीड़न का सर्वोत्तत प्रतिकार था।

4.10**शिक्षा-दर्शन:**

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है। मानव में शक्तियां जन्म से ही विद्यमान रहती हैं। शिक्षा उन्हीं शक्तियों या गुणों का विकास करती हैं। पूर्णतः बाहर से नहीं आती वरनमनुष्य के भीतर छिपी रहती हैं। सभी प्रकार का ज्ञान मनुष्य की आत्मा में निहित रहता है। गुरूत्वाकर्षण का सिद्धांत अपने प्रतिपादन के लिए न्यूटन की खोज की प्रतिक्षा नहीं कर रहा था। वह न्यूटन के मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान था। जब समय आया तो न्यूटन ने केवल उसकी खोज की। अतएव सभी ज्ञान, चाहे वह संसारिक हो अथवा परमार्थिक, मनुष्य के मन में निहित है। वह जब आवरण धीरे-धीरे हटता है तो मनुष्य कहता है कि 'मुझे ज्ञान हो रहा है।

स्वामी विवेकानन्द सर्वहिताकारी, सर्वव्यापी एवं मानव निर्माण करने वाली शिक्षा पर जोर देते थे। वे मानव की स्वतंत्रता को मूल बिंदु मानकर राजनीति से परे मानव निर्माण की योजना के समर्थक थे। शिक्षा को धर्म से जुड़ा मानकर विवेकानन्द ने दोनों की मानव के अंदर पाई जाने वाली प्रवृत्ति को उजागर करना ध्येय माना। मानव कल्याण का मूल बीज शिक्षा को मानकर विवेकानन्द ने शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने की योजना बनाई। उन्होंने शिक्षा की एक उदार एवं संतुलित प्रारूप देश के सामने रखा।

शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने ज्ञान दान को श्रेष्ठ ज्ञान दान बताया। उनके अनुसार चार प्रकार की दान परम्पराएँ: धैर्य दान, ज्ञान दान, प्राण दान और अन्न दान ये प्रथम दोनो श्रेष्ठ हैं। वे ज्ञान विस्तार को भारत की सीमाओं से बाहर ले जाना चाहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित रहस्य या तांत्रिक विद्या की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि 'इन्होंने मानव विवेक को समाप्त कर दिया है। वे आदर्श व्यवस्था की कल्पना करते हुए कहते हैं 'हमें ऐसी सर्वांगसम्पन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके।' वे केवल सूचनाओं के संग्रह को शिक्षा नहीं मानते थे। उनका कहना था 'यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय सबसे बड़े संत और विश्व-कोश ही ऋषि बन सकते।' विवेकानन्द ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं-

1.यह मानव में निहित पूर्णता का विकास करती है।

2.शिक्षा व्यक्तियों में मानवोचित गुणों को निर्माण करती है।

3.मानव पूर्णता प्राप्त कर सकता है यदि उसका शरीर स्वस्थ है।

4.स्वामी विवेकानन्द उसी शिक्षा को शिक्षा मानते थे जो चरित्रवान स्त्री-पुरूष को तैयार कर सके।

5.शिक्षा विद्यार्थी को भावी जीवन के लिए तैयार करती है। विवेकानन्द की दृष्टि में जीवन-संघर्ष की तैयारी के लिए तकनीकी एवं विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है।

6.स्वामी जी एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का विकास करना चाहते थे जो भारतीय विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास कर सके।

4.11 नारी संदर्भ:

अपने समय में स्वामी विवेकानन्द 'महिला सशक्तिकरण' के आयाम को मुख्यधारा में लाने वाले पहले विचारक हैं। उनका कहना था कि किसी भी समाज, सभ्यता या राष्ट्र के विकास का स्तर, वहां की महिलाओं की परिस्थिति से लगाया जा सकता है। एक माँ, शिक्षक, सैनिक एवं न्यायिक रूप में महिलाएं पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलती हैं। मध्यकाल में शिक्षा एवं अन्य सामाजिक जीवन में महिलाओं को दूर रखा गया, जिसके कारण वर्तमान भारतीय समाज में सीता, गार्गी एवं अत्री जैसी विदुषियों का लोप दिखता है। विवेकानन्द स्त्री-पुरूष समानता के समर्थक थे इसलिए महिलाओं की शिक्षा भी उनकी शिक्षा संबंधी योजना में महत्त्वपूर्ण विषय है। उनका मानना था कि देश की उन्नति के लिए महिलाओं की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने तपस्वी, ब्रह्मचारिणी तथा त्यागी महिलओं को प्रशिक्षण देना आवश्यक माना ताकि ऐसी महिलाएं दूसरी महिलाओं को सम्यक शिक्षा प्रदान कर सकें।

महिलाओं की समुचित शिक्षा के लिए विवेकानन्द ने पुरूषों की भाँति महिलाओं के लिए अलग संघ स्थापित करने पर जोर दिया। उनका विचार था कि मठों की स्थापना के माध्यम से वहाँ प्रशिक्षित ब्रह्मचारी स्त्रियां, सन्यासी और सुशिक्षित बनकर नारी जाति को शिक्षा देने का प्रयास करेंगी। शिक्षित भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त कर सकेगी और स्वतंत्र तथा स्वाभाविक रूप से प्रगतिपथ पर अग्रसर हो सकेगी। पुरूषों की तरह स्त्रियों को भी भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक विषयों तथा लौकिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे वे दूसरों तक सम्यक रूप से प्रसारित कर सकें।

वे कहते हैं कि ''जिस तरह माता-पिता अपने पुत्रों को शिक्षा देते है उसी तरह उसे पुत्रियों को भी शिक्षित करना चाहिए। जबकि हम उन्हे प्रारम्भ से ही दूसरों पर निर्भर रहकर परतंत्र रहने की शिक्षा देते हैं। विवेकानन्द के दृष्टि में शिक्षा अनिवार्य रूप से महिलाओं को मिलनी चाहिए, जिसमें वो दूसरों पर निर्भर रहने की बजाय स्वयं अपनी समस्याओं का निराकरण कर सकें। वे लड़कियों की शिक्षा के केंद्र में धर्म को रखने का सुझाव देते हैं। इसके अतिरिक्त इतिहास एवं पुराण, गृह व्यवस्था, कला एवं

शिल्प, बच्चों की उचित देखभाल, पाक कला आदि आदि की शिक्षा देने का सुझाव देते हैं। वे कथाओं से 'सीता' के उज्ज्वल चरित्र से शिक्षा को लेने को कहते है।

4.12 सारांश:

हालांकि भारतीय चिंतन परस्पर मनिषियों एवं विचारकों के आह्वान से कभी भी निर्वात में नहीं रही है किन्तु स्वामी विवेकानन्द के दर्शन ने यूरोपीय एवं अमेरिकी महाद्वीप के बढ़ते बौद्धिक प्रभुत्व एवं उसके साथ भारतीय परम्पराओं पर लगी पिछड़ेपन की छाप को खत्म किया, बल्कि अपने वेदान्त दर्शन के माध्यम से एक उत्कृष्ट मानव समाज की कल्पना प्रस्तुत की, जिसका आधार बिंदु धर्म था, जो रूढ़िवादियों की गुलामी की जंजीर में नहीं जकड़ा होगा, जिसमें मानव स्वतंत्रता समाज का आधार होगी और इस स्वतंत्र चेतना के आधार जिस नए विचार प्रत्युस्फुटिक होंगे जो एक साकार राष्ट्रीय चेतना में अंगीकृत होंगे। स्वामी जी का दर्शन धर्म, अध्यात्म, मानव चेतना एवं कर्त्तव्यों का एक ऐसा ताना-बाना है जो समाज, राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय पटल पर भारतीय अध्यात्म की एक नई परम्परा को स्थापित करता है।

4.13 शब्दावली:

वेदांत: यह ज्ञान योग की शाखा है जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की दिशा में उत्प्रेरित करती है। इसकी तीन प्रचलित शाखाएं हैं - अद्वैत, विशिष्ट और द्वैत।

पूर्व-मीमांसा: शब्द का अर्थ है जिज्ञासा। जिसका मतलब है जानने की लालसा। अतः पूर्व-मीमांसा शब्द का अर्थ है जानने की प्रथम जिज्ञासा।

4.14 संदर्भ ग्रंथ सूची:

1.आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन - डॉ. वी.पी. वर्मा

2.भारतीय राजनीतिक चिन्तक – के. यस. पाण्डेय

4.15 सहायक/उपयोगी सामग्री:

१. स्वामी विवेकानंद- नरेन्द्र कोहली

२. कर्म योग – स्वामी विवेकानंद

4.16 निबंधात्मक प्रश्न:

1. विवेकानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद की एक भारतीय संकल्पना प्रस्तुत की. चर्चा कीजिये.

२. शिक्षा एवं नारी सशक्तिकरण पर स्वामी विवेकानंद के विचारो का परिक्षण कीजिये.

इकाई 5 :अरविंद घोष

5.1 प्रस्तावनाः

श्री अरविंद आधुनिक युग के साधक एवं भारतीय ऋषि परम्परा की उज्ज्वल कड़ी हैं। वे उपनिषदों के विवेचक नहीं हैं बल्कि स्वंय उपनिषादिक सत्य के दृष्टा हैं। उनकी नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यत्मिक उपलब्धियों ने भारत के शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। उनका महाग्रंथ 'द लाइफ डिवाइन' (The life Divine) के प्रकाशन के समय से संसार के प्रमुख विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। आचार्य रविन्द्र नाथ टैगोर कहते हैं कि 'उनके (अरविन्द) द्वारा भारत विश्व को अपना संदेश व्यक्त करेगा। रोम्या रोलाँ अरविन्द को एशिया की प्रतिभा तथा यूरोप की प्रतिभा का सर्वोकृष्ट समन्वयक मानते थे। उनकी रचनाओं से हमें भारत की नवीन तथा उदयीमान आत्मा का धनीभूत सार देखने को मिलता है, जिसमें मानव जाति के लिए उनमें आध्यात्मिक संदेश निहित है। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में एक उग्र उपागम और उससे प्राप्त एक उच्च नैतिक एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उन्होंने पुरजोर समर्थन किया.

5.2 उद्देश्यः

1.अरविंद घोष के मूल ग्रंथों के आधार पर उनके दार्शनिक विचारों को जान सकेंगे।

2.अरविंद घोष के विचारों की पृष्ठभूमि एवं उनके भारतीय संदर्भ का ज्ञान हो सकेगा।

३.अरबिंदो के राष्ट्रवाद के स्वरुप एवं इसमें समाहित मानवीय मूल्यों को रेखाकिंत कर सकेंगे।

5.3 **जीवन परिचय**:

अरविंद घोष का जन्म बंगाल के कलकत्ता (वर्तमान में कोलकाता) में एक सम्पन्न परिवार में 15 अगस्त, 1872 को हुआ। उनके पिता का नाम डॉ. कृष्णधन घोष और माता का नाम स्वर्णलता देवी था। इनके पिता एक डाक्टर थे तथा पश्चिमी सभ्यता से अत्याधिक प्रभावित थे। उन्होंने अरविंद को दोनों भाइयों के साथ दार्जिलिंग के अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया। दो वर्ष बाद सात वर्ष की अवस्था में उनके पिता ने उन्हे आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेज दिया। अपने चौदह वर्ष के इंग्लैंड प्रवास के दौरान ग्रीक और लैटिन के प्राचीन साहित्य का गंभीर एवं सूक्ष्म अध्ययन किया है। उन्होंने होमर से लेकर गेटे तक यूरोप के कुछ महान आचार्य की रचनाएं मूल भाषा में पढ़ी। इंग्लैंड में अरविंदो बरोड़ा नरेश के संपर्क में आए। बड़ौदा नरेश उनकी प्रतिभा देखकर अत्यंत प्रभावित हुए और उन्होंने अरविंदो को अपना निजी सचिव नियुक्त कर लिया। 1892 में भारत लौटने पर उन्होंने बड़ौदा और कोलकाता के विभिन्न प्रशासकीय एवं प्राध्यापिका पदों पर कार्य किया। 1905 से 1910 तक अरविंदो ने बंगाल के राष्ट्रीय आंदोलन के नेता के रूप में राजनीतिक कार्यों में अपना जीवन बिताया। अलीपुर जेल के एकांत निवास में उन्हे रहस्यवाद दृश्यों के दर्शन हुए थे जिसे उन्होंने स्वीकार किया। राजनीतिक नेता एवं लेखक के रूप में वे प्राचीन वेदान्त एवं आधुनिक यूरोपीय राजनीतिक दर्शन का समन्वय करना चाहते थे। उनका राजनीतिक वेदान्त एक पराधीन राष्ट्र के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के पुनर्निमाण का ठोस राजनीतिक दर्शन है।

5.4 **प्रमुख कृतियां**:

1.द लाइफ डिवाइन ,2.एसेज ऑन द गीता ,3.द सिन्थैसिस ऑफ योग,4.सावित्री

5.5 **राजनीतिक लक्ष्य एवं पद्धति**:

अरविंद ने कांग्रेस की राजनीतिक पद्धतियों से हटकर जीन सूत्रीय कार्यक्रम की बात कहीः

क) ब्रिटिश शासन का खुला विरोध

ख) विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार एवं

ग) छिपे रूप में सैन्य क्रांति की तैयारी

जब कांग्रेस पार्टी संवैधानिक सुधार की मांग का लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ रही थी, उसी समय अरविंद ने स्वतंत्र भारत के सपने को आगे रखा था और उनका मानना था कि यह सपना सिर्फ सैन्य क्रांति के द्वारा ही संभव है। अरविंद का कहना था कि यहां हिंसा को जायज ठहराया जाना चाहिए क्योंकि यह हिंसा एक राष्ट्र की स्थापना के लिए है न कि आतंक के लिए। यह हिंसा दो आयामों पर केंद्रित होगी - ब्रिटिश सम्पत्ति को जैसे कि पुल, इमारत आदि को नुकसान पहुँचाना, दूसरी चुनिन्दा ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या। इस हिंसा के द्वारा भारतीयों में एक नई प्रकार की स्फूर्ति राष्ट्रीयता की भावना जागृत होगी, जिससे वो भारत में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फैकने के लिए आगे आयेंगे। शायद यही कारण था कि ऐनी बेसेन्ट ने उन्हे भारतीय मनीषी की संज्ञा दी है।

अरविंद ने कांग्रेस पार्टी को सही मायने में एक राष्ट्रवादी संगठन के रूप में परिवर्तित कर दिया था। उनका कहना था कि राजनीतिक स्वतंत्रता इस देश के मूल में है और इस संबंध में किसी भी अन्य प्रकार की युक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती है। बंगाल विभाजन विरोध आंदोलन के दौरान उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध की एक खुली आवाज दी थी, जिसमें स्वदेशी बहिष्कार एवं सरकारी सेवाओं का बहिष्कार शामिल था। अरविंद एवं अन्य समान सोच के क्रांतिकारी की मंशा प्रशासन को पंगु करने की थी। अपने संक्षिप्त राजनैतिक जीवन में अरविंद भारतीयों में एक नई चेतना के संचार का प्रयास करते हैं, जो राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत थी।

5.6 **तत्वशास्त्र**:

दार्शनिक स्तर पर अरविंद भारतीय सन्यासवादी अद्वैतवादी एवं पश्चिम की भौतिकवाद के मध्य एक समन्वय स्थापित करते हैं। यद्यपि उसका मानना था कि भारतीय दर्शन परम्परा अधिक व्यवस्थित एवं सुदृढ़ है किन्तु यह त्याग एवं मोक्ष के तत्व पर अधिक बल देती है, जिसके परिणाम स्वरूप यह हुआ कि जीवन के शुद्ध लौकिक क्षेत्रों में भारत संसार के अन्य देशों के साथ प्रतिस्पर्धा में सफल नहीं हो सका। वहीं पश्चिमी दर्शन पदार्थों का आनद एवं भौतिकता पर अत्याधिक बल देता है। उनका मानना था कि भारतीय एवं यूरोपीय दर्शन परम्परा दोनों ही अपनी दृष्टि में चरम हैं और दोनों के मध्य एक समन्वय स्थापित करके एक मध्यम मार्ग स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार के समन्वय दर्शन में आत्मिक एवं भौतिक तथ्वों का समान महत्त्व होगा। अरविंद के अनुसार व्यक्ति संसारिक जीवन के विभिन्न दायित्वों के निर्वहन के साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयासरत हो सकता है।

उनके अनुसार परम सत्य एक आध्यात्मिक तत्व है। वह केवल अविचल, अलक्ष्य, अनिर्देश्य, अनुभावातीत और अपरिवर्तनशीन सत्ता नहीं है अपितु उसमें गतिशील उत्परिवर्तन तथा बहुल (अनेकता) के बीज विद्यमान रहते हैं। अतः विविधता भी उतनी ही वास्तविक है। जितना की एकता। बाह्य जगत सत्ता की वास्तविक सृष्टि है, वह कल्पना की मनोगत सृष्टि नहीं है और न शून्य अथवा विराट अनस्तित्व है इसलिए पदार्थ अथवा जीवन के स्वतः दावों का निषेध उचित नहीं है। पदार्थ भी आवरणयुक्त आत्मा ही है। ब्रह्मण्ड के विकास हेतु आत्मा अपनी चेतना का विशेषतः परिसीमन करके अचेतन का रूप धारण कर लेता है। उस अवचेतना से ही विकास का क्रम आरम्भ होता है और उतरोत्तर दृव्य जीवन और चित्र (मन) प्रादुर्भूत होते है। इस प्रकार अरविंद के द्वारा तथा आत्मा का तत्वशास्त्रीय समन्वय कर दिया है।

5.7 **इतिहास एवं संस्कृति का दर्शन**:

एक राजनीतिक विचारक के रूप में अरविंद इतिहास में आध्यात्मिक नियतिवाद के सिद्धांत की स्वीकार्य किया है। उनका मानना था कि आत्मा इतिहास के विभिन्न चरणों को निर्धारित करती है। इतिहास के माध्यम से अपनी दैवीय इच्छाओं को प्रकट करते हैं। इतिहास ब्रह्म की क्रमिक पुनराभिव्यक्ति है। अरविंद काली को परमात्मा की नियामक शक्ति का प्रतीक मानते थे। वे कहते थे

कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों का निर्धारण ईश्वर द्वारा स्वयं किया गया है। यह ईश्वर की ही इच्छा है कि राष्ट्र बनने से पहले भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना हो, जिससे भारतीय हिन्दू स्वः नियंत्रण में प्रशिक्षित हो सके। विपिन चंद्र पाल की भांति उन्हे भी भारतीय पुनरूत्थान के मूल में ईश्वर की इच्छा दिखाई दी। अरविंद के अनुसार फ्रांस की क्रांति भी ईश्वर की इच्छा का ही परिणाम थी। जब क्रांति के नेताओं - मिराबो दांते, रोबिसपियेर, नेपोलियन आदि ने अपने कार्यकलाप में भास्वरा विश्वरूपी सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा स्वरूप काली कह इच्छा (युग की आत्मा) को व्यक्त किया है। तब तक उसने उसे कार्य करने दिया। इस प्रकार का दैवीय न्यायवाद (दैवी न्याय का सिद्धांत) श्रीमदभगवद्गीता के विचारों एवं जर्मन प्रत्ययवाद का समन्वय का प्रतीक है।

अरविंद का मानव संस्कृति एवं सभ्यता का विकासवादी सिद्धांत कार्ल लैम्पनरेच से प्रभावित था हालांकि इस प्रकार की संकल्पना का उल्लेख वेदों और पुराणों में भी देखने को मिलता है। लैम्पनरेच (Lamprecht) ने जर्मनी के राजनैतिक विकास को पाँच चरणों में उकेरा है- 1) प्रारम्भिक चरण का जर्मनी 2) प्रारम्भिक मध्य युग 3) परिक्व मध्य युग 4) पुर्नउत्थान से पुनर्जागरण तक का व्यक्तिवादी युग 5) व्यक्तिपरक चरण जिसकी शुरूआत प्राकृतवाद से शुरू होती है। अरविंद ने लैम्पनरेच के प्रकार सिद्धांत को भारत में लागू किया। अपनी पुस्तक 'द ह्यूमन साईकिल' में अरविंद ने वैदिक युग को भारतीय इतिहास का प्रतीकात्मक युग बतलाया है। वर्ण को वह प्रकारात्मक सामाजिक संस्था मानते हैं और जाति को परम्पराबद्ध सामाजिक रूप। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण पूर्व में भी व्यक्तिवाद का युग आया और अपने साथ बुद्धि तथा स्वतंत्रता का संदेश लाया किन्तु अरविंद का विचार था कि पूर्वी जगत में बौद्धिक युग लम्बा नहीं चल सकता क्योंकि अन्तोगत्वा पूर्व के परम्परागत आत्मनिष्ठावाद की विजय होगी। अरविंद ने सभ्यता एवं संस्कृति के बीच प्रत्यात्मक भेद पश्चिमी चिंतन से ग्रहण किया किंतु उन्होंने उसकी व्याख्या औपनिषद दर्शन के आधार पर की। उनका कहना था कि सभ्यता अर्थात संगठित अर्थतंत्र तथा राजनीति पर आधारित समाज की स्थिति प्राण की अभिव्यक्ति है।

5.8 **राष्ट्रवाद एवं मानव एकता का सिद्धांत**:

अरविंद का ऐसा मत था कि कोई भी देश महानता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है यदि उसके नागरिक, राष्ट्रभक्ति, परार्थवाद एवं निस्वार्थ भावना से राष्ट्र के प्रति समर्पित हो। अरविंद का मत था कि भारत का पुर्नजागरण एवं राष्ट्रीय महता साधारण व्यक्तियों की शक्तियों को उभार कर ही प्राप्त की जा सकती है। वंदे मातरम के अपने एक लेख में वे लिखते हैं कि राष्ट्रवाद साधारण अर्थों में राष्ट्र के अंदर निहित उसे दैवीय एकता की प्राप्ति है, जिसमें इकाई के रूप में उस राष्ट्र के सभी व्यक्ति समान हों। यह समानता कार्यों या दैहिक समानता की ओर इंगित नहीं करती बल्कि राष्ट्र में विद्यमान विभिन्न स्वरूपों में नागरिक संलग्नता के साथ, नागरिक के रूप में एक समानता का प्रयास है।

अरविंद का विचार था कि भारत का पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय महता साधारण जनता की शक्तियों को उभार कर ही प्राप्त की जा सकती है।

अरविंद का राष्ट्रवाद मानव/नागरिक समानता पर बल देता है और एथेंस और रोम के दर्शन की भांति नागरिको के एक विराट हृदय स्वरूप (विराट-पुरूष) की संकल्पना को आगे बढ़ाते हैं जो जाति, वर्ग, लिंग आदि विभेदों से ऊपर उठकर राष्ट्र की चेतना की ओर उन्मुख होंगे। यही कारण था कि उन्होंने नरमपंथियों की कार्यप्रणाली की भर्त्सना की, जो ब्रिटिश शासन को भारत के ही कल्याण के लिए ईश्वरीय विद्यमान मानते थे। उनका कहना था कि देश नए उत्साह और उमंग से स्पंदित हो रहा है, इसलिए जनता की उस विवशता और निष्क्रियता का अंत करने का समय आ गया है, जो विदेशी साम्राज्यवादी कुशासन के कारण उत्पन्न हो गई है।

हालांकि एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद पश्चिम में उत्पन्न होता है किंतु भारत में इस संकल्पना को सांस्कृतिक स्वचेतना एवं राजनैतिक रूप से विदेशी शासन के विरोध के रूप में देखा जा सकता है। एक धर्म के रूप में राष्ट्रवाद आध्यात्मिक है न कि उग्र एवं संकुचित। अरविंद का राष्ट्रवाद संकीर्ण और कट्टरतापूर्ण नहीं था बल्कि उसका विस्तृत व्यापक और महासंधिक था। वे कहा करते थे कि राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है। अंततोगत्वा एक विश्व संघ के द्वारा मानव की एकता स्थापित होनी चाहिए और इस आदर्श की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक नींव का निर्माण मानव धर्म एवं आंतरिक एकता की भावना के द्वारा किया जा सकता है। वैश्विक स्तर पर स्वंतत्र राष्ट्र का एक परिसंघ स्थापित किया जा सकता है, जिसमें राष्ट्रों के मध्य संबंध का आधार समानता होनी चाहिए न कि एक दूसरे पर नियंत्रण। इस प्रकार का मानवता आधारित राष्ट्रवाद विश्व में एक लम्बे समय तक शांति स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण साबित होगा।

5.9 **राजनैतिक दृष्टिकोण**

बेन्थम के उपयोगितावाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया आधुनिक भारतीय राजनीतिक दर्शन की एक बड़ी विशेषता रही है। स्वामी विवेकानन्द एवं तिलक की भांति अरविंद ने 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' के स्थान पर, भारतीय धर्म परम्परा से प्रभावित 'सबके कल्याण' या सर्वभूतहित के आदर्श का प्रतिपादन किया है। अरविंद के अनुसार सत्य की सत्ता आध्यात्मिक है। इसकी भौतिकता के अनुसार वस्तुपरक नहीं बनाया जा सकता है। चूंकि सत्य की सत्ता आध्यत्मिक है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने व्यक्तिगत तथा राजनीतिक जीवन में सभी प्राणियों के कल्याण को साछाकृत करने का प्रयास करें।

अरविंद आधुनिक पूंजीवाद के आलोचक थे। दादा भाई नौरोजी की भांति उन्होंने भारत के वित्तीय संसाधनों का विदेशों में निर्मम एवं साम्राज्यवादी शोषण की निंदा की है। अरविंद के अनुसार आधुनिक पूंजीवाद धन के केंद्रीयकरण को बढ़ाती है। साथ ही इसके कारण सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का विकास होता हे। यह दोनों ही प्रवृत्तियां मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण को बढ़ावा देती है।

साथ ही यह सभी व्यक्तियों के कल्याण में बाधा उत्पन्न करती है। राज्य के कार्यों के प्रकार से नौकरशाही की वृद्धि होगी और उससे अत्याधिक नियमन और प्रोत्साहन मिलता है।

5.10 आध्यात्मिक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता की मानव जीवन में महता को अरविंद ने स्वीकार किया है। भारतीय परम्परा का पालन करते हुए अरविंद ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही वास्तविक रूप से स्वतंत्र है। मनुष्य प्रकृति की यांत्रिक आवश्यकता से तभी मुक्ति पा सकता है। जब तक वह अपने को मानसातीत आध्यात्मिक शक्ति का अभिकर्ता मात्र मानकर कार्य करने लगे। हालांकि अरविंद ने राजनैतिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता की महता को भी स्वीकार किया है किंतु उनका मानना था कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता के बिना यह दोनों प्रकार की स्वतंत्रता मूल्यहीन है। रविंद्रनाथ टैगोर तथा अरविंद दोनों का ही मानना था कि यदि मनुष्य आध्यात्मिक स्वंतत्रता को प्राप्त कर लेता है तो उसे सामाजिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता स्वतः उपलब्ध होती है। अरविंद के अनुसार अपने जीवन के नियमों का पालन करना ही स्वतंत्रता है और चूंकि मनुष्य का वास्तविक आत्म उसका बाह्य व्यक्ति नहीं बल्कि स्वंय परमात्मा है इसलिए ईश्वरीय नियमों का पालन तथा अपने जीवन के नियमों का पालन एक ही बात है। स्वतंत्रता की इस धारणा में रूसों और भगवाद्गीता के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है।

अरविंद का मानना था कि वर्तमान समाज में अत्याधिक गिरावट आई है, जिसके कारण राजनीतिक तथा सामाजिक अराजकता उत्पन्न कर रखी है और उसका निवारण तभी हो सकता है, जब व्यक्तियों में श्रेष्ठ मानवीय गुणों को आरोपित किया जाए। एक उत्कृष्ट समाज की स्थापना उच्च आध्यात्मिक गुणों वाले व्यक्तियों पर होगा। अतः अरविंद का बल व्यक्तियों में उच्च नैतिक गुणों का आरोपण पर अधिक था। उनका कहना था कि अध्यात्मीकृत समाज का शासन आध्यात्मिकता पर आधारित होगा और ऐसे समाज में सबको समृद्ध तथा सुंदर जीवन बिताने का अवसर मिल सकेगा। उनका कहना था कि सामाजिक एवं राजनीतिक कलह, टकराव, अन्तर्विरोध तथा संघर्ष तभी समाप्त हो सकते हैं जब आत्मा में एकात्म की चेतना जाग्रत होः ऐसी चेतना पारस्परिक सहयोग सामंजस्य तथा एकता का संवर्धन करेंगी।

राज्य

अरविंद ब्रिटिश एवं जर्मन आदर्शवादी विचारको जैसे कि टी.एच. ग्रीन, बोसाक्रे, हेगल एवं ब्रैडली के विपरीत राज्य की संकल्पना प्रस्तुत करते है। ये आदर्शवादी राज्य को सम्पूर्ण शक्ति प्रदान करते है और अन्य सामाजिक संस्थाओं जैसे कि परिवार, समाज चर्च आदि को राज्य के नियंत्रण के अधीन ले आते हैं किन्तु अरविंद का मानना था कि परिवार, समाज जैसी सामाजिक संस्थाओं की अपनी विशेष महता होती है और चूंकि समाज व्यक्तिगत चेतनाओं का सम्मुचय है इसलिए समाज को राज्य के पूर्ण नियंत्रण में नहीं छोड़ा चाहिए। इसके विपरीत अरविंद राष्ट्र को समाज की चंतना से

जनित एक संस्था माना है और ऐसे राष्ट्र के लिए 'स्वराज' ही पर्याप्त नहीं है बल्कि इसमें सभी व्यक्तियों में समानता एवं अवसर की समानता होगी।

5.11 **सारांश**

अरविंद भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय राष्ट्रवाद परम्परा के एक महत्त्वपूर्ण विचारक हैं। उनकी नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों ने भारत के समाज विशेषतौर से शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। दर्शन, इतिहास एवं राजनीतिक संस्थाओं के परस्पर संबंध तथा व्यक्तियों के नैतिक चेतना आधारित राजनीति की आधारशिला भारतीय दर्शन परम्परा में अरविंद का विशेष योगदान रहा है। भारत में राष्ट्रवाद को एक धर्म निरपेक्ष भारतीय परम्परा आधारित करने की भूमिका अरविंद ने ही की है और इन अर्थों में इन्होंने समाज एवं राज्य को एक सावयवी स्वरूप प्रदान किया है।

5.12 **शब्दावली**

दार्शनिक अराजकवाद: एक आदर्श समाज की स्थापना द्वारा राज्य की सत्ता को खत्म करना, जिसने व्यक्ति नैतिक चेतना सर्वोपरि होती है।

5.13 **संदर्भ ग्रंथ सूची**

1.आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन - डॉ. वी.पी. वर्मा

2.भारतीय राजनीतिक चिन्तक – के. यस. पाण्डेय

5.14 **सहायक/उपयोगी सामग्री**

१. एसेज ऑन द गीता

२. Political thought of Aurbindo Gosh- M.K.Haldar

5.15 **निबंधात्मक प्रश्न**

1. अरविन्द के राजनितिक लक्ष्य एवं पद्धति पर एक निबंध लिखिए.

२. अरविन्द के राजनितिक विचारों एवं राष्ट्रवाद की संकल्पना की चर्चा कीजिये.

इकाई-6 : महात्मा गाँधी

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

मोहनदास करमचन्द्र गांधी जिन्हें सम्पूर्ण विश्व भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के रूप में जानता है। महात्मा गांधी विशुद्ध दार्शनिक नही थे फिर भी व्यावहारिक जीवन में आन्दोलन के जो साधन और विचार अपनाये उनमें भारतीय दर्शन को लेकर पाश्चात् चिन्तन के कई विचारक का जैसे-टॉलस्टाय, थोरो आदि का प्रभाव था। गांधी जी परम्परागत अर्थों में न राजनीतिक दार्शनिक थे, न ही ऐसा होने का उन्होंने दावा किया।

गांधी जी दार्शनिक से अलग एक क्रियाशील व्यक्ति थे परन्तु उन्होंने समाज और राज्य में मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किये और शक्तिशाली साधनों का विकास किया जिससे राजनीतिक दर्शन में नवीन मान्यताओं का सूत्रपात हुआ और इन्हीं मान्यताओं के आधार पर गांधीवादी विचार धारा का विकास हुआ। गांधी वाद एक ऐसी विचारधारा है जिसके आधारभूत सिद्धान्त है-सत्य और अहिंसा ये सिद्धान्त उसकी आत्मा के प्रतीक हैं जिनके चारों तरफ गांधीवाद रूपी शरीर का ताना-बाना बुना गया है।

महात्मा गांधी ने सदैव अपने को विश्व का नागरिक समझा और उस रूप में अपने कार्यों को अधिक महत्व दिया। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत की राजनीति उनकी प्रयोगशाला थी जिसमें उन्होनें अपने सत्य अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्त का परीक्षण किया। गांधी के संदेश की सार्थकता पर बल देना आवश्यक है। इस युग में जब सामूहिक संहार ने शक्तिशाली वाह्य अस्त्रों ने मानवीय व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया है, गांधी जी मानवीय मूल्यों का संदेश देते हैं। आधुनिक जगत के राजनीतिक आदर्श माल्थस, डार्बिन और नीत्से के इस सिद्धान्त से निर्धारित हो रहे हैं कि जीवन-शास्त्रीय नियमों के अनुसार बलशाली की दुर्बलों पर विजय प्राकृतिक और आवश्यक है। यही कारण है कि आधुनिक बुद्धिवादी के लिए प्रारम्भ में गांधी जी के उस संदेश को अंगीकार करना कठिन हो जाता है। क्योंकि उनका संदेश वेदान्तियों, बौद्धों, स्टाइकों और ईसाइयों की इस धारणा का सार है कि अन्त में विजय सत्य की ही होती है न कि सबसे अधिक बलशाली की। इस युग में जब वीभत्सतापूर्ण आतंक, गोपनीयता की प्रवृत्ति तथा जासूसी पराकाण्ठा पर पहुंच गयी हैं, गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्य और सर्जनात्मकता अहिंसा का संदेश अति पुरातन जान पड़ता है। लेकिन वास्तविकता यही है कि आज बिना संवाद और अध्यात्म के हम उदारीकरण के इस युग में अपने को स्थापित नही कर सकते।

दुनिया की राजनीति में संभावतः महात्मा गांधी ही एक ऐसे अपवाद थे जो आजादी के कर्त्ता-धर्ता होकर भी आजादी के बाद भी सत्ता से दूर रहे। गांधी जी का व्यक्तित्व दुनिया के सभी राजनीतियों से अलग है। कारण उन्होंने जहां सत्ता की राजनीति से अपने को पृथक रखा, वहीं दुनिया का हर

राजनेता सत्ता के पीछे पागल बना रहा। गांधी जी व्यवस्था चाहते थे इसलिए उन्होंने राजनीति में नीति को प्रमुखता दी। सत्य, अहिंसा असहयोग आदि उन्होंने अस्त्र बनाए, जिनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों प्रारम्भ हुई, लेकिन बाद में हर व्यक्ति गांधी- दर्शन का कायल हो गया।

बीसवीं शदी में दुनिया की राजनीति को कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी ने समान रूप से प्रभावित और उद्धेलित किया। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों ने अपने जीवन से एक सौ साल आगे के काल को अपने सामने रखा। यही कारण है कि झंझावतों के बावजूद आज या कल न तो मार्क्स मरेंगे और न गांधी की मौत होगी।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत महात्मा गांधी के जीवन से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायेगा। महात्मा गांधी का जीवन परिचय महात्मा गांधी का राष्ट्रीय आन्दोलन में भूमिका, गांधी जी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार क्या थे। उनके विचारों की वर्तमान वैश्विक संदर्भ में क्या प्रासंगिकता है। क्या गांधी जी के सत्य एवं अहिंसा का सिद्धान्त आज के इस मारक युग में प्रासंगिक है कि नही? आदि बातों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायेगा, गांधी जी के विचारों की गहरी समझ वर्तमान आनुधिक युग में प्रत्येक नागरिक के लिए अति आवश्यक हो जाती है। अतः आप इस इकाई के सम्यक एवं गहन अध्ययन के पश्चात आपः-

1.गांधी जी के महत्व को समझ सकेंगे।

2.गांधी जी के सात्विक जीवन के विषय में जान सकेंगे।

3.गांधीवाद क्या है इसकी समझ हो सकेगी।

4.गांधी जी का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं देश की आजादी में क्या योगदान था यह जान सकेंगे।

5.गांधी जी के जीवन की क्या उपलब्धियां रही हैं और उन्होंने समाज एवं देश को क्या दिया है यह भी आप समझ सकेंगे।

6.गांधी जी 21वीं शताब्दी में क्या प्रासंगिक है। इससे भली-भांति परिचित हो सकेंगे।

6.3 महात्मा गांधी

इस इकाई के अन्र्तगत हम महात्मा गांधी का जीवन परिचय, महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार, गांधी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन, गांधी जी एवं नारी चेतना, तथा राष्ट्र निर्माण में गांधी जी का योगदान आदि विषय पर चर्चा करेंगे। महात्मा गांधी का मार्क्स से तुलनात्मक अध्ययन एवं गांधी जी का 21वीं सदी में उनकी वैश्विक प्रांसगिकता तथा उनकी उपलब्धियां तथा देन आदि विषय पर विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

6.3.1 महात्मा गांधी का जीवन परिचय

महात्मा गांधी एक महान् युग प्रवर्तक महापुरुष थे। उनके जीवन का एक-एक पल लोकहित और राष्ट्र के निर्माण के लिए संपूर्णरूप से समर्पित था। यद्यपि उनका जन्म 02 अक्टूबर 1869 को गुजरात के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था किन्तु अपने समर्पित सादा जीवन और अनुकरणीय कार्यों के परिणामस्वरूप गांधी जी मात्र गुजरात और पोरबन्दर के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के प्रिय और सम्पूर्ण विश्व के अनुकरणीय आदर्श के प्रतीक सिद्ध हो गये। उनके गुण अपने पूर्वपुरुषों द्वारा विरासत में प्राप्त हुए थे। गांधी वंश में उत्तमचन्द्र नामक एक महापुरुष उस समय के सौराष्ट्र नामक राज्य के मंत्री थे। उनके छः पुत्रों में वीरोचित विचारों से युक्त, सत्यवादी और सभी को अपने गुणों और कार्यों से प्रभावित करने वाले करमचन्द्र सबसे अधिक प्रसिद्ध हो गये। उन करमचन्द्र के यद्यपि चार पत्नियां थीं किन्तु पुतली नामक उनकी पत्नी सभी गुणों से युक्त और उत्तम स्वभाव से युक्त एक आदर्श गृहिणी थीं। उन्हीं ने गांधी जी को जन्म दिया जिनका नाम परम्परानुसार मोहनदास करमचन्द्र गांधी हुआ। यही आगे चलकर महात्मा गांधी के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

गांधी अपने शरीर और सुख की कभी चिन्ता नहीं किया। सभी के कल्याण के लिए उन्होंने अपना जीवन सदा के लिए समर्पित कर दिया। अधोलिखित पद्य के भाव उन गांधी जी के संदर्भ में पूर्णतः संगत हैं-

परोपकारैकधियः स्वसुखाय गतस्पृहाः।

परोपकाराव जायन्ते महात्मानों महाव्रताः।।-(संस्कृत मुक्तावली पृष्ठ-12)

ऐसे महाव्रती महात्मा के रोम-रोम के अन्तर्गत उनके माता और पिता के गुणों का अमित एवं अमिट प्रभाव असंख्य गुण उनके दुर्बल शरीर में विद्यमान रहते थे। निर्भीकता और सहनशीलता उनमें भरी पड़ी थी। मतलब भर के काम चलाऊ मात्र वस्त्र धारण कर पद-यात्रा करना तथा सर्वधर्म में समभाव स्थापित करना उनके जीवन का विशेष लक्ष्य था। स्वदेश वस्तुओं और स्वोपार्जित वस्तुओं के प्रति उनका विशेष लगाव हुआ करता था। अपने जीवन को यथार्थ बनाने, स्थिरप्रतिज्ञ होने और दरिद्रता तथा दासता से पीड़ित जनता को मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपना जन्म स्वीकार किया था।

6.3.2 महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के लगभग सभी भारतीय चिन्तकों एवं महापुरुषों का चिन्तन जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध रहा है। भारत की राजनीतिक पराधीनता के फलस्वरूप देश के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण, स्वतंत्रता आन्दोलन छेड़ने के साथ ही देश के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भी सुधार की आवश्यकता अनुभव की गयी, केवल राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई महत्व नहीं था। गांधी जी से पूर्व राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, अरविन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, लोकमान्य तिलक, आदि अनेक सामाजिक सुधारक हो चुके थे। राजा राममोहन राय द्वारा रोपी गयी भारतीय पुनर्जागरण की बेल जिसे पनपाने में स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द आदि ने योगदान दिया था जो गांधी जी के प्रयत्नों से परिपक्व

हुई। राजा राममोहन राय ने नारी उद्धार एवं शिक्षा का उत्थान आरम्भ किया। स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता, शूद्र व नारी शिक्षा, स्व की भावना तथा धार्मिक अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के त्याग का मंत्र तथा वैदिक सभ्यता की रक्षा का आह्वान किया। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय आध्यात्मिकता की रक्षा, पाश्चात्य भौतिक सभ्यता के अनुकरण न करने का परामर्श और सर्वधर्म समन्वय, विश्व-बन्धुत्व एवं सेवा का उपदेश तथा भारत मे सर्वप्रथम प्रबल स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की। सुधारकों ने बाल-विवाह, बहु-विवाह, कन्या-वध, बलात वैधव्य व सती प्रथा समाप्त करने का प्रयास किया। स्त्रियों व शुद्रों के उत्थान के मार्ग की बाधाओं, अन्धविश्वासों एवं प्रचलित रूढ़ियों के विरूद्ध उन्होंने जोरदार आन्दोलन छेड़ा। महात्मा गांधी के जीवन, चिन्तन, शिक्षाओं और कार्यो में भारतीय पुनर्जागरण अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। गांधी जी के अभ्युदय से राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य बदल गया। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजन की दृष्टि में अहिंसा, औद्योगीकरण, शिक्षा, यौन और विवाह सम्बन्धी उनके विचार असंगत (विलक्षण) और पुराने ढर्रे के प्रतीक होते थे। परन्तु उनके निधन के लम्बे समय के बाद वे अद्भुत रूप से आधुनिक प्रतीत होने लगे हैं। अल्पविकसित विश्व की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के सर्वेक्षण के दौरान गुन्नार मिर्डाल ने गांधी जी को समस्त व्यावहारिक क्षेत्रों में एक प्रबुद्ध उदारवादी घोषित किया।

आज की राजनीतिक परिस्थिति में नैतिकता का सर्वथा अभाव है। अहिंसा तथा सत्य के सिद्धान्तों की चर्चा करना मूर्खता समझी जाती है। सामान्यतः शासनतंत्र में भ्रष्टाचार व्याप्त है। समाज का राजनीतिक ढांचा नैतिकता विहीन हो जाय यह गंभीर चिन्ता का विषय है। अतः राजनीतिक संदर्भो पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

गांधी जी ने विकेन्द्रीकरण की बात कहीं थी और उसका कुछ समावेश संविधान में हुआ था। राज्यों को संविधान में बहुत से अधिकार दिये गये थे। उदाहरण के लिए शिक्षा राज्य का विषय थी किन्तु 1976 में उसे समवर्ती सूची में ला दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षा के ऊपर केन्द्रीय नियंत्रण बढ़ गया। वैसे शिक्षा में विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण उसी केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया के अंग थे। सारे देश के लिए एक रूप पाठ्यक्रम बनाना और चलाना उसी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया का एक स्वरूप है।

गांधी जी मुख्यतः व्यक्तिवादी थे और व्यक्ति के प्रति उनकी अपार आस्था थी, यद्यपि पूरे समाज और विश्व को उन्होंने अपने सक एक रूप कर रखा था। वे वास्तव में व्यक्ति और समाज में कोई द्वन्द्ध या भेद नहीं मानते थे। किन्तु आज का युग समाजीकरण का युग है। समाज के सामने व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। समाजवाद के प्रभाव में उत्पादन और वितरण के अनेक क्षेत्रों का समाजीकरण हो चुका है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण समाजीकरण की प्रक्रिया का ही एक अंग हैं। व्यक्ति की पूंजी, सम्पत्ति और सामान्य जीवन पर राज्य का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है। जहां पूंजीपतियों के शोषण की समस्या थी वहां अब राज्य व्यक्ति का शोषण कर रहा है।

वर्तमान समय में पूरा शासनतंत्र भ्रष्ट चुनाव की प्रक्रिया पर आधारित है। करोड़ों रूपये चुनाव में खर्च करके जो पार्टियां गलत तरीकों से सत्ता में आती हैं वे उन लोगों के नियंत्रण में रहती हैं जो चुनाव में उन्हें धन देते हैं। आज राजनीति जनहित के बजाय स्वार्थ और लोक-सेवा के बजाय लोकशोषण पर केन्द्रित है। पदलोलुपता का बोलबाला है और कोई काम बिना घूस के नहीं हो सकता है। इस राजनीति का यदि कोई विकल्प नहीं सोचा जाता है तो नागरिक जीवन सुरक्षित और सुखी रहना असंभव है।

गांधी जी के जीवन का अंतिम चरण द्वितीय महायुद्ध के विषाक्त वातावरण और उसके दूरगामी प्रभावों से आच्छादित था। आज इतने वर्ष के बाद युद्ध के बादल फिर गरज रहे हैं। गांधी जी ने जो अहिंसा का पाठ पढ़ाया था वह संकुचित राष्ट्रवाद पर नहीं बल्कि समस्त मानवता के कल्याण की भावना पर आधारित था। आज राष्ट्रों के

बीच में परस्पर अविश्वास, घृणा और विद्वेष की भावना अधिक बलवती है। इसके अतिरिक्त पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के शोषण के जो तरीके पहले थे वे आज अधिक परिमार्जित और प्रच्छत रूप से प्रभावी हैं।

गांधी जी के राजनीतिक दर्शन में युद्ध का कोई स्थान नहीं था। हर बात में समझौते, सद्भावना और हृदय परिवर्तन से सुलझाना उनके दर्शन का मूलमंत्र था। प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किस राजनीति को अपनाना है-युद्ध की राजनीति अथवा शान्ति की? और आज यह प्रश्न जितना ज्वलंत है और संदर्भ जितना सार्थक है उतना कदाचित् मानव-जीवन के इतिहास में कभी नहीं था।

6.3.3 महात्मा गांधी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन

दक्षिण अफ्रीका से 1918 में भारत आने के बाद गांधी जी ने गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद जिले में साबरमती नदी के किनारे साबरमती आश्रम की स्थापना की। गांधी जी ने गोपाल कृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरू मानकर उन्हीं के निर्देश पर भारतीय राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ किया। 1917 ई0 के चम्पारन सत्याग्रह के अन्तर्गत गांधी ने बिहार के चम्पारन जिले में नील की खेती करने वाले किसानों पर यूरोपीय मालिकों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों के खिलाफ आन्दोलन चलाया जिसमें उन्हें सफलता मिली। इस आन्दोलन में गांधी जी का सहयोग मजरूल हक, आचार्य कृपलानी एवं महादेव देसाई ने किया।आन्दोलन के इन्हीं दिनों में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने सर्वप्रथम गांधी जी को महात्मा की उपाधि दी तथा बापू की उपाधि सुभाष चन्द्र बोस ने दी।

खेड़ा में किसानों पर अधिक कर का बोझ सरकार द्वारा डाले जाने पर गांधी जी ने यहां के किसानों का नेतृत्व किया। उन्होंने 1918 ई0 में खेड़ा में कर नहीं दो आन्दोलन चलाया। साथ ही सत्याग्रह का प्रयोग किया जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें कर की दर कम करवाने में सफलता मिली। 1918 ई0 में गांधी जी ने अहमदाबाद के मिल मजदूरों की वेतनवृद्धि के लिए आमरण अनशन किया। अनशन के चौथे दिन ही सरकार मजदूरों की मांग मानने के लिए विवश हो गयी।

गांधी जी चूंकि गोखले से प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने भारतीय राजनीति में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी के रूप में प्रवेश किया। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार की अभूतपूर्व सहायता की जिससे खुश होकर सरकार ने उन्हें केसर-ए-हिन्द सम्मान से सम्मानित किया। परन्तु शीघ्र ही गांधी जी विदेशी सरकार से निराश होने लगे, फलस्वरूप वे सरकार के सबसे बड़े असहयोगी बन गये। गांधी जी को असहयोगी बनाने के लिए उत्तरदायी कारकों में महत्वपूर्ण थे-रौलट ऐक्ट, जलियावाला बाग हत्याकाण्ड, खिलाफत समस्या आदि। गांधी जी ने 1919 ई0 में खिलाफत आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने अंगेजी को शैतानी लोग कहा और 1920-22 ई0 तक असहयोग आन्दोलन चलाया। 1920 ई0 में यंग इण्डिया एवं नवजीवन समाचार पत्रों की स्थापना की। उन्होंने 1924 ई0 के बेलगांव में हुए कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की। 1930 ई0 में गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अंतग्रत 6 अप्रैल 1930 को 78 अनुयायियों के साथ नमक कानून तोड़ने के लिए डाण्डी समुद्र तट के लिए यात्रा आरम्भ की। 4 मई को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। 26 जनवरी 1931 को एक संधि हुई जिसे गांधी-इरविन समझौता के नाम से जाना जाता है। नवम्बर, 1931 में गांधी जी ने लन्दन में हुए द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस का नेतृत्व किया। गांधी जी दलितों के पृथक निर्वाचन प्रणाली के विरोध में 1932 ई0 जेल में आमरण अनशन किया, फलस्वरूप सरकार को झुकना पड़ा। 7 अप्रैल, 1934 को गांधी जी ने सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनायी। 1940 ई0 में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया जिसके प्रथम सत्याग्रही विनोबा भावे तथा द्वितीय सत्याग्रही जवाहर लाल नेहरू थे। मार्च 1942 में भारत आये क्रिप्स मिशन द्वारा मई, 1942 में प्रस्तुत क्रिप्स प्रस्ताव के बारे में गांधी जी ने कहा कि उत्तरतिथीय चेक ; है। 8 अगस्त 1942 को

गांधी जी ने ऐतिहासिक अंग्रेजों भारत छोड़ों प्रस्ताव को कांग्रेस से पास करवाया, जिसमें उन्होंने करो या मरो का नारा दिया। गांधी जी के सतत् प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप 18 अगस्त 1947 को भारत आजाद हो गया।

6.3.4 महात्मा गांधी एवं नारी चेतना

गांधी के लिए औरतें बेजुबान और गुमनाम महिला शक्ति मात्र नहीं थीं जिसमें शक्ति का संचार किया जाना जरूरी थी, बल्कि उनके लिए महिलाएं उच्चतर मानवीय मूल्यों जैसे करूणा बलिदान का प्रतीक थी। वे उन्हें महज घर की शोभा बढ़ाने वाली वस्तु या गृहस्थी की चक्की में पिसती रहने वाली सदस्य नहीं मानते थे। गांधी जी का कहना था मैं महिलाओं को घरेलू दासता को बहशीपन की निशानी मानता हूँ। मेरे राय में रसोई घर की दासता केवल बर्बरता का ही अवशिष्ट रूप है। अब समय आ गया है कि महिलाओं को इस दासता से मुक्त कराया जाये महिलाओं का सारा समय सिर्फ घेरलू काम में नही बिताना चाहिए।

गांधी जी ने पर्दा, कुप्रथा और नारी की पवित्रता को लेकर महिलाओं की अत्यधिक फिक्र पर भी प्रहार किये। अपनी स्पष्ट वादी शैली में उन्होंने कहा अगर महिलाओं को पुरूषों की पवित्रता के बारे में कुछ कहने का अधिकार हो तो क्या वे भी शुचिता के बारे में इसी प्रकार व्यग्र रहेंगे? अगर उसका उत्तर नहीं में है तो पुरूषों को इस बात का क्या अधिकार है कि वे शुद्धता को लेकर अपनी मर्जी दूसरे पर थोपें। उन्होंने भारत की महिलाओं से आग्रह किया कि वे एक जोरदार झटके के साथ पर्दे को फाड़ डालें, इसी तरह वे कहते थे शुचिता किसी बन्द कमरे में रखकर उगाया जाने वाला पौधा नहीं है, इसे किसी पर थोपा नहीं जा सकता पर्दे की दीवारें बना कर इसे तो अन्दर से उत्पन्न होना चाहिए और अगर शुचित का कोई मूल्य है तो यह यही है कि इसे किसी भी प्रलोभन से बचाने में सक्षम होना चाहिए।

महात्मा गांधी के दर्शन, संघर्ष एवं विचारों ने पूरे भारत में स्वतंत्रता की चेतना को उत्पन्न किया, जिसके फलस्वरूप शताब्दियों से पराम्पराओं की वर्जनाओं में जकड़ी नारी भी आन्दोलन और संघर्ष के मार्ग पर बेधड़क निकल पड़ी। गांधी ने 'यंग इण्डिया', 'हरिजन' आदि रचनाओं और भाषणाओं में नारी को माता, पृथ्वी, गुरू आधी सृष्टि, सहगामिनी आदि कहकर उन्हें सम्मान प्रदान किया। गांधी जी मानते थे कि जब तक आधी आबादी राष्ट्रीय आन्दोलन से नही जुड़ेगी, तब तक यह आन्दोलन जन आन्दोलन नही बनेगा। इसलिए उन्होंने नारियों को सूत कातना, स्वदेशी वस्त्र धारण करना, छुआछूत न मानना, प्रभातफेरी एवं प्रार्थनाओं में अधिकाधिक हिस्सा लेने के लिये प्रेरित किया, उन्हें घर की चहरदीवारी से बाहर निकाल कर सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट कराया। जिससे नारियों में आत्मविश्वास और नेतृत्व का विकास हुआ।

6.3.5 महात्मा गांधी एवं सत्याग्रह आन्दोलन

सत्याग्रह का अर्थ सत्य के प्रति अग्राह या सत्य पर निश्चित रहना है। परन्तु गांधीवादी परिभाषा में ही सत्याग्रह उसके एक राजनीतिक शस्त्र या साधन होने का इशारा है। गांधीवाद के अनुसार सत्याग्रह सत्याप्रति परिभाषा इस प्रकार है- सत्यादि धर्मों का पालन करने का आग्राह और अधर्म का सत्यादि द्वारा ही विरोध। गांधीवादी नजर से सत्याग्रह का उद्देश्य अपने उद्देश्य या विकास के लिये हिंसा किये बिना प्रयत्न करना है। महात्मा गांधी अहिंसा और नानवायलेन्स शब्दों का प्रयोग अपने राजनीतिक आन्दोलनों के कार्यक्रम का रूप बताने के लिये करते थे। उनकी व्यवस्था के अनुसार अहिंसा और नानवायलेन्स का अर्थ अपने उद्देश्य के लिये किसी प्रकार की शारीरिक शक्ति का प्रयोग न करना है। विपक्षी द्वारा अपने विरुद्ध शारीरिक बल का प्रयोग करने पर शारीरिक शक्ति द्वारा आत्म रक्षा या प्रतिकार का उपाय न करके, विरोधी का चोट सह लेना और स्वयं कष्ट सहने के हठ द्वारा विपक्षी को परास्त कर देने का निश्चिय था। शारीरिक शक्ति का उपयोग न करने अथवा स्वयं सह लेने को ही अहिंसा की कसौटी नही मान

लिया जा सकता। शारीरिक शक्ति का प्रयोग किये बिना केवल जिद से दूसरे व्यक्ति को विषम परिस्थिति में डाल देने के व्यवहार को केवल इसलिए सही नही कहा जा सकता, कि शारीरिक शक्ति का उपयोग नही किया जा रहा है, इस प्रकार के व्यवहार को निष्क्रिय हिंसा ही कहा जायेगा। सत्याग्रह का व्यावहारिक अर्थ अपने लक्ष्य या उद्देश्य के लिये शारीरिक शक्ति का प्रयोग किये बिना स्वयं कष्ट सहकर दृष्हता पूर्वक प्रयत्न करना ही है। गांधी जी ने सत्याग्रह के दो रूप माने हैं- पहला व्यक्तिगत सत्याग्रह दूसरा सामूहिक सत्याग्रह। गांधी जी ने **सत्याग्रह के लिये परिस्थिति के अनुसार निम्नलिखित साधनों** को अपनाये जाने का सुझाव दिया है-

असहयोग,सविनय अवज्ञा, स्वेच्छिक पलायन, अनशन या उपवास, धरना, हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार,

गांधी जी ने साधनों की तुलना बीज से की है-साधनों की तुलना बीज से की जा सकती है और साध्य की वृक्ष से। जो अटूट सम्बन्धी बृक्ष और बीज में है वही साध्य और साधन में है। कहा जाता है कि निष्क्रिय प्रतिरोध अर्थात सत्याग्रह दुर्बलों का हथियार है लेकिन सत्याग्रह का केवल ताकतवर ही इसका इस्तेमाल कर सकता है। यह निष्क्रिय प्रतिरोध की शक्ति नहीं है। इसके लिये तो सघन सक्रियता चाहिए, दक्षिण अफ्रीका का आन्दोलन निष्क्रिय नही बल्कि सक्रिय आन्दोलन था। सत्याग्रह शारीरिक बल नही है। सत्याग्रह कभी भी अपने शत्रु को कष्ट नहीं पहुंचाता वह अपने शत्रु का विनाश नही चाहता है। सत्याग्रह के प्रयोग में दुर्भावना के लिये कोई स्थान नही होता है।

सत्याग्रह तो शुद्ध आत्मबल है, सत्य ही आत्मा का आधार होता है, इसलिये इस बल को सत्याग्रह का नाम दिया गया है। गांधी जी ने सत्य, अहिंसा के बल पर ही भारत को आजादी दिलायी। देश एवं विदेश में अपने नाम का लोहा मनवाया।

महात्मा गांधी ने युद्ध और क्रान्ति के बिकल्प के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह के साधन का सफलता पूर्वक प्रयोग किया और यह सिद्ध किया कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में इसका प्रयोग युद्ध एवं क्रान्ति के समय में समान महत्वपूर्ण है। मार्क्स अवलेनिन जिस परिवर्तन को हिंसापूर्ण क्रान्ति से करना चाहते थे, गांधी जी उसे अहिंसक सत्याग्रह से सम्पन्न किया।

6.3.6 गांधीवाद और साम्यवाद या मार्क्सवाद के नैतिक आधार

गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय अर्थात सभी का सर्वांगीण विकास का सिद्धान्त तथा समाजवादी दृष्टिगत कुछ ऐसे ही हैं जिससे यह भय हो सकता है कि गांधीवाद एवं मार्क्सवाद या साम्यवाद प्रायः एक से हैं। हिंसा रहित साम्यवाद गांधीवाद तथा साम्यवाद हिंसायुक्त गांधीवाद है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर ने सन् 1946 में जुलाई के अन्तिम सप्ताह में गांधी जी के पंचगनी में विविध विषयों पर चर्चा की है उस दिन फिशर से गांधी जी ने स्पष्ट कहा था-''मैं अपने आपको साम्यवादी ही कहता हूँ।''

सुप्रसिद्ध गांधीवादी अर्थशास्त्री कुमारप्पा का भी कथन है ''जहां तक हम भौतिक हित के लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करते हैं, साम्यवाद, समाजवाद और गांधीवाद में कोई अन्तर नहीं हो सकता है।'' इससे स्पष्ट होता है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद में कुछ नैतिक आधार सामान्य है जो निम्नलिखित हैं-

1.श्रमिकों के लिए आर्थिक सामाजिक न्याय।

2.आधुनिक समाज व्यवस्था में निम्न वर्गों का शोषण।

3.गांधीवाद और मार्क्सवाद दोनों ही यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से समान होता है और इसलिए सबको समान अवसर पाने का अधिकार है।

4.गांधी जी और मार्क्स द्वारा प्रस्तुत समाज में सभी सदस्य बराबर दर्जे के होंगे।

5.मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों ही विश्वास करते थे कि राजनीतिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता के बिना आधारहीन और अर्थहीन है जहां गांधी जी ने लिखा है ''मेरे स्वराज्य का सपना गरीबों के स्वराज्य का है'' वहां मार्क्स ने ''सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना' के पक्ष में दी है।

6.गांधी वाद और मार्क्सवाद दोनों ही राज्यहीन समाज की स्थापना के पक्ष में थे गांधी जी ने लिखा है कि ''राज्य हिंसा का केन्द्रीकृत और संगठित रूप है'' इसलिए इससे दूर ही रहना उचित है।

7.गांधीवाद और साम्यवाद दोनों ही चाहते हैं कि राष्ट्रीय धन का समान वितरण होना चाहिए क्योंकि इसके बिना समाज में पाई जाने वाली आर्थिक असमानताओं को दूर नहीं किया जा सकता और आर्थिक असमानताओं को दूर किये बिना स्वतंत्रता का कोई भी अर्थ नहीं है।

मार्क्स अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा या क्रान्ति का प्रयोग करते हैं जबकि गांधी जी का साधन पूर्णतया अहिंसात्मक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद के उद्देश्य में प्रचुर समानता है लेकिन उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों में पूर्णतया भिन्नता है।

6.3.7 महात्मा गांधी की 21वीं शताब्दी में प्रांसगिकता

गांधी जी ने भारत की सामाजिक समस्याओं ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था वे समस्याएं जो हमारे सामाजिक ढांचे को खोखला कर रही थी इन समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था, उनकी दृष्टि गहन थी। गांधी जी ने सामाजिक बुराईयां आर्थिक प्रगति और राजनीतिक स्थिरता तथा व्यवस्था को स्थायी रूप से दूर करने का प्रयास किये थे।

गांधी जी जिन्हें लोग प्यार से बापू कहते हैं भारतीय रंगमंच पर 1919 से 1948 तक इस प्रकार छाये रहे कि इस युग को भारतीय इतिहास का गांधीवादी ही कहा जाता है। शान्ति और अहिंसा के दूत, गांधी का संदेश समस्त विश्व के लिये है और उससे मानव जाति प्रभावित है। गांधी जी पहले भी प्रासंगिक थे और आज भी प्रासंगिक हैं और जैसे-जैसे विश्व में विध्वंशक अस्त्र एवं शस्त्रों का विकास होता जायेगा वैसे-वैसे गांधी जी और उनके विचार तथा साधन और प्रासंगिक होते जायेंगे। अफ्रीकी नेता नेन्सन मण्टेला के प्रेणा गांधी जी ही थे अमेरिकी राष्ट्रपति वराकओबामा से लेकर मार्टिन लुथर किंग आदि गांधी जी के प्रसंशक एवं समर्थक हैं। पिछलों दिनों अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने व्हाइट हाउस में अफ्रीकी महादीप के 50 अफ्रीकी देशों के युवा नेताओं को सम्बोधित करते हुये कहा कि आज के बदलते परिवेश में युवाओं को गांधी जी से प्रेरणा लेने की जरूरत है। गांधी एक युग पुरुष हैं भारत की दासता को छिन्न-भिन्न करने वाले निशस्त्र योद्धा हैं, स्वराज के संदेहवाहक एवं दीन-हीन दुखियों के दाता, नारी जाति, अस्पृश्यता, ग्रामीण जनता, श्रमिक वर्ग के लिये उनके हृदय में अपार सम्मान था, उन्होंने मनुष्य की पीड़ा का निकट से अनुभव किया और उसको दूर करने का प्रयास भी किया। गांधी जी राष्ट्र धर्मनिष्ठ थे गांधी जी का पूरा जीवन समाज के हित के लिये लगा रहा, डॉ0 के0एम0 मुन्शी ने गांधी जी के विषय में बताया है कि गांधी जी ने अराजकता पायी एवं व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया, कायरता पायी उसे साहस में बदल दिया अनेक वर्गों के

विभाजन जन समूह को राष्ट्र में बदल दिया, निराशा को सौभाग्य में बदल दिया और बिना किसी प्रकार की हिंसा या नैतिक शक्ति का प्रयोग किये एक साम्राज्यवादी शक्ति के बन्धनों का अन्त कर दिया और विश्व शान्ति को जन्म दिया। विदेशों में तो गांधी के कद्रदानों में काफी बढ़ोत्तरी हुई है, इस शताब्दी में इनकी प्रामाणिकता और बढ़ी है निःसंदेह गांधी प्रासंगिक हैं, आधुनिक एवं नैतिक क्रान्ति के उद्गाता हैं, अध्यात्मिक राजनीति के पुरोधा हैं, शान्ति के संदेह वाहक और अहिंसा के पुजारी हैं, वे मानवतावादी, राष्ट्रवादी एवं नैतिक यथार्थवादी हैं। गांधी एक दर्शन है, एक विचार है, धर्म है, कर्म है, और मानवता तथा विश्व शान्ति का मर्म है।

6.3.8 गांधी जी का सर्वोदय एवं ट्रस्टीशिप की अवधारणा

गांधी के सर्वोदय की जड़े प्राचीन भारतीय दर्शन में थीं। उन्हें वेदान्त की इस धारणा से कि सभी प्राणियों में अध्यात्मिक एकता है और गीता तथा बुद्ध के सर्वभूतहित के आदर्श से प्रेरणा मिली थी। सर्वोदय का व्यापक आदर्शवाद, लॉक के बहुसंख्यावाद, मार्क्स गुप्लोवित्भ के वर्ग और जातीय संघर्ष के सिद्धान्त तथा वेन्थम के 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' के आदर्श के विरूद्ध है। एक दृष्टि से प्लेटों और गांधी में बहुत साम्य है प्लेटों ने अपनी रिपब्लिक में काल्पनिक आदर्शवाद का प्रतिवादन किया है। किन्तु लॉज तथा स्टेट्समैन में उसने मानव स्वभाव तथा सामाजिक व्यवस्था की यथार्थवादी आवश्यकता का ध्यान रखा है।

गांधीवादी सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार एक आदर्श समाज में न केवल मजदूरों के ही, बल्कि समाज के विभिन्न व्यवसायों में लगे हुये नागरिकों के भी पारिश्रमिक समानता होनी चाहिए। समाज के सभी लोगों को अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुसार साधन मिलने चाहिए। इस प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयों के स्थायी उपचार के लिए गांधी जी ने वकील, डाक्टर, अध्यापक और मंत्री आदि सभी पेंशों के लोगों को समान पारिश्रमिक देने का एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त संसार को दिया।

श्रम-विभाजन के इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त के अनुसार प्रथम चरण में प्रत्येक मनुष्य की अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए साधन होना चाहिए। कहीं भी अनावश्यक संग्रह न हो। आर्थिक समता के प्रारम्भिक आधार के रूप में प्रत्येक परिवार के लिए संतुलित भोजन, स्वच्छ आवास, चिकित्सा-व्यवस्था तथा बच्चों की शिक्षा की सुविधा आवश्यक है। आर्थिक समता से गांधी जी का यह अभिप्राय नहीं है कि सभी व्यक्तियों की सम्पत्ति बिल्कुल समान रूप से बंट जाय। ऐसी समता न तो सम्भव ही है, न उचित ही। ऐसी समता का केवल सांख्यिक महत्व होगा। अरस्तु की तरह आनुपातिक समानता के सिद्धान्त को गांधी जी नहीं मानते थे। अरस्तू के अनुसार गुण और उपलब्ध को ध्यान में रखकर समता की स्थापना होनी चाहिए। गांधी जी के इस कथन से वकील और भंगी को समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए। इससे साफ जाहिर है कि वे अरस्तू के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। आर्थिक समता लाने के चर्खा और उससे संबंधित उद्योगों का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। इनके सहारे बहुत हद तक सामाजिक तथा आर्थिक समता प्राप्त हो सकती है। गांधी जी व्यक्तिगत शारीरिक श्रम पर जोर देते थे। उन्होंने लिखा है, ''मेरी योजना के अनुसार राज्य सिर्फ नागरिकों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए ही रहेगा। राज्य न तो जनता पर अपना हुकुम लादेगा और न वह अपनी मरजी के मुताबिक काम करने के लिए उन्हें बाध्य ही करेगा। घृणा को हटाकर प्रेम की शक्ति से लोगों को अपने विचार के अनुकूल बनाते हुए मैं अहिंसा के जरिये आर्थिक समता की स्थापना करूँगा । जब तक पूरा समाज मेरे विचार के अनुकूल नहीं हो जाता तब तक मैं इन्तजार नही करूँगा बल्कि स्वयं इसे शुरू कर दूँगा। यदि मैं खुद 50 मोटरकार या 10 बीघे भूमि का मालिक रहूँ तो यह साफ जाहिर है कि मैं अपने सिद्धान्त के अनुरूप आर्थिक समता नही ला सकता। उसके लिए मुझे अपने को सबसे गरीब आदमी के स्तर पर लाना होगा।

संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त-महात्मा गांधी आर्थिक विषमताओं का अन्त करने के पक्ष में थे, लेकिन वे आर्थिक समानता स्थापित करने के साम्यवादी ढंग से सहमत नहीं थे, जिसके अन्तर्गत धनिकों से उनका धन बलपूर्वक छीनकर उसका सार्वजनिक हित में प्रयोग करने की बात कही जाती है। गांधी जी का विचार था कि हिंसात्मक होने के कारण साम्यवादी पद्धति उपयोगी नहीं हो सकती और पूंजीपति वर्ग को पूर्णतया नष्ट कर देने से समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा। इस सम्बन्ध में गांधी जी का विचार था कि यदि सत्य और अहिंसा के आधार पर सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति ली जा सके तो ऐसा अवश्य ही किया जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में गांधी जी ने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका यह मतलब है कि धनी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक जमीन, जायदाद, कारखाने तथा विविध प्रकार की सम्पत्ति का अपने को स्वामी न समझे अपितु इसे समाज की अमानता या धरोहर माने, उसका उपयोग अपने लाभ के लिए नहीं अपितु समाज के कल्याण के लिए करें। गांधी जी का यह सिद्धान्त अपरिग्रह के विचार पर आधारित है। अपरिग्रह का अर्थ है कि मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि किसी के पास अधिक सम्पत्ति हो गयी है तो उसे उसको अपनी न समझ कर ईश्वर की तथा समाज की समझनी चाहिए। संसार की सभी वस्तुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है, मनुष्य को अपने परिश्रम और आवश्यकतानुसार इसमें से अपना हिस्सा लेने का अधिकार है। अतः वह किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी नहीं अपितु उसका संरक्षक मात्र है।

गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के अनुसार धनी लोगों को स्वेच्छापूर्वक यह समझना चाहिए कि उनके पास जो धन है, वह समाज की धरोहर है, वे उसमें से केवल अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि ही ले सकते हैं। शेष सारी धनराशि उन्हें समाज की दृष्टि से हितकर कार्यों में लगा देनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि धनी अपनी जीवन निर्वाह से बची हुई सम्पत्ति को निर्धन व्यक्तियों में बांट दे। ऐसा करने पर तो यह सम्पत्ति उपभोग में आकर शीघ्र नष्ट हो जायेगी। अतः धनिक वर्ग अपनी फालतू सम्पत्ति को ऐसे उद्योग-धंधो में लगाये, जिनमें साधारण जनता को रोजगार मिल सके।उन्हें दूसरो को काम देकर तथा उत्पादन बढ़ाकर अपनी पूंजी का सदुपयोग सार्वजनिक हित के कल्याण एवं वृद्धि के लिए करना चाहिए। वे इसे तालाब, विद्यालय, चिकित्सालय, आदि बनाने के जनकल्याणकारी कार्यो में भी लगा सकते हैं। जमींदारी अपनी फालतू जमीन भूमिहीन निर्धन व्यक्तियों को जोतने, बोने के लिए दे सकते हैं।

वे सहजता, ग्रामीणता, कुटीर उद्योग, ट्रस्टीशिप स्वावलम्बी जीवन श्रमशील आचरण और सर्वोदयी विचार के थे। सर्वहारा के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया भी। उनके हरिजन आन्दोलन, अस्पृश्यता निवारण, नारी जागरण, किसान आन्दोलन आदि इसी क्रम में आते हैं। हरिजन मार्च 31, 1946 भूमि के अधिकार के सम्बन्ध में गांधी जी का यह सिद्धान्त उनके दूसरे सिद्धान्त के विपरीत पड़ता है कि जमींदार किसानों के न्यासधारी (ट्रस्टी) हैं। 1939 ई. में द्वितीय गोलमेज परिषद की संघीय व्यवस्था समिति में भाषण करते हुए गांधी जी ने कहा था ''गांधी ने इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। इसके लिए दर्शनीय है। एक सीमा तक वे मार्क्सवाद को मानते थे। गांधी जी का आदर्श ऐसे समाज की स्थापना करना था, जो पारस्परिक सक्रिय प्रेम एवं सामजस्य पर आधारित हों वह पूर्ण आस्तिक (ईश्वरवादी) हो, क्योंकि सभी ईश्वर की संतान हैं। रस्किन के इस सिद्धान्त को उन्होंने भी माना है कि जो प्रथम को मिलता है-वही अन्तिम को भी मिलना चाहिए। सर्वोदयी विचार को उन्होंने सदैव सम्मान किया है।

6.3.9 गांधी जी का सत्याग्रह सम्बन्धी अवधारणा-

सत्याग्रह शारीरिक शक्ति नहीं हैं, यह आत्मबल है। अतः यह शक्ति सत्याग्रह कहलाती है। जिसमें ज्ञान और प्रेम की लौ उजागर रहती है। यदि कोई अज्ञानवश हमें कष्ट देता है तो हम उसे प्रेम से जीतेंगे यही सत्याग्रह है। महात्मा गांधी भारतीय राजनैतिक मंच पर 1919 से 1948 तक इस प्रकार छाए रहे हैं कि इस युग को भारतीय इतिहास का गांधी युग कहा जाता है। शान्ति और अहिंसा के दूत गांधी का संदेश समस्त विश्व के लिए हैं। उससे सम्पूर्ण मानव जाति प्रभावित हुई।

गांधीवादी विचारधारा राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने सदैव अन्याय के विरूद्ध आवाज उठायी है। गांधी जी के प्रयासों से भारतीयों ने अपना विरोध प्रकट करने के लिए पारस्परिक तरीकों को नहीं चुना बल्कि गांधी जी ने भारतीयों को विरोध प्रदर्शित करने का एक नवीन मार्ग सुझाया। यह मार्ग था सत्याग्रह।

गांधी जी का सत्याग्रह-दर्शन सत्य के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है। यदि सत्य ही परम तत्व है तो उसके पुजारी का पुनीत कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके आधारों की रक्षा करें। ईश्वर ही परम सत्य है अतः ईश्वर भक्त के लिए आवश्यक कि है वह पूर्णतः विनम्र और स्वार्थरहित हो। उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के लिए संघर्ष करने को अजेय कल्प तथा साहस होना चाहिए तभी वह अपनी सच्ची नैतिक भावना का प्रमाण दे सकता है।

सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरूद्ध शुद्धतम आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। कष्ट-सहन तथा विश्वास आत्मबल के गुण हैं। 'तेजस्वी दीन' के सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध का हृदय पर तत्काल प्रभाव होता है। वह विरोधी को जोखिम में नहीं डालना चाहता, बल्कि वह उसे अपनी निर्दोषिता की प्रचण्ड शक्ति से अभिभूत कर देना चाहता है। सत्याग्रह अथवा हृदय-परिवर्तन के विस्मयकारी तरीके सरकार तथा सामाजिक अत्याचारियों एवं परम्परावाद के नेताओं, सभी के विरूद्ध प्रयोग किया जा सकता है।

सत्य पर अटल रहना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह असत्य को सत्य से व हिंसा को अहिसा से जीतने का नैतिक शस्त्र है। इसका उद्देश्य, धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर अहिंसात्मक एवं उचित तरीकों से सत्य को प्रकट करना, भूलों को सुधरना एवं भूल करने वालों का हृदय परिवर्तन करना है। सत्याग्रह एक सरल, किन्तु अचूक उपाय है।

सत्याग्रह का ही एक रूप असहयोग आन्दोलन है। जिसका प्रयोग गांधी जी ने नीतियों का विरोध करने के लिए किया था। महात्मा गांधी अपने युग के महान नेता थे। उन्होंने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह के साधनों से भारतीयों को स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया। सत्य अहिंसा जैसे सिद्धान्त गांधी द्वारा प्रयुक्त ऐसे सिद्धान्त थे जो उन्हें महात्मावादी स्वरूप प्रदान करने में सहायक रहे हैं। अपनी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति से मानव के शाश्वत मूल्यों को उद्घाषित करने वाले विश्व इतिहास के महान तथा अमर नायक महात्मा गांधी आजीवन सत्य, अहिंसा और प्रेम का पथ प्रदर्शित करते रहे।

राजनैतिक क्षेत्र में, अहिंसा की विचारधारा को कार्यक्रम में परिणत करने के लिए जिस कार्य पद्धति का प्रयोग एवं प्रतिपादन किया, उसे सत्याग्रह कहा जाता है। सत्याग्रह सत्य और आग्रह दो शब्दों से मिलकर बना है। सत्य का आग्रह अर्थात सत्य के हेतु आग्रह। गांधी जी के जीवन के तीन प्रमुख सिद्धान्त थे-सत्य, अहिंसा और साधनों की शुद्धता। इन्हीं के बल पर उन्होंने अंग्रेजों से संघर्ष किया और अन्त में सफलता प्राप्त की। महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन सत्य पर आधारित था, उसके सामने वे किसी बात से समझौता नहीं करते थे। सत्य के विषय में उनका कहना था-सत्य से ऊँचा कोई ईश्वर नहीं और हर इंसान को सत्य की खोज करनी चाहिए सत्य और अहिंसा को

अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। जहां हिंसा है वहां सत्य नहीं रह सकता जो सत्य में विश्वास करता है वह दुश्मन को भी नहीं हाँनि पहुंचायेगा।

वे अहिंसा के पुजारी थे। वे अहिंसा को मनुष्य की अन्तनिर्हित धार्मिक भावना के विकास के लिए बहुत ही आवश्यक समझते थे। गांधी जी स्वयं कहा करते थे कि-सत्याग्रही अहिंसा के पुजारी थे वे सदा हंसते हुए, बिना प्रति रोध के मरने के लिए रहना चाहिए।

सत्याग्रह के द्वारा गांधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की तत्पश्चात वह भारत आकर ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीय जनता को भी सत्याग्रह की भावना से ओत-प्रोत कराया। वह मोह, ममता, विषय, वासना, ऐश्वर्य, छल कपट आदि से दूर रहने की सलाह दी।

सत्याग्रह की प्रक्रिया-

महात्मा गांधी जी ने सत्याग्रह को एक रणकला कहा है। उसके अनुसार एक सत्याग्रही को पूर्णतः समर्पित रहना चाहिए, उसे अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण जागरूक होनी चाहिए। सत्याग्रही के मन में किसी के प्रति कुटिल भावना नहीं चाहिए उसके लिए छल के प्रति त्याग करके उसके अन्दर और बाहर समान रहते हुए कथनी और करनी में कुछ अन्तर न करके पूरी तरह अहिंसक रहना बहुत आवश्यक है। वह अच्छाई से बुराई को, प्रेम से क्रोध को, सत्य के द्वारा असत्य को, अहिंसा द्वारा हिंसा को जीतने का प्रयास करें।

डॉ. वी.पी. वर्मा लिखते हैं कि-गांधी जी का सत्याग्रह के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है। सत्य के पुजारी का यह कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके अधिकारों की रक्षा करें।

सत्याग्रही को पूर्णतया अनुशासित और निष्ठावान रहते हुए सत्याग्रह के मार्ग पर मिलने वाली कठिनाइयांे भरी यातनाओं को सहर्ष स्वीकार करना पड़ता है।

गांधी जी के अनुसार-सत्याग्रही को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपिरग्रह, शारीरिक अस्वाद, निर्भयता, आदि गुणों से युक्त धर्मों को समान देखने वाला तथा स्वदेशी तथा अस्पृश्यता निवारण करने वाला होना चाहिए।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप-

गांधी जी के विचार में सत्याग्रही प्रेम और अहिंसा के द्वारा शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करता है। वह वीरों का अस्त्र है। वह प्रेम मूलक है और शत्रु के प्रति प्रेम और उदारता का भाव रखता है। सत्याग्रह व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार का हो सकता है। सत्याग्रही त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होकर अपने आप को खादी, ग्रामोद्योग अस्पृश्यता निवारण, प्रौढ़ शिक्षा, राष्ट्र भाषा प्रचार, जातीय एकता, मद्यपान निषेध, जनकल्याणकारी कार्यों में लगा रहता है।

सामूहिक सत्याग्रह का प्रयोग गांधी जी ने पहले दक्षिण अफ्रीका में भारत में विकसित वर्ग सामूहिक सत्याग्रह के रूप में निम्न कार्यवाहियां स्वीकृत की गयी हैं-

1.हड़ताल-इसका उद्देश्य कार्य को बन्द करके जनता, सरकार और सम्बन्धित संस्था के मस्तिष्क को प्रभावित करना, लेकिन आवश्यक है कि हड़तालें जल्दी न की जायें। वह सदैव अहिंसात्मक होना चाहिए।

2.बहिष्कार-इसका अर्थ समाज के उन कलंकी लोगों का बहिष्कार करना है जो जनमत की अवहेलना करते हैं और सहयोग नहीं करते हैं। उनका सामाजिक बहिष्कार करना बहुत ही पुराना तरीका है। इसका प्रयोग सीमित अर्थ में ही किया जाना चाहिए।

3.असहयोग-सत्याग्रह का ही रूप असहयोग है। जिसका गांधी जी ने अंग्रेजों की नीतियों का विरोध करने के लिए किया, गांधी जी का विचार था कि-अन्याय करने वाला भी अन्याय सहने वाले के बिना अत्याचार नहीं कर सकता, अतः गांधी जी ने जन साधारण से अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग करने की अपील की। क्योंकि सरकार का सभी काम प्रजाजनों के सहयोग से ही चलता है। यदि प्रजा असहयोग करें, सरकारी व्यवस्था को स्वीकार करे तो अकेले शासन चला पाना कठिन है।

4.धरना-धरना देने का अर्थ कि जब तक सत्याग्रही की न्यायपूर्ण बात नहीं मानी जाएगी तब तक वह एक आसन पर स्थिर होकर भूखा बैठा रहेगा। धरना शान्तिपूर्ण होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार का बल प्रयोग, अभद्र, आचरण करना पूर्णतः निषिद्ध है। सन् 1920-22 में तथा 1930-34 में उन्होंने शराब, अफीम आदि मादक द्रव्यों और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर इस प्रकार की घटना का आवाहन् किया था।

5.हिजरत-इसका अर्थ है स्वैच्छिक देश निकाला। सत्याग्रह के अन्तर्गत इसका अर्थ है दमन के स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाना। मुहम्मद साहब के जीवन के घटना से गांधी जी हिजरत का प्रयोग किया। जब मोहम्मद साहब का मक्का में रहना उनके विरोधियों ने दुर्भर कर दिया तो वे मदीना हिजरत कर गये। अर्थात मक्का छोड़ मदीना चले गये। इसी प्रकार हिन्दुओं के अमानवीय अत्याचारों से पीड़ित हरिजनों को गांधी जी ने यह राय दी थी कि यदि वे अपने अत्याचारों को बंद न करें तो वे दूसरे गांव चले जाएं।

6.उपवास-उपवास को गांधी जी अपने शस्त्रगार में सबसे अधिक फलदायक अस्त्र मानते थे। उपवास का उद्देश्य आत्मशुद्धि है, यह सामूहिक भी हो सकता है, व्यक्तिगत भी। उन्होंने सन् 1922 में 5 दिन, 1924 में 21 दिन, 1953 में 5 दिन, 1947 व 1948 में अनेकों दिनों तक लगातार उपवास किया।

7.सविनय अवज्ञा-बैल्स फोर्ड ने इस आन्दोलन के विषय में लिखा-भारतीय अपना उद्देश्य निश्चित कर चुके थे। अपने दिलों में वे स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके थे। गांधी जी ने एक सौम्य तथा निष्क्रिय राष्ट्र को शताब्दियों की निद्रा से जगा दिया था।

गांधी जी के अनुसार कानून जनता के कल्याण के लिए होता है। यदि कानून जनहित का विरोध करता है तो वह अन्यायपूर्ण और अनैतिक हो जाएगा। अतः ऐसी स्थिति में उस कानून की अवज्ञा करना उसे न मानना नैतिक आचरण हो जाता है। अतः कुशासन करने वालों को सहयोग न देना जनता का सहज अधिकार है। गांधी जी ने इसी कार्य को सविनय अवज्ञा की संज्ञा दी है।

सत्याग्रही का आचरण-

गांधी जी ने सत्याग्रही के लिए कुछ आचार व नियम बनाएं जो निम्न थे-

1.ब्रह्मचर्य-गांधी जी का मानना था कि मन, वचन कर्म से अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतः नियंत्रण करते हुए पारिवारिक जीवन के पूर्ण कर्तव्यों को निभाना था। अर्थात वैवाहिक जीवन के वे विरोधी नहीं थे। उनके अनुसार सम्पूर्ण जीवन

शक्ति विषयोन्मुख न होकर उच्च आदर्शों के लिए होनी चाहिए जिसे सत्याग्रही की शारीरिक नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति प्रबल हो।

2.निर्भयता-सत्याग्रही को पूर्णतः निर्भीक होकर काम करना चाहिए। वह केवल ईश्वर से ही डरे उसके अतिरिक्त किसी से भी भयभीत नहीं होना चाहिए। गांधी जी की प्रशंसा करते हुए डॉ. के.एम. मुंशी ने लिखा है- गांधी जी ने अराजकता पायी और उसे व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया, कायरता पायी और उसे साहस में बदल दिया, अनेक वर्गों में विभाजित लोगों को जनसमूह में बदल दिया। निराशा को सौभाग्य में बदल दिया और बिना किसी प्रकार की हिंसा या सैनिक शक्ति का प्रयोग किये एक साम्राज्यवादी शक्ति के बंधनों को अन्त कर विश्वशान्ति को जन्म दिया।

3.अस्तेय-इसका शाब्दिक अर्थ तो चोरी न करना है। अतः सत्याग्रही को त्यागी प्रवृत्ति का बनकर संचय करने व संग्रह करने सर्वदा दूर रहना चाहिए।

4.अपरिग्रह-सांसारिक पदार्थों को त्याग करना ही अपरिग्रह है। अतः सत्याग्रही को त्यागी संचय करने व संग्रह करने से सर्वदा दूर रहना चाहिए।

5.श्रम व उपार्जन-अपने परिश्रम द्वारा अपने जीविकोपार्जन को करते हुए किसी अन्य के श्रम का लाभ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि गांधी जी के अनुसार ऐसा करना शोषण माना जायेगा।

6.जीवित रहने के लिए भोजन-भोजन जीने के लिए करना चाहिए न कि भोजन करने के लिए जीना चाहिए। भोजन स्वाद के लिए नहीं जीवित जीने के लिए है। अतः भोजन सात्विक होना चाहिए। गांधी जी के जीवन का सबसे बड़ा सिद्धान्त सादा जीवन उच्च विचार था।

7.सब धर्मों को समान भाव से देखना-सत्याग्रही भले ही किसी भी धर्म का अनुयायी हो पर उसे सभी सम्प्रदायों और मतों को समान भाव से देखना चाहिए।

8.स्वदेश प्रेम की भावना-स्वदेशी का अर्थ-स्वदेशी का अर्थ अपने देश में निर्मित सभी चीजों का उपयोग करना है। अतः सत्याग्रही को चाहिए कि स्वदेश में बनी चीजें ही उपयोग में लाएं, ऐसा करने में भले ही उसे परेशानी या कष्ट का सामना करना पड़ें।

9.मानवतावादी दृष्टिकोण-एक सच्चे सत्याग्रही का दृष्टिकोण मानवतावादी होना चाहिए। मनुष्य का मानवतावादी दृष्टिकोण तभी संभव है जब कि उसमें अहंकार न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी के अनुसार सत्याग्रही का जीवन समाज के अन्य व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्रोत होना चाहिए साथ ही उसे उपयुक्त गुणों से परिपूर्ण समाज का नेता होना आवश्यक है।

6.3.10. गांधी जी की सत्य एवं अहिंसा की अवधारणा-

गांधी जी के अनुसार, 'सत्य ही ईश्वर है।' परन्तु प्रश्न उठता है कि वह सत्य जो ईश्वर है और जिसकी प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है, क्या है?

गांधी के मतानुसार 'सत्य' सत शब्द से निकला है, इसका अर्थ है अस्तित्व या होना। सत्य को ईश्वर ब्रह्म कहने का यह कारण है कि सत्य वही है जिसकी सत्ता होती है, जो सदा टिका रहता है। ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता तीनों

कालों में बनी रहती है, अतः यह सत्य है। गांधी जी अपने जीवन का ध्येय सत्य की शोध करना समझते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'मेरे सत्य के प्रयोग' रखा है।

सामान्यतः सत्य शब्द का अर्थ केवल सच बोलना ही समझा जाता है, लेकिन गांधी जी ने सत्य का व्यापकतम अर्थ लेते हुए बार-बार यह आग्रह किया है कि विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। गांधी जी की दृष्टि में सत्य की आराधना ही सच्ची भक्ति है।

गांजी जी के अनुसार दैनिक जीवन में सत्य सापेक्ष है, किन्तु सापेक्ष सत्य के माध्यम से एक निरपेक्ष सत्य पर पहुंचा जा सकता है और यह निरपेक्ष सत्य ही जीवन का चरम लक्ष्य है, इसकी प्राप्ति ही मनुष्य का परम धर्म है।

गांधी जी के सत्य के परिवेश में केवल व्यक्ति नहीं आता है, अपितु इसमें समूह और समाज भी समावेश है। वे चाहते हैं कि सम्पूर्ण सत्य का पालन धर्म, राजनीति, अर्थ-नीति परिवार-नीति सब में होना चाहिए। राजनीति में सत्य के पूर्ण पालन का उनका नवीन प्रयोग तो विश्व इतिहास के लिए एक अविस्मरणीय घटना है।

अहिंसा का अर्थ-अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है हिंसा या हत्या न करना। हिंसा का अर्थ किसी भी जीवन को स्वार्थवश, क्रोधवश या दुख देने की इच्छा से कष्ट पहुंचाना या मारना है। हिंसा के मूल में स्वार्थ, क्रोध या विद्वेष की भावना होती है। इसे विपरीत अहिंसा के अनुयायी को इन सभी भावनाओं पर विजय पाते हुए प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना रखनी होती है जिसे गांधी जी अहिंसा कहते हैं।

गांधी जी के लिए अहिंसा का अर्थ अत्यन्त व्यापक है जिसमें कार्य ही नहीं, अपितु विचार में भी सावधान रहना आवश्यक है। किसी को न मारना अहिंसा का एक अंग अवश्य है, किन्तु अहिंसा में इसके अतिरिक्त और भी कुछ है। कुविचार मात्र हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत को जिस चीज की आवश्यकता है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।

अहिंसा के दो पक्ष-अहिंसा के दो पक्ष हैं-नकारात्मक तथा सकारात्मक। किसी प्राणी को काम, क्रोध तथा विद्वेष से वशीभूत होकर हिंसा न पहुंचाना इसका नकारात्मक रूप है, किन्तु इससे अहिंसा का पूरा स्वरूप समझ में नहीं आता है। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप तो हमें इसके भावात्मक पक्ष से पता लगता है। भावात्मक अथवा सकारात्मक स्वरूप वाली अहिंसा को सार्वभौम प्रेम और करूणा की भावना कहा जाता है। इसके चार मूल तत्व, प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता है।

जिस प्रकार हिंसा का आधार विद्वेष होता है उसी प्रकार अहिंसा का आधार प्रेम है। अहिंसा का व्रत लेने वाला साधक अपने उग्रतम शत्रु से भी वैसा ही प्रेम रखता है जैसा पिता बुरा कार्य करने वाले अपने पुत्र से स्नेह करता है। वह शत्रु की बुराई से घृणा करता है न कि शत्रु से। अहिंसा तथा प्रेम की शक्ति से यह शत्रु की बुराई दूर करने का यत्न करता है। वह स्वयं प्रसन्नता पूर्वक कष्ट सहन कर लेता है, किन्तु शत्रु को कष्ट नहीं पहुंचाता। अहिंसा का दूसरा तत्व अनन्त धैर्य है। यदि अहिंसक को अपने प्रयत्न में जल्दी सफलता नहीं मिलती तो वह निराश नहीं होता। उसे दृढ़ विश्वास रहता है कि अहिंसा अचूक ब्रह्मास्त्र है, वह अन्त में अवश्य सफल होगी। भारी असफलताएं मिलने के बावजूद अहिंसक हिम्मत नहीं हारता और धैर्य पूर्वक अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। अहिंसा की तीसरा तत्व अन्याय का प्रतिरोध करना है। अहिंसा निष्क्रियता या उदासीनता नहीं है अपितु बुराई का तथा अन्याय का सतत् प्रतिकार करते रहना है। अहिंसक अन्यायी के अत्याचारों से घबराता नहीं है अपितु वीरता पूर्वक उनका सामना करता है, अतः अहिंसा का चौथा मूल तत्व वीरता है। गांधी जी ने इस पर बहुत बल दिया है। उनके

मतानुसार अहिंसा साहसी और वीर पुरुषों का गुण है, निर्बलों और कायरों का हथियार नहीं। अन्धकार और प्रकाश की तरह कायरता और अहिंसा में विरोध है। अहिंसा के प्रयोग तभी महत्व रखते हैं जब हम बलवान होते हुए तथा पशुबल का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी इसका प्रयोग न करें। अहिंसक योद्धा का सबसे बड़ा गुण वीरता और निर्भयता है। इसमें शस्त्र युद्ध की अपेक्षा अधिक साहस अपेक्षत है, क्योंकि इसमें सबसे बड़ा हथियार उसकी आत्मा का बल है। ऐसा वीरता पूर्वक आत्मबल न होने की दशा में गांधी जी हिंसा और बल प्रयोग को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। एक बार उन्होंने स्वयं कहा था, ''विदेशी राज्य के सामने दीन भाव से अपनी प्रतिष्ठा खोने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि भारत शस्त्र धारण करके आत्मसम्मान की रक्षा करें।''

अहिंसा का आधार-गांधी जी की अहिंसा का आधार अद्धैत की भावना है। उनका विश्वास था कि सृष्टि की सभी वस्तुओं में एक ही चेतन सत्ता या ब्रह्म ओत-प्रोत है। सभी में भगवान का दिव्य अंश है। जब सब कुछ भगवान का रूप है और मैं भी वास्तव में उसी का रूप हूँ तो मैं किसी से कैसे द्वेष कर सकता हूँ। वह अद्धैत की भावना सृष्टि के सभी प्राणियों के प्रति मुझे आत्मरूप होने के कारण प्रेम और अहिंसा के धर्म का पालन करने के लिए बाधित करती है।

अहिंसा की तीन अवस्थाएं-गांधी जी ने अहिंसा की निम्नलिखित तीन अवस्थाएं बतायी हैः

1.जागृत अहिंसा-इसे वीरे पुरुषों की अहिंसा भी कहते हैं। यह वह अहिंसा है जो किसी दुःखपूर्ण आवश्यकता से पैदा न होकर अन्तर आत्मा की स्वाभाविक पुकार से जन्म लेती है। इसको अपनाने वाले अहिंसा को बोझ समझ कर स्वीकार नहीं करते वरनआन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता या नैतिकता के कारण स्वीकार करते है। सबल व्यक्ति इसे अपनाते हैं और वे शक्ति सम्पन्न होकर भी शक्ति का तनिक सा भी प्रयोग नहीं करते। अहिंसा के इस रूप को केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में दृढ़ता के साथ अपनाया जाना चाहिए। अहिंसा के इस रूप से असम्भव को सम्भव में बदलने और पहाड़ों को हिला देने की अपार शक्ति निहित है।

2.औचित्यपूर्ण अहिंसा-इस प्रकार की अहिंसा वह है जो जीवन के किसी क्षेत्र में विशेष आवश्यकता के पड़ने पर औचित्यानुसार एक निष्क्रिय प्रतिरोध। इसमें नैतिक विश्वास के कारण नहीं वरननिर्बलता के कारण ही अहिंसा का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि यह अहिंसा जाग्रत अहिंसा की भांति प्रभावशाली नहीं है फिर भी यदि इसका पालन ईमानदारी, सच्चाई और दृढ़ता और अहिंसा परस्पर विरोधी है।''

3.कायरों की अहिंसा-कई बार डरपोक तथा कायर लोग भी अहिंसा का दम्भ भरते हैं। गांधी जी ऐसे लोगों की अहिंसा को अहिंसा न मानकर 'निष्क्रिय हिंसा' मानते हैं। उनका विश्वास था कि ''कायरता और अहिंसा पानी और आग की भांति एक साथ नहीं रह सकते।'' अहिंसा वीरों का धर्म है और अपनी कायरता को अहिंसा की ओट में छिपाना निन्दनीय तथा घृणित है। यदि कायरता और हिंसा में से किसी एक का चुनाव करना हो तो गांधी जी हिंसा को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह स्पष्ट विचार है कि, ''यदि हमारे हृदय में हिंसा भरी है तो हम अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए अहिंसा का आवरण पहनें, इससे हिंसक होना अधिक अच्छा है।'' वस्तुतः गांधी जी कायरता के पक्ष में कभी नहीं थे।

गांधी की अहिंसा की विशेषताएं-गांधी जी की अहिंसा की दो बड़ी विशेषताएं हैं - पहली विशेषता इसका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन है तथा दूसरी इसके क्षेत्र का विस्तार करके इसे नयी गति तथा नया विस्तार प्रदान करना है।

पहली विशेषता-गांधी जी से पहले अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव का प्राण न लेना तथा इसे खान-पान के विषय तक सीमित रखना था। गांधी जी ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि यह खाद्य के विषय से परे है। मांसाहारी अहिंसक हो सकता है, फलाहारी या अन्नाहारी घोर हिंसा करते देखे जाते हैं। एक व्यापारी झूठ बोलता है, ग्राहकों को ठगता है, कम तोलता है, किन्तु यह व्यापारी चींटी को आटा डालता है, फलहार करता है। फिर भी यह व्यापारी उस मांसाहारी व्यापारी की अपेक्षा अधिक हिंसक हैं, जो मांसाहार करते हुए भी ईमानदार है और किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार गांधी जी ने जीव हिंसा की विवेचना करते हुए अहिंसा की परम्परागत परिभाषा और सीमा में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन और विस्तार किया।

दूसरी विशेषता-अहिंसा के कार्य क्षेत्र का विस्तार है। गांधी जी ने अहिंसा को व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षेत्र की संकीर्ण परिधि से निकालकर इसे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सभी प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार करने का शस्त्र बनाया। इसे ऋषि-मुनियों तक मर्यादित न रखकर सार्वजनिक और सार्वभौम बनाया। गांधी जी के शब्दों में, ''अहिंसा यदि व्यक्तिगत गुण है तो मेरे लिए त्याज्य वस्तु हैं। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। वह करोड़ों की हैं। मैं तो उसका सेवक हूं...हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति का रूप ले सकते हैं अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए हैं, सब समय के लिए है।'' हरिजन सेवक में उन्होंने लिखा था, ''हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तियों की वस्तु नहीं बनाना है, बल्कि ऐसी वस्तु बनाना है जिस पर समूह, जातियां और राष्ट्र अमल कर सकें।'' अहिंसा के विषय में गांधी जी की यह सबसे बड़ी मौलिक देन थी। भारत की स्वत्रंता प्राप्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा के सफल प्रयोग से उन्होंने अपने उपर्युक्त दावे को सत्य सिद्ध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. महात्मा गांधी का जन्म कब हुआ था?
   A. 02 नवम्बर 1869 ई0 B. 02 अक्टूबर 1869 ई0
   C. 02 अक्टूबर 1879 ई0 D. 02 अक्टूबर 1859 ई0
2. महात्मा गांधी का जन्म कहाँ क्या था?
   A. पोरबन्दर B. राजकोट
   C. गुजरात D. अहमदाबाद
3. महात्मा गांधी का दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन कब हुआ था।
   A. 02 नवम्बर 1869 ई0 B. 02 अक्टूबर 1869 ई0
   C. 02 अक्टूबर 1879 ई0 D. 02 अक्टूबर 1859 ई0
4. महात्मा गांधी ने निम्नलिखित आन्दोलनों में से किसमें भाग नही लिया था।
   A. खेड़ा सत्याग्रह B. चम्पारण सत्याग्रह
   C. खिलाफत आन्दोलन D. बारदौली आन्दोलन
5. महात्मा गांधी के राजनीतिक गुरू कौन थे।
   A. रवीन्द्र नाथ टैगोर B. मोती लाल नेहरू
   C. गोपाल कृष्ण गोखले D. दयानन्द सरस्वती

6.3.4 सारांश

गांधी जी का जीवन विशेष रूप से वर्तमान शताब्दी के पुवार्द्ध से संबंधित है। उनकी मृत्यु 30 जनवरी 1948 को हुई थी। और आज इतने वर्षों बाद जब हम उनके जीवन दर्शन के बारे में सोचते हैं तो हमें तत्कालीन व वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संदर्भों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। चूंकि गांधी जी ने अपना पूरा जीवन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कुरीतियों को दूर करने में ही लगा दिया। महात्मा गांधी ब्रिटेन से वकालत की पढ़ाई करने के बाद जब भारत में 1892 में आये, उसके बाद से ही वह सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिये कूद पड़े। महात्मा गांधी के अध्यात्मिक आदर्शवाद में ईश्वर, सत्य, नैतिकता, साधन की श्रेष्ठता, अहिंसा आदि का विशिष्ठ स्थान है। गांधी जी सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलना श्रेस्कर समझा था। सत्य और अहिंसा का अटूट सम्बन्ध को मानते हुये उसी सिद्धान्त पर सारा जीवन चलते गये। महात्मा गांधी भारत के व्यापक क्षेत्र में राजनीति को लेकर आये, देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक अभूतपूर्व सेनानी के रूप में उनकी भूमिका रही। अतः भारतीय जनता ने उन्हें राजनीतिक नेता और देशभक्त राष्ट्रवादी के रूप में अधिक जाना-माना निःसंदेह, गांधी जी राष्ट्रवादी थे। गांधी के हृदय में राजनीतिक स्वतंता की उत्कृष्ट कामना थी वे स्वराज को सत्य का एक अंग मानते थे। अतः स्वभाविक था कि स्वतंत्रता उनके लिये अधिक पवित्र वस्तु थी। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थात स्वराज तीव्र संघर्ष और कष्ट सहन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। गांधी जी राजनीति स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक स्वतंत्रता भी चाहते थे। गांधी जी ने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि यदि हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो केवल हिन्दी ही राष्ट्र भाषा हो सकती है। हरिजन में उन्होंने लिखा है- यदि हमें भारतीय राष्ट्रीयता का लक्ष्य प्राप्त करना है तो हमें क्षेत्रियता की जंजीर को तोड़ना ही होगा। समकालीन समाज में विकास से जुड़ी समस्याओं के संदर्भ में गांधी जी के चिन्तन में विशेष अभिरूची ली जा रही है। वैसे गांधी जी विकास को कोई विशेष सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया परन्तु उन्होंने भिन्न-भिन्न अवसरों पर मनुष्य के मार्ग दर्शन के लिये जो ओजस्वी विचार प्रस्तुत किये उन्हें मिलाकर विकास का एक प्रतिरूप उभारा जा रहा है।

महात्मा गांधी जी ने समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा समस्याओं पर अपने विचार रखे थे चाहे वह महिलाओं की स्वतंत्रता एवं चेतना का विचार हो चाहे समाज के अत्यधिक शोषित, पीड़ित, दलित या कमजोर वर्ग की बात हो। उनके हित के लिये उन्होंने उनके साथ मिलकर समय-समय पर संघर्ष किया है और उनको एक नई दिशा दी तथा समाज की मुख्य धारा में जोड़ने का प्रयास किया। वास्तव में यह उन्हीं के प्रयत्नों का फल था कि आतंकवाद सीमत रहा और भारत में बिना बहुत रक्तपात के स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

गांधी जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान समर्थक थे गांधी जी स्त्रियों के स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। वे स्त्रियो के समर्थक थे और उनको पुरूषों के बराबर दर्जा देना चाहते थे। उन्होंने भारतीय नारी को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का सुअवसर प्रदान किया। गांधी जी साधारण धर्म और राजनीतिक को एक दूसरे से पृथक समझ और धर्म को राजनीति से अलग किया। गांधी जी बसुदेव कुटुम्बकम के सिद्धान्त पर चलने वाले चिन्तक थे। गांधी जी की हत्या एक व्यक्ति की हत्या नही बल्कि भारत की नैतिक, शक्ति और आर्थिक सोच की हत्या थी आज हमें बार-बार ऐसा लगता है कि काश कोई गांधी होता जो हमारे पतनोन्मुख एवं दिशा हीन समाज को एक गति प्रदान करता। असल में आज जरूरत है उन तत्वों को पहचानने की जो क्षुब्ध स्वार्थों के कारण भारतीय जनता के हित को गिरवी रख देना चाहते है। यदि हम आज गांधी को ठीक से समझ ढंग से समझ सके और उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने का प्रयास कर सके तो द्विवंगत आत्मा के लिये यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी। और हमारे उद्धार का एक मात्र यही उपाय है।

6.3.5 शब्दावली

1. सत्याग्रह - सत्य पर अटल रहना।

2. अहिंसा - हिंसा न करना।
3. अपरिग्रह - सांसारिक पदार्थों का त्याग करना।
4. कुटुम्ब - परिवार
5. विकेन्द्रीकरण - सत्ता को एक जगत केन्द्रित न होकर विभिन्न स्तरों पर पाया जाना।

6.3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.B 2.A 3.A 4.D 5.C

6.3.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा, विश्वनाथ (1998), आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा।
2. ग्रोवर, बी.एल. तथा यशपाल (2003), आधुनिक भारत का इतिहास, एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, रामनगर, नई दिल्ली।
3. विपिन चन्द्र (2001), भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
4. वर्मा, दीना नाथ (2004) आधुनिक भारत, ज्ञानदा प्रकाशन (पी.एण्ड डी.), दरियागंज, नई दिल्ली।
5. पाण्डेय, एच.एल. (1997) गांधी, नेरू, टैगोर एवं अम्बेडकर, प्रयाग पुस्तक भवन, यूनर्वसिटी रोड, इलाहाबाद।

6.3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गांधी, महात्मा (2005), सत्य के प्रयोग/आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।
2. एम.के. गांधी, समाज सुधार, समस्या और समाधान।
3. हिन्द स्वराज चौथा संस्करण ।
4. हरिजन, 18 माई 1940 ।
5. शर्मा, अरूण दत्त (2009), भारतीय राजनीतिक विचारक, यूनीक पब्लिशर्स, लालपत नगर, नई दिल्ली।

6.9 निबंधात्मक प्रश्न-

1. महात्मा गांधी के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का विस्तार से उल्लेख कीजिए।
2. महात्मा गांधी का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 7: सुभाष चंद्र बोस

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 जीवन परिचय

7.4 प्रमुख कृतियां

7.5 स्वतंत्रता

7.6 समाजवाद का सिद्धांत

7.7 राष्ट्रवाद

7.8 फांसीवाद से निकटता

7.9 फॉरवर्ड ब्लॉक

7.10 सारांश

7.11 शब्दावली

7.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.13 सहायक/उपयोगी सामग्री

7.14 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना:

आधुनिक भारत की राजनीतिक एवं दार्शनिक परंपरा में सुभाष चंद्र बोस एक यथार्थवादी विचारक के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं उन्होंने मात्र 21 वर्ष की आयु में भारतीय सैनिक सेना की परीक्षा पास की किंतु एक वर्ष के बाद नौकरी त्याग वह सक्रिय राजनीति में उतर पड़े. उन्हें आत्मत्याग में विश्वास था. राजनीतिक कार्य को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया और उसी भावना में संलग्न हो गए भारतीय स्वतंत्रता के आदर्श में उनकी गंभीर निष्ठा थी और उसको प्राप्त करने के लिए उन्होंने अथक प्रयास किया और प्रकार का जोखिम उठाया. उन्हें समझौता वादी रवैया पसंद नहीं था और वह प्रकृति से विद्रोही थे. यही कारण था कि उन्होंने कांग्रेस में गांधीवादी दक्षिणपंथी पक्ष के विरोध सदैव वामपंथी विरोध पक्ष का साथ दिया. पर लेनिन, कमाल पाशा, डी वेलरा और मुसोलिनी के व्यक्तित्व का गंभीर प्रभाव पड़ा था. बोस एक निर्भीक योद्धा थे और उनका स्थान विश्व के महानतम देशभक्तों में है जिन्होंने भारत में एक उग्र राष्ट्रवाद एवं उससे उपजी राष्ट्रवाद के मंतव का समर्थन किया.

7.2 उद्देश्य:

१ सुभाष चंद्र बोस के राजनीतिक विचारों के मूल मंतव्य को समझ सकेंगे.

२. सुभाष चंद्र बोस के समाजवाद के प्रमुख तत्वों को समझ सकेंगे .

३. सुभाष चंद्रबोस के राष्ट्रवाद की मूल प्रकृति को जान सकेंगे.

7.3 जीवन परिचय:

सुभाष चंद्र बोस का जन्म 23 जनवरी, 1897 को कटक में जानकीनाथ बोस एवं प्रभावती बोस के घर हुआ. जब वे कॉलेज में विद्यार्थी ही थे, उसी समय एक वेदांती रहस्यवादी के रूप में उन्होंने एक अध्यात्मिक गुरु की खोज मे उत्तर भारत के नगरों का भ्रमण किया. कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के रूप में इन्होंने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया. 1926 में उनकी मुलाकात महात्मा गांधी से हुई किंतु असहयोग आंदोलन की अचानक वापसी ने उनका गांधी के विचारों से मोहभंग हुआ. वे दो बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए 1938 में और 1939 में. वर्ष 1939 में उन्होंने फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना की जिसके माध्यम से वह देश वामपंथी शक्तियों को संयुक्त करने का प्रयास किया.1 जून 1940 में मुंबई में वामपंथी एकता समिति की स्थापना की गई जिसमें कांग्रेस, समाजवादी, एम.एम. राय की रेडिकल लीग तथा साम्यवादी सम्मिलित थे. दिसंबर 1940 में वे गुप्त रूप से देश छोड़कर चले गए तथा विश्व के विभिन्न देशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ प्रचार करने लगे. 5 जुलाई 1943 को उन्होंने आजाद हिंद फौज स्थापना की घोषणा की. दिल्ली चलो के युद्ध घोष के साथ उन्होंने भारत की अस्थाई सरकार की स्थापना की. आजाद हिंद फौज मित्र राष्ट्रों की मदद के साथ भारत में प्रवेश करने में सफल भी हुई.8 अगस्त 1945 को टोक्यो जाते हुए विमान दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई. हालांकि उनकी मृत्यु की गुत्थी आज भी एक अनसुलझी पहेली है.

7.4 स्वतंत्रता का सिद्धांत:

बोस का राजनीतिक दर्शन भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एवं भारतीय जनमानस के अनुसार ही था. बोस की स्वतंत्रता की संकल्पना सिर्फ भारत की औपनिवेशिक शासन से मुक्ति (राजनीतिक स्वतंत्रता) तक सीमित नहीं है बल्कि वह इसका विस्तार सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी देखते हैं जिससे कि समाज में निहित अन्य संघर्ष भी समाप्त हो सके. सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्ष को साथ ही चलना चाहिए जिससे कि राज्य की स्वतंत्रता के साथ व्यक्तियों का उत्थान संभव हो सके.

अरविंदो की तरह बोस का मत था कि भारत को ब्रिटिश शासन की गुलामी से आजाद होना अत्यंत आवश्यक है किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु उनका मार्ग गांधी जी से बिल्कुल भिन्न था. उनका मत था कि स्वतंत्रता अहिंसा के रास्ते से प्राप्त नहीं की जा सकती है. उनको समझौतों, संसदीय एवं संवैधानिक तरीकों पर कोई विश्वास नहीं था. अरविंदो की भांति ही उन्होंने बल एवं सैन्य शक्ति के माध्यम से ही स्वतंत्रता हासिल करने में विश्वास किया. इसी मंतव्य से उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ एक जन आंदोलन की वकालत की.

नेताजी का ऐसा मानना था कि स्वतंत्रता की प्राप्ति ही पूर्ण सत्य है. इस लिहाज से राष्ट्रीय स्वतंत्रता सर्वोपरि है जिसके बाद लोकतंत्र और समाजवाद स्थापित हो सकते हैं. स्वतंत्रता एक अत्यंत वृहद संकल्पना है जिसके विभिन्न आयाम होते हैं. नेताजी के अनुसार स्वतंत्रता विभिन्न मनुष्य आयामों को समाहित किए हुए एक अत्यंत विशाल संकल्पना है जो शक्ति के सभी आयामों को प्रभावित करता है- इन अर्थों में स्वतंत्रता केवल राजनीतिक आजादी को नहीं इंगित करता है बल्कि धन का सामान वितरण, जाति एवं सामाजिक असमानताओं का अंत तथा सांप्रदायिकता और असहिष्णुता का खात्मा है. हालांकि यह सभी लक्ष्यों की प्राप्ति इतनी आसान भी नहीं है किंतु यह वह अपरिहार्य आवश्यकताएं हैं जिनके बिना स्वतंत्रता अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं प्राप्त की जा सकती है और शायद यही कारण था कि वे यह मानते थे कि देश या सामाजिक स्तर के स्वतंत्रता को त्याग, लगन एवं तीव्र इच्छा शक्ति के द्वारा ही संभव हो सकता है. यदि हम इस स्वतंत्रता को हासिल कर सकते हैं तो निश्चित ही देश एक तीव्र गति से विकास और खुशहाली के पथ पर आगे बढ़ेगा.

शुरुआती दौर में कांग्रेस के सदस्य होने के बावजूद नेताजी कांग्रेस के सीमित तरीकों एवं लक्ष्य से संतुष्ट नहीं थे. उनका स्वतंत्रता संबंधी विचार यह साफ परिलक्षित करता है कि वे भारत को स्वतंत्रता के एक सीमित स्वरूप को नहीं स्वीकारते हैं बल्कि एक पूर्णता वादी दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और अत्यंत महत्वपूर्ण राजनैतिक चेतना का पहलू समाहित है.

7.5 **समाजवाद:**

नेताजी एक रूढ़ीवादी मार्क्सवादी नहीं थे और न ही मार्क्स की भांति समाज को एक वर्ग के स्वरूप में देखते थे. कांग्रेस पार्टी के हरिपुरा अधिवेशन (1938) में अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में उन्होंने कहा था कि भारत की गरीबी, अशिक्षा, अस्वस्थता एवं वैज्ञानिक उत्पादन और वितरण का समाधान समाजवादी उपागमो में ही निहित है. राष्ट्र का पुनर्निर्माण तब ही संभव हो सकता है जब गरीबी एवं अशिक्षा जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर हो सकेंगी. किसानों की दयनीय स्थिति के समाधान हेतु उनका मत था कि सामंतवाद खात्मा होना चाहिए, कृषि कर्ज़ों को देना चाहिए, गरीबों को कम ब्याज पर धन मुहैया कराया जाना, कृषि आधुनिकीकरण एवं औद्योगिकरण का रास्ता अपनाए जाना चाहिए. राज्य का यह कर्तव्य है कि नागरिकों के कल्याण हेतु एक विस्तृत एवं वृहद योजना का निर्माण करें. मिल मजदूरों की समस्या पर उनका कहना था कि यह किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष की समस्या नहीं है बल्कि राष्ट्र की समस्या है जिस पर आजादी की लड़ाई के साथ- साथ आजादी के बाद भी ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है.

सुभाष चंद्र बोस का समाजवाद कोई निश्चित सैद्धांतिक बिंदु पर निश्चित धारा में बहने वाला या निश्चित संरचनात्मक ढांचे में बंधा रहने वाला नहीं है. नेताजी का समाजवाद भारतीय परिस्थितियों एवं यहां की समस्याओं तथा रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानंद जैसे मनीषियों के चिंतन एवं परंपरा का सम्मिश्रण रहा है. उनका समाजवाद न्याय, समानता, स्वतंत्रता, अनुशासन एवं बंधुत्व का भाव समाहित किए हुए हैं.

बोस का समाजवाद न केवल आर्थिक विचारधारा है बल्कि एक मानवीय एवं समतामूलक सिद्धांत है. वे कोई रूढ़ीवादी समाजवादी नहीं थे बल्कि उन्होंने भारतीय समस्याओं के संदर्भ में वह गांधी के आदर्शवादी एवं आध्यात्मिक रास्ते से हट कर एक यथार्थवादी रास्ते को प्रस्तुत किया. किंतु नेताजी समाजवाद को कोई शीर्ष द्वारा जन पर थोपी गई विचारधारा के रूप में नहीं देखते थे बल्कि उनका मानना था कि वास्तविक समाजवाद जनसाधारण से ही निकल कर आएगा. बोस मानना था कि समाजवाद के इस लक्ष्य में राजनीतिक दलों को एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी चाहिए किंतु इस संदर्भ में वे गांधी तथा नेहरू दोनों के ही विचार से सहमत नहीं थे. उनका मानना था कि गांधी का सर्वोदय का सिद्धांत किसी राज्य के बिना आर्थिक राजनीतिक जीवन संचालित करने की बात कहता है जो व्यावहारिक है. नेहरू का समाजवाद पूर्णतः पश्चिमी है और भारतीय तत्वों की अनदेखी करता है.

हालांकि समाजवाद का विचार एक सार्वभौम संकल्पना है और इसे किसी भी देश में लागू किया जा सकता है किंतु उस देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर. भारत में भी समाजवाद भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एवं भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप हो तभी यह अच्छा है. बोस का समाजवाद वैचारिक रूप से लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा के अधिक निकट प्रतीत होता है जिसमें वितरण की समानता एवं मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति केंद्रीय बिंदु हैं.

7.6 **राष्ट्रवाद:**

राष्ट्रवाद, एक 16वीं शताब्दी की संकल्पना है, जो किसी भी देश के आत्मशक्ति का उद्देश्य है. सुभाष चंद्र बोस भारतीय राष्ट्रवाद के एकरूपीय और यथार्थवादी स्वरूप के प्रणेता रहे हैं जिसमें विचार और आदर्श, स्वप्न और दर्शन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रसारित होते हैं.

बोस का उग्र राष्ट्रवाद गांधी जी के निष्क्रिय प्रतिरोध से नए केवल भिन्न, बल्कि विपरीत है और शायद यही कारण रहा कि कांग्रेस पार्टी के विभिन्न कार्यक्रमों एवं नीतियों में दोनों ही मनीषी दो विपरीत प्रवृत्तियों का समर्थन करते दिखे. बोस ने भारतीय जनमानस में एक उग्र राष्ट्रीय चेतना के विकास पर बल दिया. उनका मानना था कि ब्रिटिश शासन शांतिपूर्ण तरीके से अपनी शक्ति एवं शासन को भारतीयों को देने को तैयार नहीं होंगे. इसलिए एक राष्ट्रीय चेतना की स्वतंत्रता हेतु संघर्ष नितांत आवश्यक है और यह संघर्ष निश्चित ही रक्त क्रांति से ही संभव है. यदि अहिंसक माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त होती है तो निश्चित ही भारतीय जनता खुश होगी किंतु भारतीय जनता यदि संघर्ष के द्वारा स्वतंत्रता को हासिल करती है तो वहीं वास्तविक स्वतंत्रता होगी. यह स्वतंत्रता वास्तविक इसलिए होगी क्योंकि यह भीख प्राप्त स्वतंत्रता नहीं होगी.

बोस ने भारतीय संस्कृति एवं धर्म आधारित राष्ट्रवाद की संकल्पना प्रस्तुत की किंतु उनका राष्ट्रवाद सांप्रदायिक एवं स्थानीय स्वरूप का नहीं है. उनका मानना था कि एकता की समस्या मूलतः मनोवैज्ञानिक है और यह शिक्षा एवं प्रशिक्षण द्वारा दूर की जा सकती है. भाषा, वेशभूषा, संस्कृति आदि एकता को स्थापित करने में सहायक होते हैं किंतु यह राष्ट्र भावना का निर्माण नहीं करते हैं. वे हमेशा विचारों और क्रियाओं की एकता पर बल देते थे. एकता एक क्रांतिकारी आंदोलन है, एक साधन है न की साध्य, एक शक्ति का द्योतक है किंतु यदि यह एकता विकास के रास्ते में आती है तो यह एक बुराई का स्वरूप ले लेती है.

बोस के राष्ट्रवाद, उदारवादी या अतिवादी संदर्भ से भिन्न है. हेगेल की भांति बोस राष्ट्र को राष्ट्र में निवास कर रहे व्यक्तियों की चेतना के समुच्चय के रूप में देखते हैं और इस निहितार्थ धर्म, जाति एवं संपत्ति के विभेद को राष्ट्र के लिए हानीकारक मानते थे. व्यक्तियों के मध्य समानता का मतलब यह नहीं है था कि उन्होंने भाषाओं, धर्म परंपराओं और रीति-रिवाजों की विभिन्नता को अस्वीकार कर दिया है. हुमायूं कबीर कहते हैं कि नेताजी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक भिन्नताओं के साथ राष्ट्रीय एकता को आगे बढ़ाया है.

7.7 **फासीवाद से निकटता:**

भारतीय राजनीतिक इतिहास दर्शन में कई विद्वानों ने बोस को एक फासीवादी विचारधारा के निकट पाया है किंतु बोस को हिटलर या मुसोलिनी की तरह एक निरंकुश अधिनायक कहना उचित नहीं होगा. बोस को राजनीतिक यथार्थवाद में विश्वास था. उनका विश्वास था कि भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में सहानुभूति एवं समर्थन व्यापी लोकमत तैयार करने के लिए विदेशों में प्रचार करने की आवश्यकता है. इस प्रकार वे देश के बाहर भारत की स्वतंत्रता के लक्ष्य को हासिल करने में मददगार मित्रों की निरंतर तलाश में रहते थे.

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि बोस के मन में फासीवादी अधिनायको के सबल तरीकों के प्रति झुकाव था.1934- 35 में बोस ने अपनी पुस्तक भारतीय संघर्ष में लिखा था कि मुसोलिनी एक ऐसा व्यक्ति है जिसका आधुनिक यूरोप की राजनीति में महत्व है.1931 में गांधी जी ने अपनी इटली यात्रा के दौरान मुसोलिनी से भेट की. इसको बोस ने बहुत महत्वपूर्ण माना उन्होंने लिखा था कि गांधी जी ने इटली की यात्रा करके महान

सार्वजनिक सेवा की है. खेद की बात केवल यह है कि वे वहां और अधिक नहीं ठहरे और अधिक निजी संपर्क कायम नहीं किया.

बोस को मैं तो इंग्लैंड के विक्टोरिया- युगीन लोकतंत्र की परंपरा और कार्यप्रणाली में विश्वास नहीं था और ना ही वे 19वीं शताब्दी के फ्रांस के पूंजीवादी गणतंत्र के तरीकों को संतोषजनक मानते थे.1934 में उन्होंने तर्क दिया कि मार्क्स के कमयूनिसम और फासीवाद का मिश्रित स्वरूप (जिसे उन्होंने साम्यवाद का नाम दिया) ही भारत के लिए उपयुक्त व्यवस्था होगी. अपनी पुस्तक भारतीय संघर्ष में भविष्य की एक झलक नामक अध्याय में बोस लगते हैं कि कम्युनिज्म तथा फासीवाद के बीच वैषम के बावजूद कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो दोनों में सामान्य रूप में विद्यमान है. कम्युनिज्म तथा फासीवाद दोनों के ऊपर राज्य की सर्वोच्चता में विश्वास करते हैं. दोनों दल के अधिनायक तंत्र में तथा असहमत अल्पसंख्यकों का निर्मम रूप से दमन करने में विश्वास करते हैं. दोनों नियोजित औद्योगिक पुनर संगठन में विश्वास करते हैं. यह उभयनिष्ठ विशेषताएं नए समन्वय का आधार होंगी. इस समन्वय को लेखक ने साम्यवाद का नाम दिया है यह हिंदी का शब्द है अर्थ है समन्वय अथवा समानता का सिद्धांत. समन्वय का संपादन करना भारत का काम है. बोस द्वारा फासीवाद और साम्यवाद का समन्वय विचित्र प्रतीत नजर आता है. बोस ने इस समन्वय के सैद्धांतिक आधार और व्यावहारिक निहितार्थ की विवेचना नहीं की है. बोस के दर्शन में यह अपूर्व परिवर्तन आश्चर्यजनक है. फिर भी सुभाषचंद्र के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उनके मन में भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जकड़ से कराने की जो तीव्र छटपटाहट थी उसी ने कम से कम अंश में उन्हें फासीवाद का समर्थक बना दिया था.

किंतु बोस को फासीवाद के अतिवादी सिद्धांतों में विश्वास नहीं था. उन्होंने कभी साम्राज्यवादी प्रसार का समर्थन नहीं किया और मैं कभी जातीय (नसल गत) सर्वोच्चता के सिद्धांत को स्वीकार किया. वे जब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में रहे तब तक शोषित जनता के हितों का समर्थन करते रहे. अतः यह कहना अनुचित होगा कि यदि उनके हाथों में राजनीतिक शक्ति आ जाती तो वे जर्मनी और इटली के फांसीवादियो की भांति शोषक तथा प्रभुताशाली वर्गों में मिल जाते.

7.8 **फॉरवर्ड ब्लॉक:**

कांग्रेस पार्टी से इस्तीफे के तीन दिन के अंदर ही सुभाष चंद्र बोस ने फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना की. इसका पहला राष्ट्रीय अधिवेशन 22 जून 1939 को मुंबई में हुआ. सुभाष चंद्र बोस ने उन शक्तियों को एक साथ लाने के उद्देश्य से फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की जो भारत में ब्रिटिश शासन का विरोध करने तथा हर उपाय से उसका तत्काल अंत करने के सिद्धांत को स्वीकार करते थे. 2 जनवरी 1947 को बोस ने फॉरवर्ड ब्लॉक के प्रमुख सिद्धांतों के इस प्रकार व्यक्त किया है-

1.पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता और उसको प्राप्त करने के लिए अविचल साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष।

2.एक पूर्व आधुनिक ढ़ग से भारतीय संदर्भ में समाजवादी राज्य की स्थापना।

3.देश के आर्थिक पुनरूत्थान के लिए वैज्ञानिक ढंग से बड़े पैमाने पर उत्पादन।

4.उत्पादन और वितरण दोनों का सामाजिक स्वामीत्व तथा नियंत्रण।

5.धार्मिक मामलों में व्यक्तियों को निजी स्वतंत्रता।

6.हर व्यक्ति को समान अधिकार।

7.भारतीय समाज के हर वर्ग को भाषा विषयक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता।

8.नवीन स्वतंत्र भारत के निर्माण में समानता और सामाजिक न्याय के सिद्धांत को लागू करना।

यद्यपि इस वितरण में फांसीवादी सिद्धांतों को पूर्णतः मध्यम कर दिया गया है किंतु इसमें राजनीतिक स्वतंत्रता का शक्तिहीन शब्दों में उल्लेख मात्र है।

7.9 **सारांश:**

सुभाषचंद्र बोस ने भारतीय राष्ट्रवाद के उद्भव एवं विकास के एक नए दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया। देश तथा देश के बाहर अपने समस्त क्रिया-कलाप में बोस ने निर्भीकता के साथ राष्ट्रवाद का समर्थन किया, जिसमें किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता की गुंजाइश नहीं थी। भारतीय राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में बोस का उल्लेखनीय मौलिक योगदान नहीं हैं किंतु उनका महत्त्व इसमें है कि गांधीजी व अन्य वामपंथियों की भांति उन्होंने भी गंभीर आर्थिक समस्याओं के तत्काल हल किए जाने पर जोर दिया है। अपनी पुस्तका 'भारतीय संघर्ष' के साम्यवाद तथा फांसीवाद के समन्वय की योजना कल्पित की है। वह भारतीय जनता के दृष्टिकोण में अत्याधिक विकृत और कुत्सित विचारधारा सिद्ध होती है।

सुभाषचंद्र बोस की महत्त भारतीय इतिहास में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित रहेगी। बोस को उनकी ज्वलंत देशभक्ति, देश को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की श्रृंखलाओं से मुक्त कराने का आदर्श के प्रति उनकी लगभग उन्मादपूर्ण निष्ठा तथा राष्ट्र के लिए उन्होंने जो घोर कष्ट सहे उनके कारण उन्हे सदैव प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय वीर और दुर्दांत सेनानी के रूप मे अभिनन्दित किया जाएगा किन्तु राजनीतिशास्त्र के शुद्ध शास्त्रीय सैद्धांतिक अन्वेषण के क्षेत्र में उनका योगदान न विशेष महत्त्वपूर्ण है और न मौलिक।

7.10 **शब्दावली:**

समाजवाद: एक सामाजिक-आर्थिक दर्शन है जो धन सम्पत्ति का स्वामित्व और वितरण समाज के अधीन करता है।

साम्यवाद: वो सिद्धांत जो मार्क्स के कम्युनिज्म और मुस्सोलीनी के फासीवाद का भारतीय परिस्थियों के अनुसार समन्वय स्थापित करता है .

7.11 **संदर्भ ग्रंथ सूची:**

1.आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन - डॉ. वी.पी. वर्मा

2.भारतीय राजनीतिक चिन्तक – के. यस. पाण्डेय

7.12 **सहायक/उपयोगी सामग्री:**

१. द एसेंशियल राइटिंग ऑफ़ नेताजी सुभाष चन्द्र बोस- सिसिर कुमार बोस

२. सुभाष चन्द्र बोस – हूघ टॉय

7.13 **निबंधात्मक प्रश्न:**

१. बोस की स्वतंत्रता का सिधांत भारतीय परिस्थतियो एवं समस्याओं के अनुरूप था. चर्चा कीजिये.

२. बोस के राष्ट्रवाद के सिद्धांत का आलोचनात्मक परिक्षण कीजिये.

इकाई 8: जवाहर लाल नेहरू

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 जीवन परिचय
8.4 प्रमुख कृतियां
8.5 व्यक्ति एवं राज्य
8.6 राष्ट्रवाद
8.7 लोकतंत्र
8.8 धर्मनिरपेक्षतावाद एवं साम्प्रदायिकता
8.9 समाजवाद
8.10 अंतर्राष्ट्रीय एवं विश्व शांति
8.11 सारांश
8.12 शब्दावली
8.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
8.14 सहायक/उपयोगी सामग्री
8.15 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना:

जवाहर लाल नेहरू आधुनिक भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिज्ञों में से एक थे। नेहरू ने भारत की सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक चिंतन प्रक्रिया एवं कार्यक्रमों को गहरे रूप से प्रभावित किया। प्रखर अंतर्राष्ट्रीयवादी होने के बावजूद नेहरू की मान्यता थी कि राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रवाद की धाराएं परस्पर सौहार्दपूर्ण ढ़ंग से मिश्रित हैं। नेहरू ने सहिष्णुता और संश्लेषण की परम्परा में से समकालीन धर्मनिरपेक्षता के राजनीतिक प्रतिमानों को प्राप्त किया। नेहरू के दृष्टिकोण में लोकतंत्र, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षतावाद आपस में धनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे तथा ये संयुक्त रूप से एक ऐसे मजबूत भारत की नींव रखेंगे जो मानव की महत्ता और उसके व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास पर आधारित हो और जिसमें गरीबों एवं दलितों के जीवन स्तर में सुधार दिखाई दे। वे रविंद्रनाथ टैगोर के शब्दों में 'भारत के ऋतुराज' तथा आचार्य नरेंद्र देव के लिए 'लोकतांत्रिक समाजवाद' के प्रतीक थे। टेनीसन के अनुसार नेहरू ने न केवल भारत को स्वतंत्र कराया, अपितु आने वाले वर्षों में भारत का मार्ग भी निर्धारित किया।

जवाहर लाल नेहरू का जन्म 14 नवम्बर, 1889 को मोती लाल नेहरू और स्वरूपा रानी के यहां आनंद भवन, इलाहाबाद में हुआ। 16 वर्ष की आयु में वह आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड गए और वहां उन्होंने वकालत परीक्षा उत्तीर्ण की। भारत आकर वे सार्वजनिक जीवन की दिशा में मुड़े और 1918 में वे कांग्रेस महासमिति के सदस्य चुन लिए गए। इसके बाद उन्होंने असहयोग से लेकर भारत छोड़ों आंदोलन तक में अपनी सक्रिय भागीदारी दर्ज करायी। सन् 1927 में उन्होंने जिनेवा में आयोजित 'साम्राज्यवादी विरोधी' सम्मेलन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। वे चार बार कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष रहे। भारत की संविधान सभा में जवाहर लाल नेहरू ने ही नए भारत के लिए संविधान बनाने से संबंधित 'उद्देश्य प्रस्ताव' 13 दिसम्बर, 1946 को रखा। स्वतंत्र भारत के वे पहले प्रधानमंत्री बने और अपने जीवन के अंतिम क्षण तक इसी पद पर रहे।

8.3 उद्देश्य:

1.नेहरू के राष्ट्रवाद के दर्शन को समझ सकेंगे।

2.नेहरू के लोकतंत्र एवं समाजवाद के दर्शन का भारतीय परिस्थितियों में उनका अनुप्रयोग समझ सकेंगे।

3.नेहरू के धर्म एवं साम्प्रदायिकता संबंधी विचार को चिन्हित कर सकेंगे।

4.नेहरू के अंतर्राष्ट्रवाद को समझ सकेंगे।

8.4 प्रमुख कृतियां:

विश्व इतिहास की झलक -1934, आत्मकथा-1936, भारत की एकता-1941,भारत की खोज-1947
टुवर्डस फ्रिडल- 1941, ए बंच ऑफ ओल्ड लेटर्स -1958

8.5 व्यक्ति एवं राज्य:

नेहरू मानव स्वभाव को अच्छा मानने के साथ-साथ उसमें स्वार्थ, हिंसा, लोभ, पशुता, विलासिता आदि बुराइयों का अस्तित्व भी मानते हैं और इन नकारात्मक प्रवृत्तियों के लिए राज्य आवश्यक है। नेहरू की दृष्टि में राज्य व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए आवश्यक है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति ही हिंसा, स्वार्थपरता, घृणा और विद्वेष आदि पर नियंत्रण लगा सकती है। राज्य की बाध्यकारी सत्ता के अभाव में कानूनों का पालन, कर की वसूली, व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा आदि संभव नहीं है। ''कानून अपनी सशस्त्र सेनाओं की सहायता से दूसरों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रयोग से रोकता है। राष्ट्रीय राज्य का अस्तित्व की आक्रामक एवं सुरक्षात्मक हिंसा पर आधारित है।''
नेहरू इस व्यक्तिवादी धारणा को स्वीकार नहीं करते थे कि वही सरकार सबसे अच्छी होती है जो सबसे कम शासन करती है। इस संदर्भ में नेहरू कल्याणकारी राज्य की संकल्पना से प्रभावित नजर आते हैं। उनके अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र पुलिस कार्य तक सीमित नहीं होता। उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पहल करते हुए कार्य करना होता है। नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए उसे विविध कार्यों एवं दायित्वों का निष्पादन करना चाहिए। नेहरू राज्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए उसके माध्यम से सामाजिक हित उपलब्ध कराना चाहते थे। इसी कारण नेहरू ने आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में भी अनेक बुराइयां हैं। इन्हे एक सीमा तक दूर करने के लिए उन्होंने सामुदायिक विकास योजनाओं और पंचायतीराज का मार्ग बताया। इसे लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण कहा गया। वे नौकरशाही के तानाशाही या अफसरशाही के दृष्टिकोण में परिवर्तन चाहते थे। राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। नागरिकों के कतिपय मूलभूत अधिकार होने चाहिए और उन्हे अनुल्लंघनीय माना जाना चाहिए।
नेहरू के दर्शन में राज्य एवं व्यक्ति दोनों ही एक-दूसरे के साध्य एवं साधन हैं। उनमें अन्योन्याश्रय संबंध है। यदि राज्य व्यक्ति को अपनी इच्छा या शक्ति का साधन नही बना सकता तो व्यक्ति भी राज्य को अपनी स्वार्थपूर्ति या लालसा का उपकरण मात्र नहीं बना सकता। राज्य एवं व्यक्ति दोनों मिलकर एक यौगिक इकाई का निर्माण करते हैं।

8.6 राष्ट्रवाद:

नेहरू एक महान राष्ट्रवादी थे किन्तु उन्होंने राष्ट्रवाद के किसी नए सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया था। उनके लेख 'भारत की एकता' में प्रकट होता है कि वे भारत की आधारभूत एकता की वास्तविकता में विश्वास करते थे। नेहरू ने भारतीय राष्ट्रवाद के भावनात्मक पक्ष को ही अपनाया है। उनके अनुसार, राष्ट्रवाद, मूलतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है। उन्होंने अपने राष्ट्रवाद में भारत के अतीत, वर्तमान तथा भावी आकांक्षाओं को समन्वित किया है, किन्तु वे अतीत के प्रति मोहान्ध नहीं थे। उनका अंतर्राष्ट्रवाद राष्ट्रवाद पर आधारित था। उन्होंने कहा है कि 'मैं राष्ट्रवादी हूं और मुझे राष्ट्रवादी होने पर अभिमान है।' वे कहते हैं कि 'किसी भी पराधीन देश के लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्रथम और प्रधान आकांक्षा होनी चाहिए। भारतवर्ष के लिए जिसके पास अतीत एक धरोहर है, उसके लिए यह बात और भी अधिक सही है।' वे स्वीकार करते थे कि अगणित विधाओं के बावजूद भारत के सम्पूण्र इतिहास में एकता देखने को मिलती है। उन्हें सांस्कृतिक बहुलवाद तथा समन्वय की धारणा से भी प्रेरणा मिली थी। उन पर रविंद्रनाथ टैगोर द्वारा प्रतिपादित समन्वयात्मक सार्वभौमवाद का प्रभाव पड़ा था। उनके लिए राष्ट्रवाद वास्तव में आत्मविस्तार का ही एक रूप है। उन्होंने लिखा है 'राष्ट्रवाद तत्वतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है; और राष्ट्रवाद जितना शक्तिशाली आज है उतना कभी नहीं था।'

अपनी राष्ट्रवादी भावनाओं के आधार पर ही उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर ली तथा भारतीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया। यही कारण है कि वे 'औपनिवेशिक स्वराज्य के समर्थक नहीं बने और उन्होंने सन् 1929 में ही 'पूर्ण स्वाधीनता' को स्वतंत्रता-संग्राम एवं कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया। वे भारतीय-स्वाधीनता को अन्य सभी विपदाओं, कठिनाइयों और प्रगति की अनिवार्य शर्त मानते थे। उन्होंने अपने राष्ट्रवाद में खुलापन अर्थात पूर्व और पश्चिम की विशेषताओं का स्वागत किया। उनकी राष्ट्रीयता अखिल भारतीय थी। दूसरे शब्दों में, नेहरू के राष्ट्रवाद में विविधता में एकता पाई जाती है। वे भारतवर्ष की मूलभूत एकता में विश्वास रखते थे।

वे उदार राष्ट्रवाद के सम्पर्क में थे। वे ब्रिटिश उदारवाद एवं फेवियनवाद से प्रभावित होने के कारण कभी उग्र राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं बने और उन्होंने सदैव अन्य राष्ट्रों के महत्त्व को स्वीकार किया। वे अन्य देशों की संस्कृति तथा सभ्यताओं के योगदान का स्वागत करते थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्र द्वारा दूसरे देशों पर अपनी श्रेष्ठता या अधिपत्य स्थापित करने की कल्पना नहीं की थी। नेहरू ने भारत को ऐसी प्रवृत्तियों से बचने की सलाह दी और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति के मार्ग का समर्थन किया।

8.7 लोकतंत्र:

जवाहर लाल नेहरू को संसदीय लोकतंत्र के सिद्धांत तथा व्यवहार में पूर्ण आस्था थी। भारतीय लोकतंत्र और नेहरू को पर्यायवाची माना जाता है। वे लोकतंत्र को सर्वोत्तम शासन व्यवस्था मानते थे। उनकी धारणा थी कि भारत तथा विश्व में राजा-महाराजाओं या सामन्तों के दिन लए गए हैं। साम्यवादी या अन्य कोई अधिनायकवादी शासन भी उन्हे अस्वीकार्य था। व्यवहार में लोकतंत्र में अनेक कमियां है फिर भी वह अन्य शासन प्रणालियों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है। इसके द्वारा समाज तथा व्यक्ति के जीवन में स्थायी और ऐच्छिक आधारों पर परिवर्तन लाए जा सकते हैं। लोकतंत्र की प्रमुख विशेषताएं है - व्यस्क मताधिकार, चुने हुए जनप्रतिनिधियों द्वारा शासन का संचालन, लनता द्वारा सरकार को बदलने का अधिकार, व्यक्ति एवं समूहों को सीमित स्वतंत्रताएं और परस्पर पूरकता, समानता विधि का शासन आदि। इस व्यवस्था में सामाजिक-आर्थिक रूप में दुर्बल वर्गों को अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। इसमें सभी वर्गों को राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं और राजनीतिक निर्णयों में भागीदारी प्राप्त हो सकेगी।

लोकतंत्र के विषय में नेहरू की धारणा बड़ी गतिशील और व्यापक थी। वे लोकतंत्र को निरन्तर और गत्यात्मक मानते थे। वे केवल मताधिकार तक सीमित लोकतंत्र को आर्थिक समानता की ओर ले जाना चाहते थे। सबको आगे बढ़ने के लिए समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। पूंजीवादी व्यवस्था को साथ लेकर लोकतंत्र नहीं अपनाया जा सकता। आर्थिक असमानताएं, गरीबी, शोषण तथा एकाधिकार समाज को दो टुकड़ों में विखण्डित कर देते हैं और ऐसी अवस्था में लोकतंत्र धनतंत्र बन जाता है। ऐसा होने पर ही राज्य लोक कल्याण के आदर्श को अपना सकता है।

लोकतंत्र का स्वरूप राजनीतिक के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक भी होता है लोकतंत्र व्यापक समाज तक प्रभावी होना चाहिए। इस अर्थ में वहां जातिवाद, स्त्री-पुरूष विभेद, छुआ-छूत, शहर-ग्राम आदि दोष नहीं होने चाहिए। राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में लोकतंत्र लाने का माध्यम होता है। राजनीतिक लोकतंत्र उन लक्ष्यों तक पहुँचने का मार्ग है, स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है। नेहरू के लिए लोकतंत्र एक जीवन पद्धति है, सोचने का ढ़ंग है, परिस्थितियों से निपटने का तरीका है तथा उन बातों को सहन करने का रास्ता है जिसे हम कई बार पसंद नहीं करते है। लोकतंत्र आत्मानुशासन होता है तथा शांतिमय उपायों से काम किया जाता है। नेहरू द्वारा प्रतिपादित लोकतंत्रात्मक मूल्यों को भारतीय संविधान की प्रस्तावना में देखा जा सकता है। वस्तुतः लोकतंत्र कतिपय मूल्यों मान्यताओं और नैतिक मानदण्डों का पुंज है। नेहरू लोकतंत्र को समाज का आत्मानुशासन मानते थे। ऐसा आत्मानुशासन समुचित शिक्षा-व्यवस्था से ही आ सकता है। समुचित संवैधानिक उपायों से अपनी मांगों

मनवायी तथा निर्णयों तथा व्यवस्थाओं में फेरबदल करवाया जा सकता है। लोकतंत्र में 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' जैसे आंदोलनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

लोकतंत्र में भी वे संसदीय शासन प्रणाली को अधिक उपयुक्त मानते थे। उसमें वाद-विवाद द्वारा निर्णय, जनमत, संवेदनशील प्रशासन, जनप्रतिनिधित्व आदि को प्रमुखता मिल जाती है। इसे उन्होंने बहस, वार्तालाप तथा असहमति के माध्यम से निर्णय को स्वीकृत करने वाली तथा अल्पसंख्यकों के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। यह शांति एवं युद्धकाल दोनों में उपयोगी है। संसदीय शासन प्रणाली के लिए वयस्क मताधिकार का होना आवश्यक है। शिक्षा का विस्तार किया जाना चाहिए। विधि का शासन तथा नागरिक अधिकारों की मान्यता लोकतंत्र की पूर्व शर्तें हैं।

8.8.धर्मनिरपेक्षता एवं साम्प्रदायिकता:

नेहरू की धर्म विषयक धारण सरल और सुबोध नहीं थी। वे एक सर्वोच्च शक्ति के अस्तित्व में विश्वास तो करते थे परन्तु वे उसका साक्षात्कार करने या उसके साथ एकाकार होने में विश्वास नहीं करते थे। वे धर्म और ईश्वर को उनके वास्तविक अर्थों में ग्रहण करते थे। धर्म और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। उनकी आस्था मानवतावादी धर्म के प्रति थी वे धर्म को सामाजिक हितों के संवर्द्धन का एक महान उपकरण मानते थे। धर्म मानव जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति करता है। यदि धर्म ऐसा नहीं होता तो लाखों लोग उसे नहीं अपनाते और वह सामाजिक शक्ति के रूप में उत्पन्न नहीं होता। वह असंख्य लोगों को शांति और सहारा देता है।

नेहरू भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद के वास्तविक प्रणेता थे। वे किसी धर्म विशेष को नहीं मानते थे तथा सभी धर्मों के प्रति समान-भाव रखते थे। उनके लिए धर्म निरपेक्षता का अर्थ था- सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव। उनकी धर्म निरपेक्षता का मूलाधार था: मानव व्यक्तित्व एवं नैतिकता में विश्वास, लोकतंत्र में आस्था, सत्य-बोध के प्रति जिज्ञासा एवं अंतःकरण की स्वतंत्रता।

नेहरू का राष्ट्रवाद भी पूरी तरह धर्म निरपेक्ष था। उन्होंने तिलक, घोष, विपिन चंद्र पाल आदि की धार्मिक राष्ट्रवाद की संकल्पना को नहीं स्वीकारा है। वे धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता के समर्थक थे तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा तो चाहते थे किन्तु वे बहुसंख्यकों के धर्म के आधार पर राष्ट्र निर्माण करने की बात के पूर्ण विरोधी थे। अपने मार्क्सवादी विचारों के अंतर्गत नेहरू ने साम्प्रदायिकता को एक मिथक अभिकल्पना माना। उनके अनुसार वास्तविक समस्या मध्यम वर्ग विशेषतः मुस्लिम मध्यम वर्ग में व्याप्त गरीबी और बेरोजगारी से संबंध है, न कि धर्म से। धर्म की आड़ में साम्प्रदायिकता अपने-अपने समूहों के रोजगार, नौकरियों, पदों, व्यापारिक सुविधाओं आदि के लिए लड़ती है। इसके लिए विभिन्न समुदाय या धार्मिक समूह साम्प्रदायिक भय, अपनी असुरक्षा या धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान का भूत खड़ा करते हैं। इसे ही नेहरू ने 'साम्प्रदायिकता का मिथ' कहा है। इस भूत या समस्या का वास्तविक विद्वान आर्थिक विकास एवं आर्थिक स्वतंत्रता में निहित है। जिसे राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद ही क्रियान्वित किया जा सकता है। आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के साथ ही साम्प्रदायिकता की समस्या भी हल हो जाएगी।

8.9 समाजवाद:

यद्यपि नेहरू का दर्शन उदारवादी है, किन्तु आर्थिक क्षेत्र में वे समाजवाद से प्रभावित थे। उनका समाजवादी दृष्टिकोण मार्क्सवादी एवं उदारवाद का समिश्रण था। सन् 1928 में उन्होंने सोवियत रश्या पुस्तक लिखी और बताया कि आज विश्व को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उनका समाधान ढूंढ़ निकालने में रूस का उदाहरण से सहायता मिल सकती है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने कार्ल मार्क्स के चिंतन के प्रभाव को स्वीकार किया है। आचार्य नरेंद्र देव ने उन्हे 'मार्क्स से प्रभावित समाजवादी' बताया। उन्होंने मार्क्सवादी चिंतन को पूर्व और अंतिम नहीं माना और बदलती हुई परिस्थितियों और नई खोजों के संदर्भ में संशोधन के योग्य माना। वे मार्क्स द्वारा

प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष एवं हिंसात्मक क्रांति को आवश्यक नहीं मानते थे। मार्क्स लोकतंत्र का विरोध करता है किंतु नेहरू कट्टर लोकतंत्रवादी थे। उन्हे मार्क्स का राज्य विहीन समाज का विचार भी अव्यावहारिक लगता था।

लेकिन वे एक समाजवादी थे जो भारतीय परिस्थितियों में समाजवाद को आरोपित करते है। सन् 1929 में उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में कहा कि 'मैं समाजवादी और गणतंत्रवादी हूं। यदि भारत को अपनी निर्धनता व असमानता को समाप्त करनी है तो उसे अपने ढ़ंग से समाजवाद और लोकतंत्र को अपनाना पड़ेगा। 1936 में उन्होंने कहा कि 'मेरा यकीन है कि दुनिया की और हिंदुस्तान की समसया का एक ही हल है और वह है समाजवाद। यह जिंदगी का दर्शनशास्त्र है। मैं समाजवाद के सिवाय और दूसरा रास्ता नहीं देखता जो गरीगी, बेकारी, बेइज्जती और गुलामी से हिंदुस्तान के लोगों को छुटकारा दिला सके।' वे लोकतांत्रिक समाजवादी थे। नेहरू राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात नेहरू ने लोकतंत्रात्मक समाजवाद को भारतीय संविधान की सभी प्रमुख धाराओं में स्थान दिया। सन् 1954 में भारतीय संसद में एक प्रस्ताव के द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य भारत में समाजवादी ढ़ंग की व्यवस्था लाने का बताया गया।

भारत में समाजवाद लाने तथा लोकतंत्र को सशक्त बनाने की दिशा में राजा-महाराजाओं का अंत, जमींदारी उन्मूलन, प्रमुख उद्योगों एवं बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा योजनाओं में निरंतर बढ़ता सार्वजनिक क्षेत्र आदि कदम प्रमुख हैं। नेहरू ने लोकतांत्रिक समाजवाद को और भी आगे बढ़ाने के लिए सन् 1956 में नागपुर कांग्रेस के अधिवेशन में न्यायोचित साधनों द्वारा 'समाजवादी सहकारी राज्य के निर्माण' का प्रस्ताव पारित कराया। वस्तुतः वे समाजवाद के आधार पर लोकतंत्र को तथा लोकतंत्र राजनीति आधार से समाजवाद को समृद्ध करने में लगे रहे। 'मैं स्पष्टतः यह स्वीकार करता हूं कि मैं एक समाजवादी और लोकतंत्रवादी हूं।' उनका समाजवाद रूढ़िगत और हिंसात्मक न होकर उदार और व्यावहारिक था। उन्हीं के शब्दों में 'समाजवाद एक आर्थिक सिद्धांत के अलावा कुछ और है। यह एक जीवन दर्शन है और इसी कारण यह मुझे प्रिय है।

8.10 अंतर्राष्ट्रवाद:

नेहरू महान अंतर्राष्ट्रीयवाद थे और उनका राष्ट्रवाद-अंतर्राष्ट्रीयवाद का पूरक एवं सहायक था। वास्तविक अंतर्राष्ट्रीयवाद के लिए यह आवश्यक है कि विश्व के सभी देश स्वतंत्र हो और उन्हे समान समझा जाए तथा कोई किसी दूसरे का शोषण नहीं करें। उस दृष्टि से कोई भी व्यक्ति राष्ट्रवादी हुए बिना अंतर्राष्ट्रीयवादी नहीं हो सकता। वे आजीवन विश्व-बंधुत्व या वसुधैव कुटुम्बकम पर जोर देते रहे।

नेहरू ने सभी राष्ट्रों की समानता, स्वतंत्रता और प्रगति का समर्थन किया। वे संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ) तथा उसके चार्टर के प्रबल समर्थक थे। वे अंतर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिमय उपायों एवं बातचीत के माध्यम से करना चाहते थे। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के निर्माण एवं विकास में बड़ी सहायता की। वे गांधी जी के विचारों के अनुरूप विश्व-राज्य के आदर्श में विश्वास करते थे। संयुक्त राष्ट्र को व्यापक बनाकर नेहरू के अनुसार उस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

नेहरू ने एशिया के देशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराने के लिए अनेक बार सम्मेलन किए और उन्हें उनकी समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए संगठित किया। इसी प्रकार से वे दक्षिण अफ्रीका को रंगभेद के अभिशाप से मुक्त कराने के लिए निरंतर प्रयास करते रहे। वे चाहते थे कि एशिया और अफ्रीका के देश संगठित हों तथा साम्राज्यवाद एवं शीतयुद्ध के शिकार न बने।

स्वाधीन भारत के प्रधानमंत्री बनने के पश्चात भारत के लिए उन्होंने गुट निरपेक्ष विदेश नीति का निर्माण किया। नेहरू ने पर राष्ट्र नीति ने गुट निरपेक्ष की जो नीति अपनाई उसके तीन आधारभूत सैद्धान्तिक कारण है। पहला, भारत एक नवोदित राष्ट्र है, उसे अपनी शक्ति आर्थिक और सामाजिक पुनःनिर्माण के कार्यों में जुटानी है। दूसरा,

उनका एक ऐतिहासिक आधार भी रहा है। अपने सम्पूर्ण इतिहास में भारत ने शांति की नीति का अनुसरण किया है। बुद्ध और गांधी इस दर्शन के प्रमुख प्रवर्तक रहे हैं। इस प्रकार गुट निरपेक्षता भारत के उस आदर्श की राजनीतिक अभिव्यक्ति है जो सबके लिए शांति और सद्भावना का संदेश देता रहा है। तीसरे, अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति की अपेक्षा के आधार पर गुट निरपेक्षता का समर्थन किया जाता है। नेहरू की गुट निरपेक्ष की नीति सक्रिय और गतिशील थी। इसने राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में स्वयं को उपयोगी तथा संगतिपूर्ण बनाए रखा है। गुट निरपेक्षता की नीति को 'बदलती हुई परिस्थितियों में विश्व के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय हितों का पालन।'

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नेहरू नैतिक मार्ग का अनुसरण करने में विश्वास करते थे। 1954 में नेहरू तथा चाऊ इन लाई ने अपने एक संयुक्त वक्तव्य में पंचशील के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इसमें पांच सिद्धांत थे-

1.एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता तथा प्रभुसत्ता का सम्मान

2.पारस्परिक अनाक्रमण

3.एक दूसरे के मामले में हस्तक्षेप

4.स्मानता के आधार पर पारस्परिक लाभ तथा

5.शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व

इस प्रकार नेहरू का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का सिद्धांत मैकियाविलीवाद तथा शक्ति राजनीति की अस्वीकृति पर आधारित है। उनका उद्देश्य है कि यदि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र से बल प्रयोग को पूर्णतः बहिष्कृत नहीं किया जा सके तो उसे न्यूनतम अवश्य किया जाए।

8.11 सारांश:

पटाभि सीतारमैया ने सन् 1942 में नेहरू के विषय में लिखा था कि 'जवाहर लाल नेहरू एक राजनीतिज्ञ है, न कि कोई संत अथवा दार्शनिक। वे विश्व की अच्छी वस्तुओं से प्रेम करते हैं, फिर भी वे कर्त्तव्य के स्थान पर सुख अथवा अथवा देश के स्थान पर स्वयं को रखना कदापि स्वीकार नहीं करते। आइन्स्टीन ने उन्हे 'आने वाले कल का प्रधानमंत्री बताया है।'

आधुनिक विश्व में एक दार्शनिक एवं राजनेता का अद्भुत संयोग जवाहर लाल नेहरू में देखने को मिलता है। नेहरू के राजनीतिक विचार की एक मुख्य विशेषता यह थी कि वह निरंतर चलती रहती थी, उसमें प्रवाहमानता थी। नेहरू के विचारों में परिवर्तन न केवल इस बात से प्रभावित हुआ कि उन्होंने बदलती परिस्थितियों के फलस्वरूप विकास को स्वाभाविक माना, बल्कि इस बात में भी कि उनमें लगनो और बाह्य प्रभावों के सामने कुछ-कुछ झुक जाने की प्रवृत्ति थी। जब नेहरू ने भारत सरकार का नेतृत्व किया तो उन्होंने वह राजनीतिक लचीलापन प्रदर्शित किया जो व्यावहारिकतावादी स्वरूप का था।

8.12 शब्दावली:

समाजवाद: एक सामाजिक-आर्थिक दर्शन है जो धन सम्पत्ति का स्वामित्व और वितरण समाज के अधीन करता है।

वसुधैव कुटुम्कबम: का अर्थ है जहां एक ओर पूरी वसुधा अर्थात हमारी पृथ्वी हमकों एक परिवार के रूप में बोध देती है। वहीं भावनात्मक रूप से मनुष्य को अपने विचारों और कार्यों के प्रभाव को विस्तृत करने की बात कहता है।

8.13 संदर्भ ग्रंथ सूची:

1.आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन - डॉ. वी.पी. वर्मा

2.भारतीय राजनीतिक चिन्तक – के. यस. पाण्डेय

8.14 सहायक/उपयोगी सामग्री:

१. विश्व इतिहास की झलक –जवाहर लाल नेहरु

२. नेहरु: द मेकिंग ऑफ़ इंडिया – यम. जे. अकबर

8.15 निबंधात्मक प्रश्न:

1. नेहरु के समाजवाद के प्रमुख लक्षणों की चर्चा कीजिये .

२. भारत में धर्म और साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में नेहरु के विचारों पर एक निबंध लिखिए .

इकाई 9: आचार्य विनोबा भावे (1895-1982)

इकाई की संरचना

9.1 प्रस्तावना

आचार्य विनोबा भावे बाल्यावस्था से ही कठोर जीवन बिताना सीख गये थे। जब वे महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आये उसके बाद उनके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन दिखायी देने लगा। उन्होने निष्चय किया कि वे जीवन पर्यन्त्र आध्यात्मिक साधना करेगें और गांधी जी के आदर्शों को समाज में व्यावहारिक रूप में स्थापित करेगें। गाँधी के आदर्शों के प्रति उनके समर्पण के कारण ही उनके मृत्यु के पूर्व तक उन्हें 'वर्तमान का जीवित महात्मा गाँधी' कहा जाता था। वे भारत के महानसन्त, दार्शनिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारक, भूदान आन्दोलन के प्रणेता और सर्वोदय की धारणा के अग्रदूत कहे जाते हैं। उनका उद्देश्यशासन विहीन और शोषण विहीन समाज की स्थापना करना था। इसके लिए उन्होने गाँधी जी के सर्वोदय दर्शनको स्वीकार किया और उसे साकार रूप देने के लिए अथक परिश्रम किया। गाँधी जी के आदर्शों को रचनात्मक स्वरूप प्रदान कर विनोबा जी ने अपने इस कथन की पुष्टि कर दी कि गाँधी के विचार व्यवस्थित न होते हुए भी चिन्तन की सही शक्ति से युक्त हैं। समाज के दबे, कुचले और निर्बल व्यक्ति का उद्धार कर वे सामाजिक असमानता और अन्याय का समूल नष्ट कर देना चाहते थे। इसके लिए ही उन्होने भूदान, ग्रामदान संपत्ति दान आदि आन्दोलनों को संचालित किया और यह सिद्ध कर दिया कि यदि उद्देश्य पवित्र हो तो उसको प्राप्त करना आसान हो जाता है। विनोबा भावे का सम्पूर्ण जीवन ही सामाजिक समानता और न्याय के लिए समर्पित था।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्यनिम्न हैं-

1.विनोबा भावे के विचारों की पृष्ठभूमि को जानना।

2.विनोबा भावे के सर्वोदय दर्शनको जानना।

3.विनोबा भावे के आध्यात्मिक विचारों को जानना।

4.विनोबा भावे के ग्रामदान तथा भूदान की धारणा को जानना।

5.गाँधी जी के आदर्शों के प्रति विनोबा भावे के समर्पण को समझना।

9.3 आचार्य विनोबा भावे का आध्यात्मिक दर्शन

आध्यात्मिक साधना विनोबा भावे के जीवन का मूलमन्त्र था। इसलिए वे भगवा, भक्त और मोक्ष में गहन विश्वास करते थे। उनका कहना था कि ईश्वरतर्क का नहीं वरन अनुभुति का विषय है। ईश्वरको प्राप्त करने का सबसे सरल उपाय यह है कि मनुष्य अपने हृदय में सत्य, प्रेम और करुणा के आदर्शों को समाहित कर ले। उन्होने माना कि ईश्वरके प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानव का अहंकार है। इसलिए ईश्वरकी प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अहंकार का त्याग कर विनम्रता पूर्वक और समर्पण के भाव से ईश्वरकी प्रार्थना करे। विनोबा भावे की धर्म में घोर आस्था थी परन्तु वे किसी धर्म विशेष को महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। उनकी नजर में सबसे बड़ा धर्म मानवता की सेवा करना था। उनका सन्देष है कि यदि हम धार्मिक अनुभवों को पवित्रता और सद्भाव से देखे तो सभी धर्मो के मूल तत्व समान दिखायी देते है। इसलिए सभी धर्मो के प्रति उनके हृदय में समान रूप से सम्मान दिखायी देता है। उनका मानना था कि सभी धर्मो का अन्तिम लक्ष्य मानव कल्याण करना ही होता है। जो धर्म या धार्मिक विचार मानव कल्याण की अनदेखी करता है उसे धर्म नहीं माना जा सकता है।

धर्म के प्रति उनके महन लगाव का ही प्रतिफल है कि वे धार्मिक प्रतीकों की भी अनदेखी नहीं करते थे। धर्म के एक बहुप्रचलित रूप मूर्तिपूजा का उनके द्वारा समर्थन किया गया। उनका कहना है कि जब हम ईश्वरको सर्वव्यापी मानते हैं तो इसका अर्थ है कि ईश्वरमूर्ति में भी निवास करता है। जब ईश्वरमूर्ति में मौजूद है तो मन्दिर, मस्जिद, चर्च में उसकी पूजा तो होनी ही चाहिए। मूर्ति पूजा ईश्वर के प्रति विश्वास को प्रकट करने का एक साकार साधन है लेकिन उनके द्वारा उस समय मूर्तिपूजा को अनुचित माना गया जबकि किसी देवता विशेष की पूजा करने वाला व्यक्ति केवल अपने देवता की मूर्ति को ही पूजा के योग्य बताने का प्रयास करता हो।

आचार्य विनोबा भावे का सम्पूर्ण चिन्तन नैतिकता और मानवता से अनुप्राणित दिखायी देता है। उनके अनुसार नैतिक मूल्य मानव जीवन की सबसे अमूल्य निधि हैं। नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा के कारण ही उन्होने सत्य और अहिंसा का प्रबल समर्थन किया। उनका मानना था कि आदर्श सामाजिक ढांचे का निर्माण सत्य और अहिंसा की बुनियाद पर ही किया जा सकता है। किसी भी समाज के नागरिकों का सत्यनिष्ठ और अहिंसा पूर्ण आचरण सामाजिक संरचना की बुनियाद को मजबूती प्रदान करता है। जिससे समाज रूपी महल टिकाऊ एवं विश्वसनीय बनता है।

9.4 आचार्य विनोबा भावे के राजनीतिक विचार

आचार्य विनोबा भावे के राजनीतिक विचारों पर सबसे अमिट छाप गांधी जी की दिखायी देती है। गांधी जी द्वारा अपने जिन आदर्शों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सका था और ऐसा लगने लगा था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त होने तथा गांधी जी की हत्या होने के बाद वे मृतप्राय हो जायेगें। उनको पुनर्जीवन देने का काम विनोबा भावे के द्वारा किया गया। स्वतन्त्र भारत की नवीन परिस्थितियों में गांधीवादी दर्शनको प्रासंगिकता प्रदान करने में विनोबा भावे की महती भूमिका है। आचार्य विनोबा भावे के प्रमुख राजनीतिक विचारों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

9.4.1 सर्वोदय विषयक विचार

आचार्य विनोबा भावे सर्वोदय के प्रबल समर्थक हैं। उन्होने यह धारणा गाँधी जी से ग्रहण की और इसे नया नाम 'साम्ययोग' दिया। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है 'सबका उदय' अर्थात उत्थान और कल्याण। सर्वोदय को स्पष्ट

करते हुए उन्होने लिखा कि यह समाज के कुछ लोगों का या बहुतों का या अधिकतम का उत्थान नहीं चाहता। हम बेन्थम के अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की धारणा से सन्तुष्ट नहीं है बल्कि हम तो केवल एक की और सबकी उच्च और निम्न की सबल और निर्बल की, बुद्धिमान और बुद्धिहीन की भलाई से ही संतुष्ट हो सकते है। सर्वोदय शब्द इस व्यापक धारणा को अपने में समेटे हुए है।

आचार्य विनोबा भावे के द्वारा अपनी सर्वोदय सम्बन्धी विचारधारा को स्थपित करने के लिए इसकी तुलना संसार में प्रचलित तीन विचारधाराओं से की गयी। पहली विचारधारा पूँजीवादी थी जिसकी मान्यता थी कि अधिक योग्यता वाले को अधिक वेतन दिया जाय जबकि कम योग्यता वाले को कम। इस व्यवस्था में कुछ गिने चुने लोग अधिकाधिक संपत्ति पर आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं तो बहुतायत जनता निर्धनता एवं अभाव का जीवन जीने के लिए मजबूर होती है। यह स्थिति समाज के लिए उचित नहीं कही जा सकती। दूसरी विचारधारा लोकतान्त्रिक समाजवाद पर आधारित है, जिसकी मान्यता है कि प्रत्येक सुधार संसदीय एवं सवैधानिक तरीके से की जानी चाहिए। लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार होता है अर्थात यह 'एक व्यक्ति एक मत के सिद्धान्त' मेंविश्वासकरती है। चुनाव में विजय उसी की मानी जाती है जिसे बहुमत प्राप्त होता है अर्थात बहुमत प्राप्त करने वाले को ही शासन करने की शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए स्वाभाविक रूप से इसमें बहुसंख्यकों की रक्षा और अल्पसंख्यको का दमन किया जाता है, इसलिए इसे भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता। तीसरी विचारधारा साम्यवाद (कम्यूनिज्म) की है जिसमें वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है और कहा गया है कि श्रमिक (सर्वहारा) क्रान्ति के माध्यम से पूंजी के सभी साधनों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगा। यह हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है किन्तु विनोबा भावे ने हिंसक क्रान्ति का विरोध करते हुए कहा कि हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है और जब तक यह चक्र चलता रहेगा दुनिया में शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती है। हिंसा का प्रयोग मानवता के मूल्य और प्रतिष्ठा को घटा देता है इसलिए ऐसी विचारधारा भी समाज के लिए उचित नहीं कही जा सकती है।

उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं को अस्वीकार करते हुए विनोबा भावे ने कहा कि सर्वोदय दर्शन सबसे उत्तम हैं क्योंकि यह बिना किसी द्वण्द या विरोध के सबसे उत्थान की बात करता है। इस सम्बन्ध में वे अद्वैत वेदान्त के सिद्वान्त से प्रभावित दिखायी देते हैं। इसलिए उन्होने माना कि प्रत्येक मनुष्य में परब्रह्म की एक आत्मा समान रूप से निवास करती है। इसलिए सभी मानव समान है और उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। उनका मानना था कि समाज में सर्वाधिक भेदभाव संपत्ति के आधार पर किया जाता है। इसलिए निजी संपत्ति की धारणा पर प्रहार करते हुए उन्होने कहा कि संपत्ति किसी रुप में क्यों न हो, हम उसके मालिक नहीं बल्कि सिर्फ ट्रस्टी हैं। वह एक पवित्र धरोहर के रुप में हमारे पास है। वस्तुतः हमारे पास जितनी शक्तियां हैं वे समाज की सेवा के लिए है न कि व्यक्तिगत स्वार्थो की पूर्ति के लिए। सर्वोदय समाज पूर्ण रुपेण ऐसा समाज होगा जिसमें आपसी सौहार्द्र, प्रेम और सहयोग की भावना प्रबल होगी और प्रतिस्पर्धा या द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इसलिए उन्होने सर्वोदय के सम्बन्ध में लिखा कि सर्वोदय समाज के लिए अपनी आवश्कताओं को बढ़ाने और पूरा करने के लिए आकाश-पाताल एक करने के बजाय अपनी आवश्कताओं और तृष्णाओं को कम करेगें और अपने मन को नियन्त्रित करेगें। ऐसे समाज में बहुमत या अल्पमत की समस्याएं उत्पन्न नहीं होगी। बहुमत और अल्पमत की समस्याएं तो वहाँ उत्पन्न होती हैं जहां मनुष्य अपने प्रतिद्वण्दी हितों की पूर्ति के लिए अपने आपको संगठित कर लेते हैं और प्रेम तथा साहचर्य की अपेक्षा धन और व्यक्गित हित को अधिक महत्व देते हैं। सर्वोदय समाज का सूत्र वाक्य होगा तुम दूसरों की आवश्कताओंका ध्यान रखो और अपनी ऐसी कोई आवश्यकता न पालो जिससे दूसरों को कष्ट होता हो। उनके अनुसार यही वह नियम है जिसका अनुसरण करने वाले परिवार सुखी होते हैं इसलिए

इसको व्यापक समाज पर भी आरोपित करना कठिन नहीं होना चाहिए बल्कि सामाजिक जीवन में इसे सहजता और स्वाभाविक तरीके से स्वीकार किया जाना चाहिए।

सर्वोदय दर्शनपर आधारित समाज में आपसी कटुता, वैमनस्य या विरोध-प्रतिरोध की सम्भावना इसलिए भी नहीं होगी क्योंकि इसमें लिया जाने वाला निर्णय मतदान अर्थात बहुमत पर आधारित नहीं होता है बल्कि वहां तो प्रत्येक निर्णय आपसी वाद-विवाद और तर्क-वितर्क पर आधारित एवं सर्वसम्मति से होता है। जिसमें एक-दूसरे की विरोधी भावनाओं का लोप हो जाता है। इसका अन्तिम निहितार्थ व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामाजिक हित अर्थात सबका कल्याण करना होता है। सबके कल्याण की भावना से ओतप्रोत होने के कारण सर्वोदय समाज में असमानता या अन्याय के लिए कोई स्थान नहीं बचता है। इसलिए हिंसा और अशांति की भी सम्भावनाओं का अन्त हो जाता है। ऐसा समाज आपसी भाई चारे और सहयोग की अद्भुत मिशाल कायम करेगा। यह ऐसा समाज होगा जिसमें किसी भी रूप में मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं होगा। इसमें विषमता के स्थान पर समानता, प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग और संघर्ष के स्थान पर सहयोग और प्रेम का साम्राज्य स्थापित होगा।

9.4.2 दल विहीन लोकतन्त्र

सर्वोदय दर्शनमें आस्था के कारण आचार्य विनोबा भावे वर्तमान लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मानना है कि लोकतन्त्र कहने के लिए भले ही जनता का शासन है लेकिन इसमें बहुमत का दबदबा दिखायी देता है। लोकतन्त्र बहुमत पर आधारित शासन होता है, इसलिए इसमें राजनीतिक दलों एवं नेताओं द्वारा बहुमत प्राप्त करने के लिए प्रत्येक तरह के हथकंडे अपनाए जाते हैं। लोकतन्त्र की कमियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराते हुए वे कहते हैं कि लोकतन्त्र में शक्ति और सत्ता प्राप्त करना ही शासकों का मुख्य ध्येय होता है। इसके लिए वे सभी प्रकार के भ्रष्टाचार एवं अनैतिक आचरण का अवलम्बन करते हैं। जब सत्ता प्राप्त हो जाती है तो शासक अपनी कुर्सी बचाने में ही अपनी सम्पूर्ण क्षमता लगा देता है। जिससे जनकल्याणकारी कार्य बाधित होने लगते है। लोकतन्त्र में भ्रष्टाचार भी चरम पर होता है। जिससे आर्थिक विषमता का उत्पन्न होना स्वाभाविक है । कालान्तर में यही आर्थिक विषमता समाज में लोगों के बीच तनाव व कटुता का कारण बनती है। यह स्थिति सर्वोदय दर्शनके अनुकुल नहीं कही जा सकती है।

राजनीतिक दल लोकतन्त्र के पर्याय बन चुके हैं। किसी भी लोकतान्त्रिक देष के शासकीय संरचना की कल्पना दलों के अभाव में सम्भव नहीं रह गयी है। ये राजनीतिक दल अपने स्वार्थो को पूरा करने के लिए न सिर्फ जनता का उपयोग करते हैं बल्कि उन्हें अपने पक्ष में लामबन्द करने के लिए उनके मध्य तनाव या कटुता भी उत्पन्न करते हैं। विनोवा भावे दलगत राजनीति को भारत के लिए अभिशाप मानते थे। उनका कहना था कि इससे राजनीति में संकीर्णता, विद्वेष, घृणा और भ्रष्टाचार बढ़ता है। यह दलबन्दी को भी बढ़ाती है जबकि आवश्यकता इस बात की है कि दलीय भावनाओं से ऊपर उठकर जनसामान्य के हितार्थ कार्य किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होने अपने विचार प्रकट करते हुए 1954 में कहा था कि दलगत राजनीति के जरिये क्रान्ति कभी नहीं हो सकती बल्कि वह जनमानस के उद्वेलित होने से होती है। अतः उसे पक्षातीत होना चाहिए। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि लोग एक-दूसरे के सामने अपना दिल खोलकर रखें लेकिन आजकल तो दल एक-दूसरे से भारी नफरत करते हैं। उनके लिए अपनी पार्टी की पुस्तकें ही वेदवाक्य हैं। उनके विचार अत्यन्त संकुचित होते जा रहें हैं। उनके अन्दर केवल दलबन्दी नहीं बल्कि दिलबन्दी भी फैल गयी है जो अत्यन्त घातक है। यह स्थिति सर्वोदय क्रान्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। विचारों के प्रसार के लिए दिल खुले होने चाहिए। विनोबा भावे इसके लिए वर्तमान राजनीति को दलों के दल-दल से सर्वथा मुक्त रखना चाहते थे।

दल विहीन लोकतन्त्र के प्रति अपनी आस्था को प्रकट करते हुए उन्होने कहा है कि जहां तक विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रति हमारी नीति का प्रश्नहै। मेरा मानना यह है कि उन्हें भिन्न दलों के रूप में अपना अस्तित्व समाप्त कर देना चाहिए और सामान्य सम्मति से स्वीकृत कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अच्छे तथा निष्ठावान व्यक्तियों का एक मोर्चा बना लेना चाहिए। इस उद्देश्यसे मैं जनता के सामने एक ऐसा कार्यक्रम रख रहा हू जो सबको स्वीकार हो सके और जिसमे सभी लोग अपना मतभेद भुलाकर सम्मिलित हो सकें। इससे राजनीतिक दल एक-दूसरे के निकट आयेगें और परिणाम यह होगा कि उनके मतभेद कम होगें और आपसी सहमति तथा मेल-मिलाप बढ़ेगा। जिससे देष प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा और राष्ट्रीय विकास की बाधाएं दूर हो सकेंगी।

अभ्यास प्रश्न1- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखें।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. विनोबा भावे ईश्वरको तर्क का नही वरन अनुभुति का विषय मानते थे।

(i) सत्य है (ii) असत्य है

2. क्या आचार्य विनोबा भावे मूर्ति पूजा का समर्थन करते थे ?

3. सर्वोदय का क्या अर्थ है ?

4. दलविहीन लोकतन्त्र का समर्थन किया था-

(i) सुभाष चन्द्र बोस ने (ii) जवाहर लाल नेहरू ने

(iii) आचार्य विनोबा भावे ने (iv) इनमें से किसी ने नहीं

9.4.3 बहुमत और सर्वसम्मति

वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था में बहुमत द्वारा निर्णय लेने की व्यवस्था प्रचलित है। संसद से लेकर ग्राम स्तर तक की लोकतान्त्रिक संस्थाएं बहुमत के आधार पर ही कार्य करती हैं। आचार्य विनोबा भावे बहुमत आधारित पद्धति के उग्र विरोधी थे। बहुमत आधारित निर्णय प्रथा की आलोचना करते हुए उन्होने कहा कि पहले जैसे निर्णय तलवार से लादा जाता था अब वह बहुमत के जोर से लादा जाता है। तलवार के बारे में कहावत प्रचलित थी कि उसमें अक्ल नहीं होती है इसलिए उस व्यवस्था का परित्याग कर दिया गया। बहुमत के सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सकती है कि इसमें अक्ल नहीं होती है। केवल संख्या बल के आधार पर निर्णय लेना सर्वथा गलत है। बहुमत का निर्णय समाज के सभी लोगों का हित साधन करने वाला होगा यह आवश्यक नहीं है। ऐसे में समाज व राज्य के उस वर्ग में असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है जिसका इस प्रकार के निर्णय से अहित होगा। इससे राजनीतिक व्यवस्था में एक-दूसरे को गिराने या नीचा दिखाने की कशमकश प्रारम्भ हो जाती है और एक पक्ष दूसरे पक्ष के काम को बिगाड़ने में लगा रहता है। परिणामस्वरूप राजनीतिक व्यवस्था के टूटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। इसलिए विनोबा भावे ने माना कि समाज में लिया जाने वाला निर्णय यदि सर्वसम्मति पर आधारित हो तो निष्चित की इसका परिणाम सर्व समाज के कल्याण के रूप में दिखेगा। यदि राजनीतिक व्यवस्था का निर्णय सर्वहितकारी या लोककल्याणकारी होगा तो उसके प्रति लोगों का लगाव बढ़ेगा। यह राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए शुभकारी होगा। इस प्रणाली की कसौटी 'बहुत' और 'कुछ' की कसौटी के स्थान

पर सर्व समाज का हित होगा। समाज का हित इसका लक्ष्य होगा इसलिए समाज के लोगो में आपसी कषमकष या एक-दूसरे को नीचा दिखाने या गिराने कीप्रवृत्तिका भी लोप हो जायेगा।

9.**4.4 स्वराज्य-**विनोबा भावे न केवल स्वराज्य का अर्थ भारत के अन्य राजनीतिक विचारकों से भिन्न मानते हैं बल्कि स्वराज्य की प्राप्ति उनका सबसे प्रमुख लक्ष्य भी है। सबसे पहले बाल गंगाधर तिलक के द्वारा नारा दिया गया था कि 'स्वराज्य' हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है हम इसे लेकर ही रहेगे'। स्वराज्य शब्द से तिलक का आषय था अंग्रेजी शासन के स्थान पर भारतीयों का शासन स्थापित करना जबकि विनोबा भावे ने स्वराज्य का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया और माना कि स्वराज्य का अर्थ 'आत्मा का शासन' है। आत्मा दैवीय गुणों का प्रतीक है। अतः स्वराज्य का अर्थ ऐसी स्थिति से है जिसमें मनुष्य नैतिक रूप से इतना मजबूत हो जाय कि उसमें गलत कार्यों के प्रति आकर्षण पूर्णतः समाप्त हो जाय। उन्होंने माना कि मानव मन में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के बीच सदैव संघर्ष चलता रहता है। जिसमें दैवी शक्तियों की विजय होनी चाहिए क्योंकि आसुरी प्रवृत्तियाँ ही मानवीय आत्मा को नाना प्रकार के प्रलोभनों के प्रति आकृष्ट करके उसे पथभ्रष्ट करती हैं। इसलिए सच्चा स्वराज्य तभी स्थापित हो सकता है जब व्यक्ति अपने आप पर कड़ा आत्मानुशासन रखे। वर्तमान राजनीति में व्याप्त गंदी प्रवृत्ति शक्ति प्राप्त करने की लालसा का भी उन्मूलन तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति के अन्दर आत्मानुशासन अर्थात स्वराज्य स्थापित हो जाय। शक्ति प्राप्त करने की यह लालसा ही व्यक्ति को भ्रष्ट और अनैतिक आचरण करने के लिए प्रेरित करती है और जब इसका अन्त हो जायेगा तो समाज में भ्रष्टाचार और अनैतिकता भी समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार विनोबा भावे के अनुसार स्वराज्य ऐसी स्थिति का घोतक है जिसमें मनुष्य अपनी सच्ची अन्तरात्मा से प्रेरित होकर अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करता है और व्यक्तिगत हित के लिए किये जाने वाले गलत कार्यों का परित्याग कर देता है।

9.4.5 विकेन्द्रीकरण

गाँधी जी की भांति आचार्य विनोबा भावे भी शासन की शक्तियों के केन्द्रीकरण के विरूद्ध थे। उनका मानना था कि शासन की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। वही शासन व्यवस्था सर्वोत्तम है जिसमें सबसे अधिक शक्ति निचले स्तर की संस्था के पास हो और जैसे-जैसे ऊपर बढ़ा जाय ऊपरी संस्थाओं की शक्तियां उत्तरोत्तर कम होती जाय। इस प्रकार वे वर्तमान शासन व्यवस्था का शीर्षासन कराना चाहते है और ऐसी स्थिति लाना चाहते हैं जिसमें केन्द्रीय सत्ता की शक्तियां अत्यन्त सीमित हो। उन्होने 1952 में प्रकाशित अपने निबन्ध 'आउट लाइन आफ सर्वोदय' में लिखा कि 'भारत में गांवों को अवश्य ही आत्म निर्भर होना चाहिए। उन्हें वे सभी माल तैयार करना चाहिए जिसकी उन्हें अपने गांव में जरूरत होती है। सबको भोजन मिलना चाहिए और सबको काम करना चाहिए। देष की अर्थव्यवस्था संयुक्त परिवार की राह पर बननी चाहिए। गांवों के लोग अपने शासन का काम भी स्वयं करेगें। आर्थिक और राजनीतिक दोनों स्तरों पर विकेन्द्रीकरण जनता को अपने कार्यों का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण करने के लिए प्रशिक्षितएवं अनुशासित करेगा। केन्द्रीय सत्ता जब तक बनी रहेगी रेल में लगी खतरे की जंजीर की तरह होगी। सवारियां सदैव इस जंजीर की तरफ ध्यान केन्द्रित नहीं रखती बल्कि खतरे के समय ही इसका उपयोग करती है।

विनोबा भावे गांवो के शासन को दलबन्दी की बुराईयों से दूर रखना चाहते हैं। इसलिए उनका कहना था कि गांवों के शासन संचालन में किसी प्रकार का मतभेद न हो। गांवों के शासन का संचालन एकमत अर्थात सर्वसम्मति से किया जाय। इसके लिए गांव के लोगों के द्वारा आपसी सहमति से अपने में से ही 5 से 10 लोगों की एक कार्यकारिणी का निर्माण कर लिया जाय और यह कार्यकारिणी सभी निर्णय सर्वसम्मति से ले। जब कभी किसी मुद्दे

पर कार्यकारिणी के लोगों में मतभिन्नता हो तो उसे तब तक के लिए छोड़ देना ठीक है जब तक सब उससे सहमत न हो जाय। गांव के विभिन्न स्रोतो से होने वाली आय के लिए एक ग्राम कोष की स्थापना की जाय। इस कोष में जमा धनराशिका 40वां हिस्सा गांव के विकास पर खर्च किया जाय तथा शेष धनराशिसरकार को दे दी जाय। ग्राम सभा के द्वारा ही गांव के भूमिहीनों में जमीन वितरित करने का काम भी किया जायेगा और ग्राम सभा की कुछ भूमि का उपयोग सार्वजनिक हित के लिए किया जाय।

विनोबा भावे गांवों को पूरी तरह स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में स्थापित करना चाहते थे। इसलिए उनका मानना था कि गांवों की सम्पूर्ण व्यवस्था की नियन्ता ग्रामीण संस्थाएं ही होगी। उनका कहना था कि न सिर्फ लोगों को आत्मनिर्भर बनाना बल्कि गांव में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदारी भी गांव की ही होगी। ग्राम शासन ही पुलिस मुक्ति और अदालत मुक्ति है। इसका आषय है कि गांव के बाहर से पुलिस का कोई व्यक्ति गांव में नहीं आयेगा बल्कि शान्ति व्यवस्था स्थापित करने का काम गांव के लोग ही करेगें। प्रत्येक गांव में एक शान्ति सेना होगी जिसमें सर्वोदय में आस्था रखने वाले 10 लोग होगे जो सर्वोदय के आदर्शों के अनुरूप शान्ति बनाये रखने का प्रयास करेगें। अदालत मुक्ति का आषय है कि गांव के लोगों के झगड़ो का निस्तारण भी अदालत या कचहरी में नहीं किया जायेगा बल्कि उसे गांव स्तर पर ही निपटा लिया जायेगा।

9.4.6 भूदान

विनोबा भावे के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शनमें उनके भूदान सम्बन्धी विचार अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। उन्होने न सिर्फ भूदान यज्ञ का विचार प्रतिपादित किया बल्कि इसे क्रियात्मक और व्यावहारिक स्थिति भी प्रदान किया। विनोबा जी का यह कार्यक्रम केवल भूमि के पुनर्वितरण का कार्यक्रम नहीं था बल्कि यह तो एक नवीन मानवता एवं सभ्यता का सूत्रपात है। यदि इसका उद्देश्यकेवल भूमि का वितरण करना होता तो यह कार्य जमीदारी उन्मूलन कानून बनाकर बड़े आसानी से किया जा सकता था लेकिन भूदान आन्दोलन के पीछे विनोबा भावे का उद्देश्य जमीदारों के दृष्टिकोण एवं विचारों में परिवर्तन लाना था। उनका मानना था कि यदि लोग यह समझते हुए भूमि का दान करते हैं कि समस्त भूमि ईश्वरकी है तो निष्चित ही भूमि के प्रति मोह और उसके अधिकार में गर्व की भावना कम हो जायेगी। इस हृदय परिवर्तन के बिना नवीन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। भूमिदान के द्वारा विनोबा भावे भूमिपतियों के हृदय में कैसी क्रान्ति लाना चाहते थे इसका बड़े सुन्दर शब्दों में उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि भूमि के पुनर्वितरण का कार्य राज्य के कानूनो द्वारा सरलता से किया जा सकता है किन्तु क्या इससे मोह और अभिमान के बन्धन कट जायेगें, क्या हम कानून के द्वारा मनुष्य को अभिमान का त्याग करने, अपनी उच्च स्थिति की भावना का त्याग करने तथा त्याग का जीवन व्यतीत करने और लोभ को छोड़ने के लिए विवष कर सकते है और यह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि मानव हृदय परिवर्तित न हो जाय अर्थात उसके अन्दर यह भाव न उत्पन्न हो जाय कि ईश्वरकी सभी सन्तानों (मानव) के पास उसके आवश्यकता भर की भूमि अवश्य होनी चाहिए।

इससे यह सिद्ध होता है कि विनोबा भावे के भूदान यज्ञ का उद्देश्यसमाज के धनाढ्य और गरीब दोनो वर्गो का हृदय परिवर्तन करना था। उनका कहना था कि धनी व्यक्ति के भीतर अभिमान व लोभ की भावनाएं प्रबल होती है तो गरीब व्यक्ति हताष और निराष होता है जिससे वह चापलूसी करने का आदी बन जाता है। इस प्रकार दोनों वर्गों के हृदय और उद्देश्यमें कोई एकता नहीं होती और समाज आन्तरिक तौर पर विभाजित हो जाता है। स्वेच्छा से भूदान करने से यह सामाजिक विभाजन समाप्त हो जायेगा, लोगो का हृदय एक हो जायेगा, परिणामस्वरूप धनी और गरीब की कटुता भी समाप्त हो जायेगी। स्वेच्छा से किया गया भूदान उन समस्त सामाजिक रोगों का उपचार सम्भव

बना देगा जिससे आज का समाज पीड़ित है। हृदय परिवर्तन के उपरान्त यदि भूमिपति अपनी भूमि एक पिता की भांति प्रेम व उदारता के साथ भूमिहीनों को देता है, उनकी सेवा करने लगता है, उनके सुख-दुख में भागीदार बन जाता है तो विषमता जन्य सामाजिक रोग स्वतः उपचारित हो जायेगा।

विनोबा भावे कभी भी यह दावा नहीं किये कि उनके भूदान आन्दोलन का उद्देश्यभूमि का वितरण कर उत्पादन को बढ़ाना है बल्कि वे तो जोर देकर कहते थे कि उनका उद्देश्यवर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदलना है। भूदान आन्दोलन पूर्ण क्रान्ति (सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक) कीदिशामें पहला कदम है। यह उस अधिकार भावना पर कुठाराघात है जिस पर वर्तमान समाज आधारित है। यह अधिकार भावना समाज के छोटे और बड़े सभी भूमिपतियों में पायी जाती है। इसलिए हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया व्यापक स्तर पर होनी चाहिए। इसके लिए उन्होने माना कि यदि छोटे भूमिपति अपनी भूमि का दान करेगें तो बड़े भूमिपति भूदान के लिए प्रेरित होगें। जिससे समाज के लोगो मे प्रेम, सहयोग और उदारता का उदय होगा और समाज का अन्तर्कलह कम हो जायेगा।

विनोबा भावे के आन्दोलन की जड़ में हैदराबाद की परिस्थितियां थी। जहां जमीदारी या सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला था। जिसके कारण वहाँका किसान भूमिहीन तथा अत्यधिक गरीब था। स्वतन्त्रता पूर्व निजाम के शासन काल में कुछ युवकों ने भूमिहीनों की लड़ाई लड़ने का निष्चय किया किन्तु उन्हें कोई विशेषसफलता नहीं मिली परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद साम्यवादी आन्दोलन भीषण स्वरूप लेने लगा। जिसके कारण केन्द्रीय सरकार द्वारा इसे दृढ़तापूर्वक कुचलने का निर्णय लिया गया। इससे साम्यवादी आन्दोलन और उग्र होने लगा। परिस्थितियों को भांपते हुए विनोबा भावे ने शान्ति सैनिक के रूप में तेलंगाना में हैदराबाद के निकट षिवराम पल्ली में सर्वोदय सम्मेलन करने का निर्णय लिया। इस यात्रा के समय उन्हें इस बात की जानकारी प्राप्त हुई कि यहाँ कुछ लोगों के पास हजारों एकड़ जमीन है तो अधिकांशके पास विलकुल जमीन नहीं है। यह विषमता हैदराबाद में साम्यवादी आन्दोलन का बड़ा कारण थी। यही से उनके अन्दर भूदान को यज्ञ के रुप में शुरु करने की भावना प्रबल हुई। उनकी इस भावना को श्रीराम चन्द्र रेड्डी ने बल प्रदान करते हुए अपनी भूमि दान में दे दी। इसे ईश्वरकी प्रेरणा मानते हुए लोगों ने प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण किया। इस प्रकार विनोबा जी ने यह निष्चय किया कि वे इस पुनीत कार्य के लिए भारत के विभिन्न प्रान्तों की यात्रा करेगें। भूदान के समर्थन में उन्हाने तर्क दिया कि सूर्य की किरणें राजा और रंक दोनों को समान रूप में मिलती हैं। ईश्वरअपने द्वारा निर्गत वस्तुओं के वितरण में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता है। यदि ईश्वरजल, वायु, प्रकाश और आकाश के वितरण में भेदभाव नहीं करता है तो यह सम्भव नहीं हैं कि वह भूमि को कुछ लोगों के हाथों में सौप दिया होगा। भूमि भगवान की संपत्ति है इसलिए इसका वितरण भूमिपतियों द्वारा भूमिहिनों में कर दिया जाना चाहिए। परन्तु भूदान करते समय भूस्वामियों में दानी का अभिमान नहीं बल्कि विनम्रता और पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य पालन की भावना होनी चाहिए। भूदान आन्दोलन को यज्ञ कहने के पीछे विनोबा भावे का यही निहितार्थ था कि यह मानव के अभिमान और अहंकार को जलाकर राख कर देता है। 30 जनवरी 1954 को उन्होने गया जिले के किंजर नामक स्थान पर भाषण देते हुए कहा था कि ‘‘प्रत्येक व्यक्ति को इस यज्ञ मे आहूति देनी चाहिए। हमें यज्ञ में पशु की नहीं वरन इसके स्थान पर अपने स्वार्थ, आसक्ति, लोभ और लालच की आहूति देनी चाहिए। यह मनुष्य का एक पवित्र धार्मिक कर्तव्य है कि वह अपने भूखे, नंगे पड़ोसियों को भूमिदान करे। इससे समाज में शान्ति व सौहार्द्र की स्थिति स्थापित होगी। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि विनोबा भावे के भूदान दर्शनका उद्देश्यसम्पूर्ण राष्ट्र और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण मानव जाति का नैतिक उत्थान करना है। यह मानव में उस परमार्थ को जागृत करने का सफल प्रयास है जो कि अहंकार से आच्छादित मनुष्य के हृदय की गहराइयों में छिया है।

9.4.7 संपत्ति दान

यद्यपि भूदान आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में विनोबा भावे द्वारा संपत्ति दान के विचार को अस्वीकार कर दिया गया था परन्तु बाद में चलकर उन्होने महसूस किया कि भूमिहीनों को दी गयी भूमि पर उन्हें बसाने तथा खेती कार्य करने हेतु धन की आवश्यकता होगी। बिना धन के जमीन का टुकड़ा निरर्थक सिद्ध होगा। इसलिए उनके द्वारा गाँधी जी के ट्रस्टीषिप के सिद्धान्त से प्रेरणा लेते हुए संपत्ति दान के दर्शनका अवलम्बन किया गया। संपत्ति दान के मूल में यह विचार था कि सारी संपत्ति भगवान की है। इसलिए इसका उपयोग सबकी भलाई के लिए किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि जिन व्यक्तियों के पास किसी भी प्रकार की कोई संपत्ति है उन्हें इस संपत्ति का अधिक नही तो कम से कम छठा हिस्सा समाज कल्याण के कार्यो पर खर्च करना चाहिए। भूदान केवल वही कर सकता है जिसके पास भूमि है लेकिन संपत्ति दान प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है क्योंकि उसके पास कोई न कोई संपत्ति अवश्य होती है। निर्धन से निर्धन व्यक्ति के पास भी यह संपत्ति उसके श्रम के रूप में होती है। इसलिए धनिकों एवं निर्धनों को समान रूप से सामाजिक कार्य के लिए संपत्ति दान करना चाहिए।

संपत्ति दान वास्तव में भिक्षा-दान नहीं है बल्कि यह तो मनुष्य के इस विश्वास की अभिव्यक्ति है कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है उसका उपयोग गरीबों की भलाई एवं सेवा के होना चाहिए। यह गॉधी जी के न्यास सिद्धान्त का क्रियात्मक रूप कहा जा सकता है। इसमें संपत्ति का स्वामी अपने को उसका मालिक नहीं बल्कि न्यासकार समझता हैं। संपत्ति का स्वामी जब अपने अहंकार का त्याग कर अपनी संपत्ति गरीबों को देता है तो इससे दोनों के बीच प्रेम बढ़ता है और यह सामाजिक संरचना को मजबूती प्रदान करता है। संपत्ति दान जहां देने वाले के मन को शुद्ध करता है एवं उसे मानसिक शान्ति प्रदान करता है वहीं लेने वाले का भी उत्थान करता है। इस आन्दोलन ने लोगों में भारी चेतना का संचार किया और लोग शनैः शनैः इस बात को स्वीकार करने लगे कि उनके पास जो कुछ भी है उसका प्रयोग आपस में बांट कर किया जाना चाहिए क्योंकि उस पर सभी का समान अधिकार है।

संपत्ति दान और भूदान के सूक्ष्य अन्तर को विनोबा भावे ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि भूदान में दानी जब अपनी भूमि का दान कर देता है तो उसका दायित्व समाप्त हो जाता है किन्तु संपत्ति दान में दाता न केवल अपनी संपत्ति का दान करता है बल्कि उसे सामाजिक कार्यों के लिए इसका व्यय और प्रबन्ध भी स्वमेव करना पड़ता है। उन्होने माना कि भूदान विवाह में कन्यादान करने जैसा है जिससे दाता एक दायित्व से मुक्त हो जाता है किन्तु संपत्ति दान अपना विवाह करने जैसा है जिससे व्यक्ति एक नये बन्धन में बधता है।

9.4.8 ग्रामदान

विनोबा भावे के अनुसार ग्रामदान का अर्थ कदापि यह नहीं है कि लोग गांव दान में देकर अपने कहीं अन्यत्र चले जाय बल्कि यह तो एक ऐसी पवित्र धारणा है जिसमें पूरा गांव एक विषाल परिवार का रूप धारण कर लेगा। यह व्यक्तिगत संपत्ति पर आघात तो करता है लेकिन उसे नष्ट नहीं करता है। ग्रामदान में प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमि जिसे व जोतता-बोता है, स्वामी बना रहता है। परन्तु एक व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह केवल अपने लिए नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिए करता है। उन्होने लिखा है कि ‘‘ग्रामदान गांव को छोड़कर भाग जाना नहीं अपितु मिल जुलकर रहना है। ग्रामदान में हरिजन-परिजन, अमीर-गरीब आदि का कोई भेद नहीं रहेगा। सब मिल बांटकर खायेगें। एक-दूसरे के सुख-दुख में शरीक होगें। भागवत में कहानी है कि गोकुल वृन्दावन में घर-घर की दही इकट्ठा करके सब खाते थे ऐसा ही ग्रामदान में भी होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी लोग एक घर में रहेगें, एक जगह खायेंगे। अलग-अलग परिवार होते हुए भी भावना एक कुटुम्ब की रहेगी। सबमें सबके प्रति प्रेम होगा। हरेक सबके हित में अपना हित समझेगा। ग्राम दान में बच्चे, बूढ़े, बेकार और बेवाओं की सेवा करनी होगी। जमीन की

मालिकी गांव को समर्पित करनी होगी। जमीन का वीसवां हिस्सा भूमिहीनों को देना होगा। गांवों में खादी और ग्रामोद्योग बढ़ाने होगे, शान्ति सेना बनानी होगी, उत्पादन बढ़ाना होगा।''

ग्रामदान के पश्चातऐसे गांव के समस्त निवासी एक-दूसरे के सुख-सुख में भागीदार बनते हैं। वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग सबकी भलाई के लिए करते हैं। उन्होनें कहा है एक अध्यापक, एक संगीतज्ञ, एक षिल्पकार, एक किसान प्रत्येक अपना-अपना उद्यम करेगा। ग्राम वार्षिक उपज में से सबको हिस्सा देगा। सब अपने को एक समझेगें और एक सामान्य जीवन व्यतीत करेगें। इस व्यवस्था में व्यक्ति अपनी भूमि व धन समाज को देकर भी कुछ खोता नहीं है बल्कि उसकी सुरक्षा बढ़ जाती है क्योंकि उसकी सुरक्षा का दायित्व समाज के कन्धों पर आ जाता है। ग्रामदान सारे गांव के लोगों का आर्थिक और सामाजिक जीवन बदलने की योजना है। इसका उद्देश्य है कि आर्थिक विषमता घटनी चाहिए, सामाजिक विषमता मिटनी चाहिए, आध्यात्मिक मूल्य सामने आयें और लोगों में परस्पर सहयोग बढ़े। निर्धन से निर्धन व्यक्ति के पास भी प्रेम, सहयोग और श्रद्धा की तीन बड़ी शक्तियां होती है जिनका उपयोग करके वह अपने गांव को स्वर्ग बना सकता है। ऐसा गांव पूर्णरूपेण आत्मनिर्भर होगा अर्थात यह ग्राम स्वराज के धारणा का जीवन्त रुप कहा जा सकता है। जिसमें सभी निर्णय लोगों की आपसी सहमति अर्थात सर्वसम्मति से लिया जायेगा।

9.4.9 राजनीति सम्बन्धी विचार

आचार्य विनोबा भावे राजनीति में प्रचलित दोषों से पूर्णतया अवगत थे। उन्होने देखा कि राजनीति का एक मात्र उद्देश्यशक्ति और सत्ता प्राप्त करना है। सत्तारुढ़ दल कभी भी अपनी सत्ता का त्याग नहीं करना चाहता है वरन वह तो सत्ता में बने रहने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद का सहारा लेने में भी कोई संकोच नहीं करता है। सत्ता न सिर्फ व्यक्ति में अहंकार अपितु अनैतिकता को भी प्रोत्साहित करती है। इसलिए विनोबा भावे ने कहा कि ऐसी गन्दी राजनीति के स्थान पर लोकनीति की स्थापना करके ही उसका कायाकल्प किया जा सकता है। उनके अनुसार शासन या सत्ता का उद्देश्यलोगों का कल्याण या सेवा करना होना चाहिए। यह व्यवस्था सर्वोदयवादी व्यवस्था में ही मुमकीन हो सकती है क्योंकि सर्वोदयवादी न तो सत्ता को कोई महत्व देते हैं और न ही उसके पीछे पागल बने फिरते हैं। वे तो अपनी वैयक्तिक सत्ता को सर्वथा शून्य और निर्मूल बनाकर जनता की सेवा में अपने को समर्पित कर देना चाहते हैं। राजनीति व्यक्ति को अधिकाधिक नियन्त्रित रखने में विश्वास करती है जबकि सर्वोदय दर्शन(लोकनीति) लोगों का आत्मिक विकास इस प्रकार करना चाहता है जिसमें लोग स्वमेव नियमों का पालन करते हुए सामाजिक सुरक्षा के दायित्व का निर्वहन करते रहें। लोकनीति दण्ड के स्थान पर लोगों में समझ और संयम पैदा करने पर बल देती है जिससे बिना किसी दबाव में लोगों को शान्तिपूर्ण जीवन जीने के मार्ग पर अग्रसर किया जा सके।

उन्होंने राजनीति में प्रचलित हिंसा तथा दण्डनीति को भी अस्वीकार करते हुए कहा कि ये दोनो शक्तियां किसी समस्या का समुचित समाधान नहीं कर सकती हैं। उनका तर्क था कि हिंसा से हिंसा का अन्त नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार जैसे आग से आग को नहीं बुझाया जा सकता या कीचड़ से कीचड़ को नहीं साफ किया जा सकता बल्कि इन दोनों के लिए पानी का होना आवश्यकहै। पानी व्यक्ति के निर्मलता व पवित्रता का प्रतीक है। व्यक्ति में आन्तरिक शुद्धता की स्थापना हो जाने पर वह स्वतः ही राज्य के आदेषों का पालन करने लगेगा। व्यक्ति यदि राज्य के कानूनों को पवित्र मानते हुए उनका पालन करने लगे तो फिर दण्ड शक्ति और सेना या पुलिस की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। इसके लिए किसी राजनीति या शासन की भी आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि इसमें निस्वार्थ भाव से लोक सेवा के दायित्व का निर्वहन करने वाले कार्यकर्ता मौजूद होगें। उन्हें इसके लिए न तो किसी पद की

आवश्यकता होगी और न ही शक्ति की ही। यह लोकशक्ति पर आधारित व्यवस्था होगी जिसे सामान्य रूप से सर्व समाज का समर्थन प्राप्त होगा।

9.4.10 मार्क्सवाद के सम्बन्ध में विचार

आचार्य विनोबा भावे के द्वारा मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक पक्षों तथा ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया गया। साम्यवादी साहित्य के सम्बन्ध में उनका कहना था कि 'दरअसल वह साहित्य कही गहरा कहीं छिछला होते हुए भी समुद्र की तरह अपरम्पार है।'' जेल में रहते हुए उन्होने साम्यवादियों का वेद समझी जाने वाली पुस्तक 'Das Capital' का अनुशीलन किया था। इसलिए उन्होने आगे लिखा कि ''प्राचीन पौराणिकों के बाद अधिक से अधिक पुनरुक्ति की भी परवाह किये बिना साहित्य का सतत प्रचार करते रहने का अदम्य साहस आज तक कम्यूनिष्टों के शिवाय किसी ने नहीं दिखाया होगा। सुनने वाला या पढ़ने वाला कितना ही क्यों न भूले फिर भी उसकी बुद्धि में कुछ न कुछ संस्कार शेष रह ही जायेगा ऐसी श्रद्धा उन प्राचीन ऋषियों की और इन आधुनिक ऋषियों (कम्यूनिष्टों) की है।'' विनोबा भावे साम्यवादियों के निर्धनों के प्रति प्रेम, श्रद्धा, उत्साह एवं दृढ़ विश्वास से अत्यधिक प्रभावित हुए फिर भी साम्यवाद से विभिन्न पहलुओं पर उनका तीव्र मतभेद था जिसका उल्लेख संक्षेप में निम्न प्रकार किया जा सकता है-

1. धर्म और ईश्वरमें विष्वास- मार्क्सवादियों तथा आचार्य विनोबा भावे के मध्य प्रथम मतभेद धर्म और ईश्वरमें आस्था को लेकर देखने को मिलता है। विनोबा भावे आध्यात्मिक और धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करते हैं और ईश्वरको सर्वव्यापी मानते हुए अपने सर्वोदय दर्शनमें तर्क देते हैं कि ईश्वर मनुष्य में भी पाया जाता है। इसलिए मानव सेवा और उद्धार के कार्यों को सच्ची लगन और श्रद्धा से करना चाहिए। इसके विपरीत मार्क्सवादी धर्म को अफीम के समान मानते है और ईश्वरमें भी उनकी कोई आस्था नहीं है।

2. साधनों की पवित्रता- विनोबा भावे गाँधी जी के साधनों की पवित्रता सम्बन्धी धारणा में आस्था रखते हैं। सर्वोदय दर्शनभी यह मानता है कि सामाजिक परिवर्तन तभी स्थायी होगा जबकि वह शान्ति पूर्ण एवं अहिंसात्मक साधनों पर अवलम्बित हो। हिंसा द्वारा किया गया परिवर्तन समाज में प्रतिहिंसा तथा प्रतिषोध की भावना को बढ़ावा देगा। इसके विपरीत साम्यवादी मानते हैं कि यदि उद्देश्यअच्छा हो तो जोर जबरदस्ती और हिंसा का सहारा भी लिया जा सकता है। विनोबा भावे ने लिखा है कि पेड़ की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाना एक बात है और उसकी शाखाओं की कांट-छांट करना दूसरी। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, जातिवाद ये सारे वाद अहिंसा की जड़ पर ही प्रहार करते हैं। हिंसा में साम्यवादियों की श्रद्धा है इसलिए हम साम्यवाद का समर्थन नहीं कर सकते हैं। साम्यवादी चोरी को चोरी से और हिंसा को हिंसा से मिटाना चाहते हैं लेकिन इससे तो चोरी और हिंसा बढ़ती है।''

3. द्वण्दात्मक भौतिकवाद का विरोध- आचार्य विनोबा भावे ने साम्यवाद की कुंजीमाने जाने वाले द्वण्दात्मक भौतिकवाद को सिरे से खारिज कर दिया और कहा कि भौतिक द्वण्दवाद की यह मान्यता उचित नहीं है कि भौतिक जगत में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन द्वण्दात्मक पद्धति से ही होता है। यह तो विषुद्ध वितर्कवाद है और इससे पूंजीपतियों को समाप्त करने की बात नहीं निकाली जा सकती है। उनके अनुसार वितर्कवाद तो केवल एक विचार पद्धति है उससे क्रान्ति भी हो सकती है और उपक्रान्ति भी। साम्यवादियों की यह मान्यता कदापि उचित नहीं लगती है कि समाजवाद की स्थापना द्वण्दात्मक पद्धति से ही सम्भव है। विनोबा भावे जिस सर्वोदय की कल्पना करते हैं वह भी अन्तिम रुप से समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता के लक्ष्य से ही अनुप्राणित है लेकिन वह इसके लिए द्वण्दात्मक पद्धति को उचित नहीं मानते हैं।

4. वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन- सर्वोदय समाज के सभी लोगों के सुख और उत्थान की कल्पना मनुष्य के हृदय परिवर्तन द्वारा करना चाहता है। इस प्रकार यह वर्ग संघर्ष और समाज में अल्पसंख्यकों के हितो तथा अधिकारों की रक्षा के विचार का खण्डन करता है। सर्वोदय वर्ग संघर्ष की धारणा के स्थान पर सामान्य कल्याण तथा सामंजस्य के अधिक बुद्धिसंगत सिद्धान्त का समर्थन करता है। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में हिंसा की दुर्गन्ध आती है। इसलिए यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो समाज में सदैव टकराव की स्थिति बनी रहेगी। जबकि सर्वोदय दर्शनसमाज में शान्ति व अहिंसा का मार्ग चुनता है जो वर्ग संघर्ष की धारणा के विपरीत है। विनोबा भावे चाहते थे कि समाज के धनी और गरीब दोनों का हृदय परिवर्तन किया जाय जिससे उनके बीच कटुता और वैमनस्य के स्थान पर मित्रता, प्रेम व सहयोग की भावना पनपे।

5. इतिहास की आर्थिक व्याख्या- साम्यवादी इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते है और मानते हैं कि ऐतिहासिक घटनाएं आर्थिक परिस्थितियों की उपज हैं। आचार्य विनोबा भावे इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि आर्थिक परिस्थितियां ही इतिहास की निर्धारक नहीं हो सकती हैं। इतिहास कीदिशाका प्रवाह सदैव एक क्रम में नहीं होता है। उन्होने माना कि जिस प्रकार वाण के छूट जाने पर उसकी दिशा नहीं बदली जा सकती है उसी प्रकार पूर्व की ऐतिहासिक क्रियाओं ने हमारे कार्यदिशानिर्धारित कर दी है। हमारे लिए क्रिया स्वातन्त्य नही रह गया है।

6. राज्य का विरोध- मार्क्सवादी सर्वहारा की क्रान्ति के लिए राज्य के अस्तित्व को आवश्यक मानते है लेकिन जब साम्यवादी क्रान्ति द्वारा समाज में साम्यवाद की स्थापना हो जायेगी तो उनका मानना है कि राज्य स्वतः विलुप्त हो जायेगा। विनोबा भावे राज्य को व्यक्ति के विकास हेतु वांछनीय नहीं मानते है। उनका कहना है कि ‘‘जब तक राज्य की व्यवस्था चलती रहेगी तब तक लोग उस व्यवस्था के नीचे दबे रहेगें और मानव के मुक्त विकास के लिए अवकाष नहीं रहेगा इसलिए मानव के परिपूर्ण विकास की दृष्टि से राज्य व्यवस्था की परिसमाप्ति होनी चाहिए। राज्य की सत्ता को षिथिल करने के लिए ही उनके द्वारा ग्राम दान व ग्राम स्वराज्य का विचार दिया गया।

अभ्यास प्रश्न2

निर्देष- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. आचार्य विनोबा भावे सर्वसम्मति के बजाय बहुमत से निर्णय लेने का समर्थन करते थे।

(i) सत्य है (ii) असत्य है

2. यह किसने कहा कि स्वराज्य का अर्थ ‘आत्मा का शासन’ है ?

3. आचार्य विनोबा भावे द्वारा 1952 में लिखे गये निबन्ध का शीर्षक क्या था ?

4. धनिकों एवं निर्धनों को समान रूप से संपत्ति दान करना चाहिए। यह कहा है-

(i) जवाहर लाल नेहरु ने , (ii) सुभाष चन्द्र बोस ने

(iii) आचार्य विनोबा भावे ने (iv) इनमें से किसी ने नहीं

9.5 सारांश

आचार्य विनोबा भावे घोर आस्तिक थे। वे मानते थे कि ईश्वरसर्वव्यापी है। अपनी इसी मान्यता के कारण वे मानव के सेवा या कल्याण को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। मानवता के प्रति लगाव के कारण ही उनके द्वारा सर्वोदय दर्शनका प्रतिपादन किया गया और कहा गया कि समाज के सभी लोगों का उत्थान या कल्याण होना चाहिए। इसके लिए उन्होने कई तरह के आन्दोलन व विचारों का नेतृत्व किये। उन्होने माना कि समाज में सर्वाधिक भेदभाव संपत्ति के आधार पर होता है इसलिए निजी संपत्ति का उन्मूलन आवश्यक है। इसके लिए उन्होने भूदान, ग्राम दान, संपत्ति दान का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। जिससे समाज के उच्च वर्ग से भूमि और संपत्ति प्राप्त कर इसे निम्न वर्गो को दिया जा सके। इन कार्यक्रमों द्वारा समाज की असमानता का अन्त हो जायेगा परिणामस्वरूप लोगों में कटुता, वैमनस्य तथा विरोध की सम्भावना का भी अन्त हो जायेगा।

आचार्य विनोबा भावे लोकतन्त्र में पायी जाने वाली राजनीतिक दलबन्दी के भी विरोधी थे। इसके लिए उन्होने स्वराज्य और ग्रामदान का दर्शनदिया। उन्होने कहा कि यही वह मार्ग है जिससे गांवों में आपसी प्रेम व भाईचारा स्थापित होगा। गांव आत्मनिर्भर बन हो जायेगें तो उनमें लिया जाने वाला प्रत्येक निर्णय सर्वसम्मति से लिया जाने लगेगा इससे लोगों में उसके प्रति लगाव बढ़ेगा। इतना ही नहीं सर्वसम्मति का निर्णय दलबन्दी या गुटबन्दी के उदय को भी रोकेगा। विनोबा भावे राजनीति के सुधार के लिए भी प्रयास किये इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण था कि राजनीति का ध्येय शक्ति और सत्ता प्राप्त करना होता है इसलिए लोकनीति के माध्यम से लोगों का उत्थान या कल्याण किया जा सकता है। सर्वोदय दर्शन में विश्वास करने वाले सत्ता को महत्व देने के बजाय लोगों के प्रति समर्पित रहते हुए उनकी सेवा करते हैं। इसलिए इस व्यवस्था में दण्ड शक्ति और हिंसा की भी आवश्यकता नहीं होती है। अपने कार्यक्रमों द्वारा आचार्य विनोबा भावे लोगों का हृदय परिवर्तन इस प्रकार करना चाहते थे जिससे धनी व गरीब के बीच की खाई समाप्त हो जाय और लोग एक-दूसरे के सुख-दुख में भागीदार बन सकें। इससे समाज स्वर्ग बन जायेगा और प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक व्यक्ति से प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होगा।

9.6 शब्दावली

1.सर्वोदय - सबका उदय अर्थात सबका उत्थान एवं कल्याण

2.अहंकार - अभिमान या घमंड

3.सत्यनिष्ठ - सत्यमय

4.संसदीय - मर्यादित या वैध

5.ट्रस्टीषिप - न्यास अर्थात सेवाभाव से स्थापित व्यवस्था

6.बहुमत - आधे से अधिक लोगों का मत

7.दल - समूह या संगठन

8.सर्वसम्मति - सबकी सहमति

9.स्वराज्य - अपना राज्य

10.सत्ता - शक्ति का वैध रूप

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न1

1. (i) सत्य है ,2. हां,3. सबका उदय अथवा सबका उत्थान एवं कल्याण ,4. (iii) आचार्य विनोबा भावे ने

अभ्यास प्रश्न2

1.(ii) असत्य है, 2.आचार्य विनोबा भावे ,3.'आऊट लाइन आफ सर्वोदय' 4.(iii) आचार्य विनोबा भावे

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.वी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

2.डॉ. बी.एल. फाडिया, भारतीय राजनीतिक चिन्तन साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

3.सुषमा गर्ग, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ज्योति प्रसाद सूद, आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, के.नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

2. ए. अप्पादुराई, बीसवीं शताब्दी में भारतीय राजनीतिक चिन्तन, साउथएशियन पब्लिशर्स प्रा.लि. नई दिल्ली।

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन में विनोबा भावे के योगदान का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

2.विनोबा भावे द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय दर्शनका विस्तृत उल्लेख कीजिए।

3.आचार्य विनोबा भावे के भूदान एवं संपत्ति दान पर निबन्ध लिखिए।

4.मार्क्सवाद के सम्बन्ध में विनोबा भावे के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

इकाई 10: दादाभाई नौरोजी (1825-1917 ई.)

इकाई की संरचना

10.1 प्रस्तावना

दादाभाई नौरोजी का जन्म बम्बई के एक गरीब पारसी परिवार में हुआ था। शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त वे प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। एक प्राध्यापक के दायित्व-सामाजिक सेवा के प्रति उनका अटूट समर्पण था। उन दिनों ब्रिटिश शासन की क्रुर नीतियों के कारण भारत की जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। भारतीय जनता का कष्ट दादाभाई नौरोजी के हृदय को चोटिल किया। जिसके कारण उन्होने भारतीय जनता को उसके कष्टों से छुटकारा दिलाने का वीणा उठाया। प्रारम्भिक जीवन में उन्होने विभिन्न लेखों, पत्र-पत्रिकाओं और अपने ओजपूर्ण भाषणों से भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति भाव रखने की अपील की। भारतीयों की पीड़ा को ब्रिटिश शासन के समक्ष उठाने के उद्देश्यसे ही वे ब्रिटिश लोकसदन का चुनाव लड़े और काफी संघर्ष के बाद विजय प्राप्त किये। जीवन पर्यन्त उन्होंने भारतीयों के हक की लड़ाई लड़ी। भारतीय नेतृत्व और जनता उनको अत्यन्त आदर देती थी। इसलिए उन्हे 'भारत का महाबृद्ध पुरूष' (Grand old man of India) कहा जाता है। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र में व्याप्त बुराईयों को दूर करने के लिए कई संगठनों का निर्माण किया। उनका नाम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में भी प्रमुखता से लिया जाता है। वे तीन बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति चुने गये। अन्तिम बार 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में उन्हे उस समय सभापति पद पर प्रतिष्ठित किया गया जब विचारधारा के आधार पर कांग्रेस टूटने के कगार पर थी। कांग्रेस के दोनो गुटो नरम दल और गरम दल को वे इस बात के लिए संतुष्ट करने में सफल रहे कि ब्रिटिश शासन में भारतीयों के हक की लड़ाई हेतु दोनों तरह के साधन-समय और परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त सिद्ध हो सकते है। उन्हे भारतीय राष्ट्रवाद का एक अग्रणी प्रस्तोता तथा उन्नायक कहा जाता है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम-

1.राष्ट्रीय आन्दोलन में दादाभाई नौरोजी की भूमिका से परिचित होगें।

2.दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विचारों को समझ सकेगें।

3.दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक दर्शन के बारे में जान सकेगें।

4.समाजवाद के प्रति उनके झुकाव को समझ सकेगें।

10.3 दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विचार

दादाभाई नौरोजी ने भारतीय जीवन के सम्पूर्ण इतिहास का सिंहावलोकन किया था। उन्हें जगह-जगह गरीबी, भूखमरी, बेकारी और विषमताये देखने को मिली। जिसके सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत था कि इसकी जिम्मेदार ब्रिटिश सरकार है। अंग्रेज भारत में व्यापार करने आये थे लेकिन भारत के कमजोर और अशक्त राजाओं की कृपा के सहारे वे यहाँ जम गये। परिणामस्वरूप व्यापार का उनका दृष्टिकोण लुप्तप्राय हो गया और वे भारत के मालिक या शासक बन गये। अब तक भारत में बना माल दूसरे देशों में भेजा जाता था अब ब्रिटेन का माल भारत मे विकने लगा। इससे भारत की उत्पादन क्षमता एकदम निर्जीव हो गयी। बेरोजगारी के थपेड़ो से भारतीय समाज झुलसने लगा। गरीबी अपने नग्न रूप में सामने आने लगी। भूखमरी से पीड़ित भारतीय समाज की कराह दादाभाई नौरोजी के कानो तक पहुंची। इसलिए उन्होने इसके लिए जिम्मेदार ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध आवाज उठाने का निर्णय लिया। वे आर्थिक शोषण को आधार बनाकर भारतीय जनमानस में राष्ट्रवाद का विगुल फूकना चाहते थे। इसके लिए उनहोने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' की रचना की। उनके आर्थिक विचारों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है-

10.3.1 व्यवहारवादी अर्थशास्त्र का प्रतिपादन-

उनकी आर्थिक पद्धति वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। उन्हें ऐसे विचारों एवं अलंकारिक कल्पनाओं में रुचि नही थी जिनका व्यावहारिक जगत से कोई सम्बन्ध न हो। वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होने तथा व्यावहारिक जीवन से सरोकार के कारण ही उनका ग्रन्थ भारतीय अर्थशास्त्र तथा राष्ट्रवाद के क्षेत्र में एक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। भारतीय वित्तीय समस्याओं के सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी के विचार कल्पनाओं एवं भावनाओं के परिणाम नहीं थे बल्कि इनके पीछे तथ्यों एवं आकड़ो का बल था। विभिन्न आर्थिक समस्याओं को सारिणीबद्ध तरीके से प्रस्तुत करने के कारण ही उन्हें भारतीय वित्तीय मामलों में सांख्यिकी पद्धति का पथ प्रदर्शक या अन्वेशक भी माना जाता है। उन्होने आर्थिक समस्याओं को आधार बनाकर भारतीय जनमानस में राष्ट्रवाद की चेतना जागृत करने का प्रयास किया। उनके वित्तीय आंकड़ो ने भारतीय जनमानस को ब्रिटिश सरकार के आर्थिक शोषण के प्रति उद्वेलित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। व्यावहारिक जीवन और समस्याओं से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत करने के कारण ही उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे आनुभविक पद्धति का अनुसरण करने वाले एक भारतीय अर्थशास्त्री थे न कि कल्पनाशील तत्वज्ञानी उनका आर्थिक चिन्तन वस्तुगत प्रणाली पर आधारित होने के कारण भारतीयों की आर्थिक समस्याओं से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। दादाभाई नौरोजी ने भारतीय आर्थिक समस्याओं का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया, इसलिए उसके छोटे से छोटे दुष्परिणाम से भी वे भली भांति परिचित थे।

दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश शासन की उन नीतियों की भी घोर निन्दा की जिसके तहत अंग्रेजों ने भारतीय शासन के संचालन के लिए भारत तथा ब्रिटेन दोनों जगहों पर भारी-भरकम प्रशासकीय ढांचा निर्मित कर रखा था। उनका मानना था कि इस ढांचे के कारण भारत पर आर्थिक बोझ बढ़ गया है। जिसका दुष्परिणाम अप्राकृतिक रूप से भारतीयों को भोगना पड़ रहा है। इस आर्थिक बोझ के कारण देशवासी अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा जीविका के साधनों से वंचित कर दिये गये हैं। यह सतत प्रक्रिया भारतीय आर्थिक जीवन के जीवन-रक्त को सुखा देने वाली अत्यन्त दुखदायी एवं हृदय विदारक दृश्य को जन्म दे रही है। देश के आर्थिक विकास को सुदृढ़ करने तथा देशवासियों को समृद्ध बनाने के लिए अभिवर्धन एक मात्र मार्ग है। अभिबर्धन के माध्यम से देश के साधनों के विनाशकारी निर्गम को रोका जा सकता है। उन्होने लिखा है कि जब तक इस घातक निर्गम को समुचित रूप से रोका नहीं जाता है और देशवासियों को पुनः अपने देश में प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग नहीं करने दिया जाता है तब तक इस देश के भौतिक उद्धार की आशा करना व्यर्थ है। प्राकृतिक अधिकारों की वकालत कर दादाभाई

नौरोजी ने यह सिद्ध कर दिया कि जिन प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को अब पष्चिमी देशों मे नकार दिया गया है वे भारत में आज भी मान्य सिद्धान्त के रुप में स्थापित हैं।

भारत के आर्थिक विपन्नता के लिए अंग्रेज अर्थशास्त्री आर्थिक आवश्यकता के लौह नियम को जिम्मेदार मानते थे जिसके अनुसार भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन होता है। अंग्रेजों के इस तर्क को अस्वीकार करते हुए दादाभाई नौरोजी ने कहा कि इस देश के धन का निर्गम आर्थिक आवश्यकताके लौह नियम के कारण नहीं बल्कि उन नियमों में जान बूझकर हस्तक्षेप करने के कारण हो रहा है। उन्होने लिखा है कि प्रायः जनसंख्या अतिरेक का घिसा-पिटा तर्क दिया जाता है वे कहते हैं और इतना सच कहते हैं कि ब्रिटेन द्वारा स्थापित शान्ति से जनसंख्या में बृद्धि हुई है किन्तु ब्रिटेन द्वारा देश के धन के लूट से जो विनाश हुआ है उसे वे भूल जाते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक नियम निर्दयतापूर्वक कार्य करते हैं किन्तु वे भूल गये हैं कि भारत में आर्थिक नियमों के प्राकृतिक परिचालन नाम की कोई वस्तु नहीं है। भारत का विनाश आर्थिक नियमों के निर्दयता पूर्वक काम करने से नहीं हो रहा है बल्कि इसका कारण ब्रिटेन की क्रूर तथा विचारशून्य नीतियाँ हैं। भारत के साधनों का भारत में ही निर्दयतापूर्वक अपव्यय किया जाता है और इसके अतिरिक्त उन साधनों को निर्दयतापूर्वक लूट-खसोट कर इग्लैण्ड ले जाया जाता है। इस प्रकार उन्होने माना कि आर्थिक नियमों को निर्दयापूर्वक विकृत कर ब्रिटिश सरकार भारत का खून चूसने में लगी हुई है। यदि इस विकृत को दूर कर आर्थिक नियमों को न्यायपूर्ण तरीके से लागू किया जाय तो भारत दूसरा इग्लैण्ड बन जायेगा और इससे ब्रिटेन को भी कई गुना लाभ होगा।

10.3.2 आर्थिक निर्गम सिद्धान्त-

दादाभाई नौरोजी ने भारत की गरीबी और विपन्नता का सबसे बड़ा कारण आर्थिक निर्गम को बताया। आर्थिक निर्गम का अर्थ है भारत की पूंजी का इग्लैण्ड भेजा जाना। अपने निर्गम सिद्धान्त को सही सिद्ध करने के लिए दादाभाई नौरोजी ने अनेक विद्वानों के विचारों का उद्धरण तथा आकड़े प्रस्तुत किये। उन्होने माना कि सुदुर इग्लैण्ड से भारत का शासन संचालन अत्यधिक खर्चीला सिद्ध हो रहा है जो देश की आर्थिक अवनति का एक बड़ा कारण है। आर्थिक साधनों के निर्गम के कारण देश में पूंजीका संचय नहीं हो पा रहा है। जो पूंजीभारत में होनी चाहिए व इग्लैण्ड चली जा रही है। भारत से इग्लैण्ड भेजी जाने वाली यह राषि लगभग तीन-चार करोड़ पौण्ड होती है। यह कई रुपों में भारत से इग्लैण्ड जाती है, जैसे ब्रिटिश अधिकारियों की पेंशन, भारत में ब्रिटिश फौजों के खर्च के लिए ब्रिटेन के युद्ध विभाग को भुगतान, भारतीय शासन हेतु इग्लैण्ड का खर्च और ब्रिटिश व्यापारियों द्वारा अपनी कमाई को स्वदेश भेजना। इस प्रकार का वित्तीय निर्गम देश की दरिद्रता और आर्थिक विपन्नता को सीचने का काम कर रहा है। भारत की अर्थव्यवस्था का बड़ा हिस्सा ब्रिटिश नौकरषाही के विलासितापूर्ण जीवन निर्वाह का हिस्सा बन गयी है। ब्रिटिश नौकरशाहों के तड़क-भड़क पूर्ण जीवन शैली हेतु देश की जनता से अनेक प्रकार के कर वसूलने का कार्य किया जाता है जो कदापि देश हित के अनुकुल नहीं कहा जा सकता है।

निर्गम के माध्यम से जो धन लूट-खसोट कर अंग्रेज इग्लैण्ड ले जाते थे वही धन पूंजी के रुप में व्यापार हेतु भारत लाया जाता था जिससे व्यापार एवं प्रमुख उद्योगों पर भी उनका एकाधिकार स्थापित हो गया था। परिणाम स्वरूप भारत का और अधिक आर्थिक शोषण कर धन को निर्गम के माध्यम से देश के बाहर ले जाया जाता था। वित्तीय दृष्टि से यह निर्गम एक घातक प्रक्रिया थी। निर्गम के कारण देश में अन्तर्विरोध की भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। देश में धन और साधन तो उपलब्ध था परन्तु जनता के उपर ऐसी अर्थ नीति थोप दी गयी थी जिसके कारण वैदेषिक व्यापार देशवासियों के हितों पर प्रतिकुल प्रभाव डालता था। भारतीयों से नमक कर तथा लगान के रुप में भारी मात्रा में धन उगाही की जाती थी जिससे राष्ट्र तथा राष्ट्र के लोगों की बदहाली स्वाभाविक थी। अत्यधिक धन उगाही और उसको इग्लैण्ड भेजने के कारण भारतीय जनता की धन बचाने की क्षमता लगभग पूर्णतः नष्ट हो

गयी थी। यदि इस प्रकार के निर्गम की अन्यायपूर्ण आर्थिक प्रक्रिया को भारत पर नहीं थोपा गया होता तो भारतीयों के द्वारा की जाने वाली बचत से धन देश में बना रहता और पूंजीका संचय होता जो कालान्तर में राष्ट्र निर्माण के कार्यो को गति प्रदान करता। इतना ही नहीं इस पूंजीके माध्यम से जो आर्थिक लाभ होता वह भी भात और भारतीयों के पक्ष में था। यह पूंजी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती और राष्ट्र प्रगति और समृद्धि के मार्ग पर तेजी से बढ़ता रहता। आर्थिक निर्गम का सकना राष्ट्र के आर्थिक हित के दृष्टि अत्यन्त आवश्यक था।

10.3.3 नैतिक निर्गम सिद्धान्त -

दादाभाई नौरोजी के द्वारा अंग्रेजी शासन के कुकृत्यों को उजागर कर भारतीयों में राष्ट्रवाद का विगुल फूकने के लिए न सिर्फ आर्थिक निर्गम की धारणा का उल्लेख किया गया बल्कि नैतिक निर्गम के विचार का भी प्रतिपादन किया गया। नैतिक निर्गम की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा कि जितने अंग्रेजों को नौकरी दी जाती थी उसकी कीमत उतने ही भारतयों की बेरोजगारी होती थी अर्थात उतने ही भारतीय बेरोजगार रह जाते थे। जिससे आमदनी के अभाव में भारतीयों से बचत की आशा ही व्यर्थ थी। इसके अलावा जिन अंग्रेजो को नौकरी दी जाती थी उसका दोहरा नुकसान भारत को उठाना पड़ता था। एक तो नौकरी करने वाला अंग्रेज यह सोचता था कि भारत हमारा गुलाम देश है और हमारे द्वारा शासित होना इसकी नियति है। इसलिए वह यहां घर बनाना या स्थायी रूप से निवास करना नहीं चाहता था और अपनी बचत को अपने देश भेज देता था। दूसरे जब वह अपनी सेवा से सेवानिवृत्त होता था तो वह इग्लैण्ड चला जाता था जिसके कारण सेवाकाल में उसको प्राप्त व्यवसायिक तथा प्रशासनिक अनुभव भी उसके साथ इग्लैण्ड चला जाता था। जिससे उस अनुभव का लाभ भी भारत और भारतवासियों को नहीं मिल पाता था। दादाभाई नौरोजी ने लिखा है कि ''भारतीयों को डिप्टी-कलेक्टर, अतिरिक्त कमिष्नर अथवा इंजीनियरिंग और स्वास्थ्य विभागों में इन्ही स्तरों के अधीनस्थ पदों से ऊँची नौकरियां नहीं दी जाती थी। परिणाम यह होता था है कि जब राजनीति, प्रषासन, विधान अथवा वैज्ञानिक तथा शिक्षित व्यवसायों का अनुभव रखने वाले अधिकारी अपने पद से निवृत्त होकर इंग्लैंड चले जाते हैं तो उनके साथ तत्सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव भी चला जाता है।'' इस प्रकार के अनुभव के चले जाने को ही दादाभाई नौरोजी के द्वारा नैतिक निर्गम की संज्ञा दी गयी। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन काल के पूर्व यह स्थिति कभी नहीं थी जब देश नैतिक निर्गम का षिकार हुआ हो। अन्य शासकों के शासन काल में जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था उससे सम्बन्धित अनुभव देश में ही बना रहता था क्योंकि उत्पादन कार्य करने वाले भारत के लोग ही होते थे। अंग्रेजों के विनाशकारी आर्थिक एवं नैतिक निर्गम से भारत माता का रक्त निचुड़कर इग्लैण्ड जा रहा था और सार्वजनिक ऋण उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था और अंग्रेज इस प्रक्रिया का गुणगान सभ्यता के विकास एवं राष्ट्रीय प्रगति के रूप में कर रहे थे।

10.3.4 ब्रिटिश शासन की लूट पद्धति-

दादाभाई नौरोजी ने यह भी बताया कि अब तक जितने भी आक्रमणकारी भारत पर आक्रमण किये वे लूट-खसोट कर भारत से चले गये किन्तु ब्रिटिश शासक देश को एकमुष्त लूटने के बजाय लूट की एक चिरस्थायी प्रक्रिया की स्थापना कर दिये हैं। जिसमें निरन्तर आर्थिक लूट बढ़ती जा रही है। भारत के जीवनदायी भौतिक साधनों का निर्दयतापूर्ण दोहन किया जा रहा है और भारत विवष होकर सब कुछ सहन कर रहा है। आर्थिक निर्गम ने देश की उत्पादन क्षमता को भी बुरी तरह प्रभावित किया है। यही स्थिति बनी रही तो वह दिन दूर नहीं है जबकि देश कुचल कर मृत्यु के मुंह में चला जायेगा। उन्होने चेतावनी देते हुए कहा कि देश के ऊपर एक नये तरह का संकट मडरा रहा है। अभी तक तो भारत भूमि के ऊपर की संपत्ति का निर्गम इग्लैण्ड को रहा था अब भूमि के नीचे की संपत्ति का भी अपहरण होने वाला है और देश भूमिसात हो गया है और अपनी सहायता करने मे असमर्थ है। इग्लैण्ड उसकी पूंजी छीन ले गया है। अब उस पूंजी को फिर से देश में वापस लाया जायेगा ताकि उसकी सहायता से देश की उस

समस्त खनिज संपत्ति की लूट को रोककर उसका दोहन किया जा सके। इससे दोहन के लिए भारी पूंजीतथा बहुमूल्य मशीनरी की आवश्यकता होगी। भारतवासियों को केवल निम्नकोटि के शारीरिक और मानसिक मजदूरों के रूप में नौकर रख कर अत्यन्त कम वेतन दिया जायेगा जबकि उपज का बड़ा हिस्सा अंग्रेज पहले वेतन के रूप में खा जायेगें और फिर लाभ या लाभांस के रूप में स्वदेश ले जायेगें। भारत को अपने ग्रहों का आभारी होना पड़ेगा कि उनकी सन्तानों को नीची नौकरियों के रूप में कुछ टुकड़े मिल गये और फिर भारत की संपत्ति और बख्शी गयी नियामतों का जोर-शोर से ढोल पीटा जायेगा जैसा कि अभी रेल पथों तथा वैदेषिक व्यापार की नियामतों का नीरस गीत हमें दिन-रात सुनाया जा रहा है।'' दादाभाई नौरोजी के द्वारा देश की पूंजी तथा साधनों के निर्मम एवं क्रुर निर्गम का विरोध करते हुए इसे न्याय की मान्यताओं तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत माना गया। उनका कहना था कि इस प्रकार से देश के खून को चूसना किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता है बल्कि यह तो क्रुरतापूर्ण, कुचल देने वाला तथा मूर्खतापूर्ण कृत्य था।

दादाभाई नौरोजी निर्गम के विरोधी होते हुए भी भारत के साधनों के विकास के लिए ब्रिटिश पूंजीके महत्व को स्वीकारने के लिए तैयार थे परन्तु अस सम्बन्ध में उनका कहना था कि इसका उद्देश्य भारतवासियों को इस प्रकार की सहायता देना होना चाहिए जिससे वे देश के साधनों का विकास करने के लिए अपने को योग्य बना सकें। उन्होने इस सम्बन्ध में मैकाले द्वारा व्यक्त उस विचार का समर्थन किया जिसमें उसने कहा था कि भारत को ब्रिटेन का अच्छा ग्राहक बनने में सहयोग दिया जाय न कि उसे गुलाम बनाकर रखा जाय। उन्होने लिखा है कि ''जब तक हर काम को यूरोपवासियों के द्वारा कराने की विनाशकारी नीति में परिवर्तन नहीं होता और जब तक देश में जान नहीं आ जाती तथा वह उद्योग के क्षेत्र मे मुक्त होकर अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य नहीं हो जाता तब तक कुछ समय के लिए यह आवश्यक है कि देश के साधनों के विकास के लिए जरूरी जिन उद्योगों को भारत स्वयं नहीं चला सकता उन्हें राज्य अपने हाथों में ले ले किन्तु शर्त यह होगी की उसमें काम देशी लोगों से ही कराया जाय और उसके लिए उन्हे अप्रेक्षित प्रशिक्षण दिया। तब देश के जीवन में हर ओर से रक्त का संचार होने लगेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत को ब्रिटिश पूंजी की आवश्यकता है किन्तु उसे केवल पूंजी ही चाहिए। वह यह नहीं चाहता है ''कि अंग्रेज उसकी पूंजी तथा उत्पादन को हड़पने के लिए देश पर आक्रमण करें।''

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि दादाभाई नौरोजी भारत के शोषण के भयावह दृश्य को देखकर अत्यन्त दुखी थे। उन्होने देखा कि भारत के करोड़ो निवासी नमक कर, भारी लगान तथा विनाशकारी दुर्भिक्ष से पीड़ित थे और उनका जीवन भयंकर बीमारियो, अल्पाहार तथा भुखमरी की चपेट में था परन्तु ब्रिटिश सरकार इन पर ध्यान देने के बजाय अपने धुन में मस्त थी। उन्होने कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में दो देश है- एक थोड़े से धनिकों तथा शोषकों का भारत और दूसरा करोड़ो शोषितों का भारत। उन्होने अंग्रेजों से आग्रह किया कि वे भारत को निरन्तर दरिद्र होने से बचायें। उन्होने लिखा भी मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि कोई ऐसा न्यायसंगत मार्ग अपनाया जाय जिससे दोनों देशों के बीच सम्बन्ध प्रगाढ़ हो सके और उस सम्बन्ध से दोनों को ही लाभ हो और वह सम्बन्ध दोनों के लिए वरदान साबित हो। जो सम्बन्ध दोनों देशों के लिए महत्वपूर्ण तथा लाभदायक बनाया जा सकता है, उसे बिना सोचे-समझे और मूर्खतापूर्ण तरीके से छिन्न-भिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है। अपने पुराने वक्तव्यों में मैने इस बात का उल्लेख किया है कि भारत और ब्रिटेन का सम्बन्ध दोनों देशों के लिए वरदान है अथवा अभिषाप! इस प्रश्नका उत्तरइस बात पर निर्भर करता है कि 1833 के अधिनियम और 1858 के घोषणाओं का सम्मानपूर्वक तथा सच्चाई से पालन किया जाता है अथवा उनका पालन न करके निर्लज्जता का परिचय दिया जाता है। न्यायोचित आचरण से ही किसी राष्ट्र का उत्थान हो सकता है अन्याय बलवान से बलवान को अधपतन के गर्त में गिरा देता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दादाभाई नौरोजी का यह स्पष्ट मानना था कि भारत की दरिद्रता और भौतिक विनाश का मुख्य कारण अंग्रेजों का वह अस्वाभाविक व्यवहार था जिसके कारण अनेक प्रकार के खर्चीले दबावों से भारत तथा इग्लैण्ड का पहले से ही जर्जरित आर्थिक ढांचा और अधिक चरमराने लगा था। यही कारण था कि देश के बच्चे विस्थापित हो गये और उन्हे अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा जीविकोपार्जन के साधनों से वंचित हो जाना पड़ा।

अभ्यास प्रश्न1

निर्देश- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखें।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. दादाभाई नौरोजी की पुस्तक का नाम था-

(i) पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (ii) डिस्कवरी आफ इण्डिया

(iii) गीता रहस्य (iv) इनमें से कोई नहीं

2. दादाभाई नौरोजी की आर्थिक पद्धति वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है।

(प) सत्य है (पप) असत्य है

3. दादाभाई नौरोजी ने भारत की आर्थिक विपन्नता और दरिद्रता का मूल कारण क्या माना था?

4. दादाभाई नौरोजी के अनुसार आर्थिक निर्गम ने भारत के उत्पादन की क्षमता को बुरी तरह प्रभावित किया है।

(प) सत्य है (पप) असत्य है

10.4 दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक विचार

दादाभाई नौरोजी के प्रमुख राजनीतिक विचारों का उल्लेख निम्न रुपों में किया जा सकता है-

10.4.1 उदारवाद के प्रवक्ता-

दादाभाई नौरोजी को भारतीय राजनीतिक चिन्तन में उदारवादी दर्शन का अवलम्बन करने वाला माना जाता है। वे सदैव इस धारणा का समर्थन करते हुए दिखायी देते हैं कि ब्रिटिश शासन की कमियों को दूर करने के लिए कदापि शक्ति या बल का उपयोग न किया जाय बल्कि उन्हें यह एहसास कराने की आवश्यकताहै कि भारत एवं भारतीयों की रक्षा उनके लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि ब्रिटेन और वहाँ के निवासियों की। वे मन और विचार से इतने सच्चे एवं निष्कपट थे कि उन्होने इस बात को स्वीकारने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी की ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत को बहुत कुछ मिला है। पाष्चात्य शिक्षा, प्रशिक्षित प्रशासकीय अधिकारी तथा रेल पथ सहित विभिन्न यान्त्रिक उद्योग इसके प्रमुख उदाहरण है। परन्तु उन्होने तत्कालीन ब्रिटिश शासन के दोषों को उजागर करने का प्रयास भी अत्यन्त निर्भीकता पूर्वक किया। ब्रिटिश शासन की कमियों को व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा कि वर्तमान शासन प्रणाली भारतीयों के लिए विनाशकारी एवं निरंकुश है और इग्लैण्ड के लिए आत्मघाती तथा उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्शो तथा परम्पराओं के प्रतिकुल है। उन्होने चेतावनी देते हुए कहा कि निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन टिकाऊ नहीं होता क्योंकि उसकी कमियां खुद उसके लिए कब्र खोदने में सहयोग करती है। यदि ब्रिटिश शासन विदेशीतथा प्रजापीड़क का भारी जुआ' ही बना रहा तो उनका विनाश अवश्यंभावी है। 2 मई 1867 को उनके द्वारा ईस्ट इण्डिया एसोसिएषन की लन्दन बैठक में 'भारत के प्रति इग्लैण्ड के कर्तव्य' नामक निबन्ध को पढ़ते हुए कहा गया कि यदि अन्त में 20 करोड़ असन्तुष्ट भारतीयों और एक लाख ब्रिटिश सैनिकों में संघर्ष हुआ तो उसका परिणाम स्पष्ट रूप से हाँनिकर होगा। ब्रिटिश सैनिक चाहें जितने भी शक्तिषाली क्यों न हों राष्ट्र को कई बार हराकर भी वे उसकी आत्मा को कुचलने में सफल नहीं हो सकते हैं। दादाभाई नौरोजी साल्सवरी के इस कथन को बार-बार दोहराते थे कि अन्याय बलवान से बलवान का भी नाष कर देगा। उनका जोर देकर यह

भी कहना था कि निरंकुश शासन का अत्याचार और कुकृत्य स्थायी नहीं रह सकते बल्कि वे उसके विनाश की पृष्ठभूमि तैयार करते है जिससे उनका विनाश निष्चित हो जाता है।

कोई राजनीतिक व्यवस्था दीर्घजीवी तभी हो सकती है जबकि उसके नागरिकों में स्वस्थ इच्छा तथा आकांक्षाओं का तादात्म्य हो। न्याय, उदारता और मानवता ही वे सुनहरे बन्धन है जो किसी राजनीतिक व्यवस्था को बाधकर रखने में सहयोग करते हैं। इसके विपरीत यदि नागरिकों के ऊपर किसी विचार या व्यवस्था को शक्ति के बल पर थोपा जाता है तो उसे टूटने से कोई नहीं रोक सकता। उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा है कि ‘‘आप एक साम्राज्य का निर्माण अस्त्र-शस्त्र या नाषवान पाषविक भौतिक बल के आधार पर तो कर सकते हैं परन्तु उसका परिरक्षण केवल शाष्वत नैतिक शक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। पाषविक बल कभी न कभी क्षीण या नष्ट हो जायेगा जबकि धर्म एवं न्याय शाष्वत हैं। हृदयानुभुति और भावनाओं की एकता ही राजनीतिक शक्ति का वास्तविक आधार है। इनका यह विश्वास ग्रीन की उस धारणा के नजदीक दिखायी देता है जिसमें वह मानता है कि ‘‘षक्ति नहीं वरनइच्छा राज्य का आधार है।’’ शक्ति को सत्ता का आधार मानना एक दकियानूस तथा घिसापिटा दृष्टिकोण है परन्तु गहराई से जांच की जाय तो इसका खोखलापन स्वतः प्रकट हो जाता है।

दादाभाई नौरोजी ने लिखा है कि यदि वे समझते है कि उनके असैनिक अधिकारियों अथवा ब्रिटेन की जनता के सुरक्षा का भारतवासियों के सन्तोष के बजाय अन्य कोई साधन हो सकता है तो वे अपने आप को धोखा दे रहे हैं। उनका सैन्य बल चाहे जितना भी शक्तिषाली क्यों न हो जाय, भारत में उनके शासन की सुरक्षा पूर्णरूपेण भारतीयों के सन्तोष पर ही आश्रित है। पाषविक बल से साम्राज्य का निर्माण तो किया जा सकता है किन्तु पाषविक बल उसका परिरक्षण नहीं कर सकता बल्कि उसकी रक्षा धर्म, नैतिक बल और न्याय ही कर सकते हैं। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अस्त्र-शस्त्र और पाषविक बल के बजाय लोगो में शुभ संकल्प एवं विश्वास की स्थापना की जाय। यदि ऐसा नहीं किया जाता है और ब्रिटेन भारत में उकसावे की नीति का अनुसरण करता है तो इसका अनिवार्य परिणाम ब्रिटिश साम्राज्य का पतन सिद्ध होगा।

ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी को यह विश्वास था कि वह भारत तथा भारतीयों के हित को अधिक दिनों तक नजरअन्दाज नहीं कर सकते हैं। उनका मानना था कि इग्लैण्ड के लोग स्वभाव से उदार, न्यायप्रिय तथा स्वतन्त्रता प्रेमी होते हैं। इसलिए यदि भावनाओं में आकर उन्होने कोई ऐसा कार्य किया है जो भारतवासियों के हित में नहीं है तो वे इसे शीघ्र ही महसूस करेगें और ऐसा कार्य करना बन्द कर देगें। उन्होने आशा व्यक्त की कि इग्लैण्ड शीघ्र ही यह महसूस करने लगेगा कि बढ़ती हुई आर्थिक लोलुपता लज्जाजनक एवं संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है, इतना ही नहीं इसमें शासक के लिए खतरे के बीज भी विद्यमान हैं। वे चाहते थे कि भारत से आर्थिक निर्गम को तुरन्त बन्द किया जाय क्योंकि यही वह शर्त है जो भारत में ब्रिटिश शासन को स्थायित्व दिला सकती है। उन्होने 13 सितम्बर 1880 को भारत के अवर राज्य सचिव लुई मालेट को लिखे अपने पत्र में लिखा कि ’’शिक्षित एवं विचारषील भारतीयों को यह दृढ़ विश्वास है कि पृथ्वी पर अन्य सब राष्ट्रों की तुलना में केवल ब्रिटेन ही ऐसा राज्य है जो कभी किसी भी स्थिति में जानबूझकर किसी जाति के साथ न तो अन्याय करेगा, न उसकों दास बनायेगा, न उसका अपमान करेगा और नहीं उसे दरिद्र बनायेगा और यदि उसे विश्वास हो जाय कि अनजाने में उसने किसी को क्षति पहुंचा दी है तो वह तुरन्त बिना कोई संकोच किये हर उचित मूल्य चुकाकर उस क्षति को पूरा कर देगा। इसी विश्वास के कारण विचारषील भारतवासी ब्रिटिश शासन के पक्के भक्त बने हुए हैं। वे जानते हैं कि भारत का वास्तविक पुनरुद्धार, उसकी सभ्यता का भौतिक, नैतिक और राजनीतिक प्रगति तभी सम्भव है जबकि ब्रिटिश शासन दीर्घकालिक हो जाय। अंग्रेज जाति के चरित्र में उच्च कोटि की सभ्यता, उत्कृष्ट स्वातंत्र्य प्रेम तथा आत्मा की श्रेष्ठता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय होता है इसलिए वह एक बड़े राष्ट्र को पैरो तले कुचलने के बजाय उसे उठाने की यश कामना से प्रेरित होकर कार्य करेगी। इस प्रकार का भाव ब्रिटेन के कुछ महापुरुषों ने समय-समय

पर व्यक्त भी किया है। अंग्रेजो के सामने भारत में करने हेतु अनेक ऐसे कार्य है जिनका उदाहरण विष्व में अन्य कही नहीं मिल सकता है। संसार में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं है जो विजेता होने के बावजूद ब्रिटेन की भांति भारत के कल्याण की इच्छा रखता हो अथवा उसके कल्याण की आत्मानुभुति करता हो। यदि वर्तमान निर्गम बन्द कर दिया जाय और देश के विधि निर्माण में भारतीयों के प्रतिनिधियों की राय शुमारी की व्यवस्था कर दी जाय जो भारतवासी आशा के साथ ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ऐसे भविष्य की कल्पना कर सकते है जो उनके इतिहास के महानतम् तथा सबसे गौरवषाली युग को भी लज्जित कर देगा।''

10.4.2 नैतिक पुनर्जागरण-

दादाभाई नौरोजी का मानना था कि भारतीयों की राजनीतिक अभिलाषा को पूरा करने के लिए इग्लैण्ड का नैतिक पुनर्जागरण आवश्यक है। नैतिक पुनर्जागरण ही अंग्रेजों को यह एहसास दिलायेगा कि उन्होने भारत को जो बचन दिया जो प्रतिज्ञाएं की थी उनको ईमानदारी, सच्चाई, सम्मान तथा कर्तव्यनिष्ठा के साथ पूरा किया जाना चाहिए। उनको विश्वास था कि यदि अंग्रेज ऐसा कर दे तो भारत की समस्त समस्याओं का हल स्वतः हो जायेगा। वे कहा करते थे कि भारत और इग्लैण्ड का सम्बन्ध धर्म, न्याय तथा उदारता के आधार पर स्थापित होना चाहिए क्योंकि अंग्रेज न्याय, उदारता तथा स्वतन्त्रता के कट्टर समर्थक होते हैं। यदि इग्लैण्ड भारत को दिये अपने बचनों, प्रतिज्ञाओं, का ईमानदारी व सच्चाई से पालन करता तो भारत से दरिद्रता और अधःपतन का नामो निषान मिट जाता। उनको पूरा विश्वास था कि इग्लैण्ड में ऐसे राजनीतिज्ञ अवष्य उत्पन्न होगे जो अतीत में ब्रिटिश शासकों द्वारा दिये गये बचनों को पूरा करते हुए मानवता के प्रति ब्रिटेन के दायित्व को पूरा करेगें। 1858 में ब्रिटिश सरकार द्वारा की गयी घोषणाओं से दादाभाई नौरोजी अत्यन्त प्रसन्न थे और उसको उन्होने भारत का महान अधिकार पत्र समझा। इस घोषणा पत्र में मुख्य रूप से धार्मिक सहिष्णुता, स्वतन्त्रता, योग्यतानुसार नौकरी और विधि के समक्ष समता की बात की गयी थी। इसके अलावा उसमें इस बात पर भी बल दिया गया था कि भारत में उद्योगों को प्रोत्साहित किया जायेगा। सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों में वृद्धि होगी और शासन का उद्देश्यलोक कल्याण होगा। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी को यह विश्वास था कि यदि ब्रिटेन का नैतिक पुनर्जागरण होगा और अंग्रेज भारत में अपने नैतिक दायित्व को महसूस करेगें तो भारतीय समस्याओं के समाधान में कोई अवरोध नहीं होगा।

दादाभाई नौरोजी ने व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार के जीवन में नैतिक आदर्शों के पालन को आवश्यक माना। उन्होने जोर देकर कहा कि मनुष्य चाहे राजनीतिक कार्यों में भाग ले अथवा सामाजिक कार्यों में, आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करे अथवा शैक्षणिक कार्य करे उसके प्रत्येक कार्य का आधार नैतिकता ही होनी चाहिए। उन्होने माना कि यदि भारतीयों और अंग्रेजों का सम्बन्ध नैतिक मूल्यों पर आधारित होगा तो उनके बीच स्वाभाविक प्रेम और सहयोग की भावना स्थापित होगी परन्तु यदि वे अनैतिक मूल्यों पर आगे बढ़ा तो वह स्थायी नहीं होगा। उन्होंने नैतिकता को शासन के लिए भी आवश्यकतामाना क्योंकि वह किसी भी शासन को अमानवीय सत्ता समर्पित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने लिखा है कि ''राक्षसी शक्ति से साम्राज्य बन सकते हैं लेकिन यह राक्षसी शक्ति उसे स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती चारित्रिक शक्ति, न्याय तथा सत्यता ही अकेले साम्राज्य को जीवित रखती हैं।''

10.5 दादाभाई नौरोजी का समाजवाद

दादाभाई नौरोजी का सम्पूर्ण जीवन सामाजिकता के परिवेष में डूबा रहा। वे सामाजिक हितों के प्रति अपने समर्पण के कारण कभी भी व्यक्तिगत प्रश्नोंएवं सुविधाओं को महत्व नहीं दिये। उनके सामाजिकता का ही परिणाम था कि वे लोगों को शिक्षित एवं जागरूक बनाना चाहते थे जिससे लोग अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति सचेत रहें। उनको यह पूर्ण विश्वास था कि राजनीतिक प्रगति के लिए शिक्षा का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा न केवल व्यक्ति के आत्मा के ज्ञान को प्रदीप्त करती है बल्कि यह लोगो के मन में अधिकारों की चेतना भी उत्पन्न करती है।

शिक्षा का प्रसार और प्रशासनिक अनुभव का संचय स्वराज के मार्ग पर बढ़ने में लाभदायक सिद्ध होगा। इसलिए उन्होने अनिवार्य एवं निशुल्क शिक्षा की पुरजोर वकालत की। इतना ही नहीं उन्होने यह भी माना की शिक्षा समानता स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। वे स्वयं एक षिक्षक के रूप में अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन कर्तव्यनिष्ठ तरीके से कर रहे थे। शिक्षक से जिस सामाजिक सेवा के व्रत की अपेक्षा की जाती है वे उसके जीवन्त उदाहरण थे। वे स्त्री शिक्षा के भी प्रबल समर्थक थे इसी उद्देश्यसे उनके द्वारा एक विद्यालय की स्थापना भी की गयी थी। सामाजिक सेवा ही उनके जीवन तथा जीने की प्रेरणा थी। 'गुजराती ज्ञान प्रकाशन मण्डली' को उन्होने स्त्री शिक्षा की ओर प्रवृत किया। इतना ही नहीं उन्होने समाज में व्याप्त विभिन्न बुराईयों को दूर करने के लिए बहुत सी संस्थाओं की स्थापना की। इन संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने विधवा विवाह के प्रचार तथा बाल विवाह के निषेध की भी पुरजोर कोशिश की।

दादाभाई नौरोजी के सम्पूर्ण चिन्तन में समाज के प्रति उनके समर्पण के कारण ही उनको समाजवादी चिन्तक की संज्ञा भी दी जाती है। यद्यपि उनके जीवन काल में समाजवाद की उतनी वैज्ञानिक टीकाएं नहीं हुई थी जितनी आज हो रही हैं। सच्चे अर्थो में वे श्रमिकों और साधारण जनता के समीप थे और उनके जीवन का उद्धार उनका ध्येय था। समाजवाद के प्रति उनके लगाव का ही प्रतिफल था कि वे 'अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में भाग लिये तथा भारत की आर्थिक अवस्था पर अपने विचारों को सबके समक्ष प्रभावपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किये। यह एक ऐसा मंच था जिसमें उनके द्वारा पुनः ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध रक्त चूसने तथा आर्थिक निर्गम के आरोप को दोहराया गया। एक अन्य सभी में उनके द्वारा संसार भर के वृद्धों को पेंशन देने की मांग की गयी। 'श्रमिकों के अधिकार' नामक शीर्षक से लिखी गयी एक पुस्तिका में उनके द्वारा औद्योगिक आयुक्तों के न्यायालय स्थापित करने का समर्थन किया गया। उन्होने इस दावे का भी समर्थन किया कि श्रम एक प्रकार की संपत्ति है।

10.6 ब्रिटिश शासन के आलोचक मित्र

दादा भाई नौरोजी एक सच्चे मित्र की भांति ब्रिटिश शासन को उनकी अच्छाईयों तथा बुराईयों से अवगत कराते रहते थे। यही कारण था कि जहां एक तरफ उन्होने ब्रिटिश शासन का अहित नहीं चाहा तो दूसरी तरफ भारतीय जनता के दुखों, अवसादो और परेषानियों से भी कभी आंखे नहीं फेरी। ब्रिटिश शासन की क्रुर नीतियों के कारण भारतीयों के मन में तत्कालीन शासन के प्रति किसी प्रकार की दया और सहानुभुति नही थी। भारतीयों के दुखो एवं कष्टों से ब्रिटिश शासक एवं जनता को अवगत कराने के लिए ही उन्होने ब्रिटिश लोक सदन का चुनाव लड़ा और कठिन संघर्ष के बाद वे लोक सदन के सदस्य चुने गये लोक सदन की चर्चा में भाग लेते हुए उन्होने भारत की गरीबी का उल्लेख किया और बताया कि भारत में प्रति व्यक्ति आय 20 रूपये है जिस पर गम्भीर वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। वे इस गरीबी एवं दीन-हीन दषा के लिए ब्रिटिश शासन को उत्तरदाई मानते थे।

वहप्रशासनके क्षेत्र में किए जा रहे भेदभाव पूर्ण व्यवहार से भी अत्यधिक रुष्ट थे इसलिए उन्होंने भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा तथा विभिन्न प्रशासनिक इकाईयों में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाने पर जोर दिया। 1886 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होने ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीयों के पूर्ण भक्ति की घोषणा की थी। उनको आशा थी कि अंग्रेज भारत के साथ यह समझकर व्यवहार करेगें कि वह उनको सुपुर्द एक पवित्र धरोहर है। वे मूल रूप से भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों को नैतिक दृष्टि से सबल बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होने कहा कि वे भारतीय नागरिकों से यह आशा करते हैं कि वे पूर्ण निष्ठा और भक्ति के साथ अंग्रेजों के साथ चलें। देश के प्रति भक्ति की भावना के आधार पर ही प्रगति पथ पर अग्रसर हो। यदि हम अपने दायित्व को पूरा कर सके तो निष्चित ही ब्रिटिश जनता भी हमारे साथ मित्रता का हाथ बढ़ायेगी। इसी से सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण होगा। वे न सिर्फ भारतीयो से ऐसी आशा करते थे बल्कि अंग्रेजो से भी उनको आशा थी कि वे अपने स्वभाव के अनुरूप भारत के शासन मे उदारता का परिचय देगें। वे मानते थे कि जब तक

अंग्रेज कुषल, उदार और निष्पक्ष तरीके से शासन कार्य करेगें उनका भविष्य भारत में सुरक्षित होगा किन्तु 1905 में बंग-भंग की घटना ने उनको हृदय को कुरेदने का कार्य किया परिणाम स्वरूप उन्होने भारतीय जनता को संवैधानिक तरीके से आन्दोलन करने की अनुमति प्रदान कर दी। वे कभी भी देश को हिंसा के रास्ते पर आगे बढ़ते नहीं देखना चाहते थे फिर भी वे इस बात से परिचित हो गये थे कि अंग्रेजों के लिए आन्दोलन की भाषा ही उपयुक्त है। इसलिए उन्होने जीवन के संध्याकाल में भारतीय जनता को आन्दोलन के लिए अनुप्रेरित किया। स्वदेषी, स्वराज्य (स्वशासन), राष्ट्रीय शिक्षा तथा बहिष्कार का प्रस्ताव उनके उपस्थिति में ही कांग्रेस ने पारित कर दिया था। ब्रिटिश शासन की कमियों के कारण उनका हृदय दुखी होने लगा और इसका उदाहरण 1906 में देखने को मिला जब उन्होने कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में कहा कि ‘‘एक हो जाओं, दृढ़ता से कार्य करो और स्वराज्य प्राप्त करो, जिससे उन करोड़ो आदमियों को पेटभर भोजन मिल सके जो भूखों मर रहे है जिससे भारत संसार के श्रेष्ठ और साम्य राष्ट्रों में फिर वही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सके जो प्राचीन काल में उसका था।’’

1906 के अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी के द्वारा मुख्य रुप से भारतीयों को तीन प्रकार के अधिकार दिलाने पर विशेष बल दिया गया पहला भारतीयों को लोक सेवाओं में अधिकाधिक संख्या में नियुक्त करते हुए सम्पूर्ण विभागीय प्रशासन उनके हाथों में सौप दिया जाय। दूसरा भारतीय शासन के स्वरूप को प्रतिनिध्यात्मक बनाया जाय जिससे भारतीय स्वशासी उपनिवेशों की तरह अपने यहां भी विधान सभाएं स्थापित कर सके। तीसरा ब्रिटेन और भारत के बीच न्यायसंगत वित्तीय सम्बन्ध निर्धारित हो। इसके लिए उन्होंने कांग्रेस का तीन सूत्रीय कार्यक्रम घोषित किया-

1. जिस प्रकार ब्रिटेन की सभी सेवाओं, विभागों तथा व्यौरों से सम्बन्धित प्रशासन वहां के निवासियों के हाथों में है, उसी प्रकार भारत की भी सभी सेवाओं, विभागों तथा ब्यौरों काप्रशासनभारतीवासियों के हाथों में होना चाहिए। यह आर्थिक निर्गम रूपी बुराई का एक मात्र उपचार है जिसके कारण भारतीयों की आर्थिक दुर्दषा और दरिद्रता निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह भारतीय जनमानस के भौतिक, बौद्धिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक कल्याण व प्रगति के दृष्टि से भी वांछनीय है।

2. जिस प्रकार ब्रिटेन तथा उसके अन्य उपनिवेशों में कानून बनाने, कर लगाने तथा इक्ट्ठा किये गये करों को व्यय करने का अधिकार वहां के जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को दिया गया है उसी प्रकार भारत में भी यह अधिकार जनता तथा उसके प्रतिनिधियों को प्राप्त होना चाहिए।

3. भारत तथा ब्रिटेन के बीच न्यायोचित एवं समता पर आधारित आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि ‘स्वराज’ की स्थापना की जाय। स्वराज की स्थापना के लिए उन्होने भारतीयों को हिंसक आन्दोलन के बजाय संवैधानिक मार्ग पर डटे रहने की सलाह दी। उन्होने स्पष्ट कहा कि भारत में ब्रिटिश शासन का आधारभूत सिद्धान्त अनुचित है इसलिए कांग्रेस को उनके विरुद्ध आन्दोलन करने में गुरेज नहीं करना चाहिए।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से दादाभाई नौरोजी मुक्त व्यापार के समर्थक थे परन्तु भारत में फैली हुई अप्राकृतिक दुर्व्यवस्था, निराषा तथा दुखो को देखकर उनका हृदय स्वदेशीके समर्थन के लिए प्रेरित हुआ। उन्होने स्वीकार किया कि यदि भारत में मुक्त अर्थव्यवस्था की नीति को जारी रखा गया तो भारत का आर्थिक निर्गम होता रहेगा। यह भारतीयों के दुख एवं दारिद्र का कारण का प्रमुख कारण है। भारतीयों को दरिद्रता के जाल से निकालने के लिए विदेशीव्यापार पर प्रतिबन्ध आवश्यक है। विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध ब्रिटेन को मनमाने तरीके से भारत से कच्चे माल ले जाने तथा उनसे निर्मित वस्तुओं को भारत लाकर मनमानी कीमत पर बेचने से रोकेगा।

अभ्यास प्रश्न2

1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखें।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश शासन को भारत में अभिषाप मानते थे।

(i) सत्य है (ii) असत्य है

2. 'भारत के प्रति इग्लैण्ड के कर्तव्य' शीर्षक निबन्ध की रचना की थी।

(i) जवाहर लाल नेहरु ने (ii) महात्मा गांधी ने

(iii) दादाभाई नौरोजी ने (iv) इनमें से कोई नहीं

3. 'भारत का महाबृद्ध पुरुष' किसे कहा जाता है ?

4. दादाभाई नौरोजी ने किस घोषणा को भारत में महान अधिकार पत्र समझा ?

5. दादाभाई नौरोजी अनिवार्य एवं निशुल्क शिक्षा के समर्थक थे।

(i) सत्य है (ii) असत्य है

10.7 सारांश

दादाभाई नौरोजी भारतीय राष्ट्रवाद के पथ-अन्वेशक थे। जिन्होने अथक परिश्रम करते हुए भारतीय जनमानस के कष्टों को दूर करने का प्रयास किया। यद्यपि प्रारम्भिक जीवन में उनके मन में ब्रिटिश शासन के प्रति अत्यन्त आदर का भाव था जिसके कारण उन्होने भारतीयों से कई बार यह अपील की थी कि वे ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति रखें इसके पीछे उनका मानना था कि ब्रिटिश नागरिक उदार, न्यायप्रिय तथा समानता एवं स्वतन्त्रता के पोषक होते है। इसलिए अंग्रेजो के नेतृत्व में भारत भी प्रगति मार्ग पर तेजी से बढ़ेगा। किन्तु धीरे-धीरे उनका यह भ्रम दूर होने लगा और उन्होने महसूस किया कि भारतीयों को उनके कष्टों से तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता है जब तक कि उन्हें 'स्वराज' का अधिकार प्राप्त न हो जाय। ब्रिटिश शासन की अप्राकृतिक नीतियों की ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही उन्होने निर्गम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जिसमें स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया था कि किस प्रकार भारत की पूंजी को इग्लैण्ड भेजा जा रहा है। भारतीय दरिद्रता, भूखमरी, प्लेग आदि से पीड़ित हैं और ब्रिटिश सरकार उनका कल्याण करने के बजाय भारत का भारी भरकम प्रशासकीय खर्च भारत के ऊपर थोप रही है। इसलिए उन्होने ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध संवैधानिक लड़ाई लड़ने हेतु भारतीयों को प्रेरित किया। 1906 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उन्होने कहा कि हम कोई कृपा याचना नहीं कर रहे हैं। हमें तो केवल न्याय चाहिए। आरम्भ से ही अपने प्रयत्नों के दौरान मुझे इतनी असफलताएं मिली है जो व्यक्ति को निराष ही नही बल्कि विद्रोही बना देने के लिए पर्याप्त थी पर मैं हताशनहीं हुआ हूँ और मुझे विश्वास है कि उस थोड़े से समय के भीतर ही जब मैं जीवित हूँ, सद्भावना, सच्चाई तथा सम्मान से परिपूर्ण स्वायत्त शासन की मांग को परिपूर्ण करने वाला संविधान भारत के लिए स्वीकार कर लिया जायेगा। उनकी यह आशा तब पूरी हुई जब वे सार्वजनिक जीवन से अवकाश ग्रहण कर चुके थे।

10.8 शब्दावली

1.निर्गम - बाहर जाना

2.राष्ट्रवाद - राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल होना

3.अन्वेशक - खोज करने वाला

4.तत्वज्ञानी - वास्तविक ज्ञाता

5.अभिवर्धन - चतुर्दिक बृद्धि

6.अवनति - पतन

7.विलासिता पूर्ण - ऐषो आराम से परिपूर्ण

8.सेवानिवृत्ति - अवकाश प्राप्त करना

9.वरदान - महापुरुषो द्वारा दिये गये साघनात्मक बचन जो पूर्ण हो

10.अभिषाप - महापुरुषो द्वारा दिये गये ऐसे बचन जो नुकसान पहुचाते हो

18.9 अभ्यास प्रश्नोंके उत्तर

अभ्यास प्रश्न1

1. (i) पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रुल इन इण्डिया ,2. (i) सत्य है ,3. आर्थिक निर्गम ,4. (i) सत्य है

अभ्यास प्रश्न2

1(पप) असत्य है ,2.(पपप) दादाभाई नौरोजी ने ,3.दादाभाई नौरोजी को ,4. 1858 में ब्रिटिश सरकार द्वारा की गयी घोषणा को, 5. (प) सत्य है

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.वी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

2.डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधाराएं, श्री पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली।

10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ए. अप्पादुराई, बीसवीं शताब्दी में भारतीय राजनीतिक चिन्तन, साउथ एशियन पब्लिषर्स प्रा.लि. नई दिल्ली।

2. आधुनिक भारत में सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन, MPSE-004, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्य सामग्री।

10.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1.दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक विचारों का उल्लेख संक्षेप में करें।

2.‘‘हम किसी प्रकार के अनुग्रह की याचना नहीं करते, हम केवल न्याय चाहते हैं।’’ इस कथन के परिप्रेक्ष्य में दादाभाई नौरोजी के विचारों का उल्लेख करें।

3.दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विचारों का वर्णन कीजिए।

4.भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में दादाभाई नौरोजी की भूमिका का उल्लेख करें।

इकाई ११ विनायक दामोदर सावरकर

11.1 प्रस्तावना

विनायक दामोदर सावरकर एक चिंतक, उग्र राष्ट्रवादी स्वातंन्य के प्रचेता, हिन्दुत्व के ध्वजवाहक, हिन्दू संस्कृत के प्रसारक एवं व्याख्याता थे। भारत की स्वतंत्रता हेतु इनके उद्घोष एवं आह्वान ने राष्ट्र के धमनियों में रक्त संचार को तीव्र कर दिया तथा ब्रिटिश हुकूमत की चूलें हिल दिया। सावरक ने अपना संपूर्ण जीवन हिन्दुत्व को समृद्ध बनाने में हवन कर दिया।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्याय के उपरान्त

1.अस्पृश्यता संबंधी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे

2.हिन्दुत्व का सिद्धान्त के सम्बन्ध में जान सकेंगे

3.अहिंसा एवं सशस्त्र क्रांति संबंधी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे

4.सैन्यीकरण संबंधी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे

5.अखण्ड भारत संबंधी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे

6.हिंदी भाषा संबंधी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे

11.3 जीवन परिचय

विनायक दामोदर सावरकर का जन्म महाराष्ट्र के नासिक जिले के भगूर गाँव के चितपावन ब्राह्मण वंश में 28 मई 1863 को हुआ था। इनका नामकरण पूर्वज विनायक एवं पिता दामोदर के नामों को संयुक्त कर दिया गया। सावरकर के मन एवं व्यक्तित्व पर 1892 में माँ का देहावसान् 1893-95 के हिन्दू-मुसलमान दंगे, 1897 का पूना प्लेग, 12 जून 1897 का शिवा जी का अभिषेकोत्सव, रैण्ड की हत्या के आरोप में तिलक को मिली सजा तथा मैजिनी एवं शिवा जी की जीवनी ने प्रभाव डाला।

1901 में सावरकर मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर फर्ग्युसन कॉलेज पूना में दाखिला प्राप्त किया। बी0 ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण कर सावरकर ने एक गुप्त सभा/सम्मेलन के माध्यम से 'अभिनव भारत' नामक संस्था का गठन किया, जिसका उद्देश्य नवयुवकों को सशस्त्र क्रांति करने हेतु प्रेरित करना था। सावरकर वैरिस्ट्री का अध्ययन करने हेतु लंदन गये जहाँ पर तिलक की सिफारिश पर श्याम जी कृष्ण वर्मा द्वारा छात्रवृत्ति भी प्राप्त किया।

सावरकर लंदन पहुँचकर 'फ्री इण्डिया सोसायटी' की स्थापना किया जिसमें भाई परमानंद, मदन लाल धींगरा हरनाम सिंह, कोरगॉवकर, लाल हरदयाल, जैसे लोग सदस्य बन गये। सावरकर लंदन में इतिहास के अध्ययन पर विशेष बल दिया तथा। 1857 की क्रान्ति को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया। सावरकर लंदन से ही देश की आजादी के लिए कार्य करने लगे। श्यामजी कृष्ण वर्मा के लंदन से फ्रांस जाने पर इण्डिया हाऊस का भी संचालन किया तथा भारतीय सैनिकों की क्रांति का प्रचार भी किया। सावरकर की गतिविधियों को लेकर 23 मार्च 1910 को ब्रिटिश पुलिस ने इन्हें लंदन में गिरफ्तार कर लिया तथा इन्हें 1 जुलाई 1910 को मार्सेल्स बंदरगाह पहुँचा तो सावरकर ने समुद्र में छलॉग लगा कर भाग निकले, किन्तु फ्रांस की पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर इग्लैण्ड की पुलिस को सौंप दिया। सावरकर को भारत में लाकर अभियोग चलाया गया जिसमें न्यायधीश ब्रेसिल स्कॉट ने 'दो आजन्म अर्थात पचास वर्ष तक काले पानी में रखने की सजा' सुनाया। सावरकर को अंडमान एवं रत्नागिरि के जेलों में कई वर्ष रखा गया तथा 10 मई 1937 को का इन्हें कारागार से मुक्त कर दिया गया।

सावरकर कारावास से मुक्त होने के बाद देश के कई हिस्सों का भ्रमण किया तथा हिन्दू महासभा की सदस्यता को अंगीकार कर लिया। वायसराय लिनलिथगों ने 9 अक्टूबर 1939 को सावरकर से भेंट किया तथा उनकी यह टिप्पणी उल्लेखनी है-''दीर्घ समय तक कारावास तथा स्थानबद्धत में रहने पर भी सावरकर का तेज कम नहीं हुआ और न उनके विचारों में ही कोई परिवर्तन आया। युद्ध के प्रश्न पर भारतीय हित को दृष्टि में रखने वाला केवल एक ही नेता हैं, वह हैं- सावरकर।''

11.4 प्रमुख कृतियां

सवरकर की रचनायें निम्न है -

1. 1857 का स्वाधीनता संग्राम
2. हिन्दू - पद-पादशाही

11.5 अस्पृश्यता संबंधी विचार

हिन्दू समाज में अश्पृश्यता की बुराई अपने चरम स्तर पर व्याप्त थी। इसने हिन्दु समाज के लोगों विभाजित कर दिया था। सावरकर की राय में यह हिन्दू समाज के लिये कलंक था। सावरकर हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराईयों को कभी अपना समर्थन नही दिया। उन्होंने इस कलंक को समाप्त करने के लिए प्रयास किया। उनका विचार था कि हिन्दुओं को संगठित करने के लिए सवर्णों एवं अवर्णो के मध्य सहभोज आयोजित किये जाने चाहिए। उन्होंने इस प्रकार के भोज अपनें एक शिष्य स्वामी समतानंद के सहयोग से किया।

गाँधी जी एवं डॉ0 अम्बेडकर दोनों हरिजनों के कल्याण के लिए प्रयासरत थे। गाँधीजी जहाँ हरिजनों के प्रति सहानुभुति की नीति अपनायी वहीं अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म परित्याग की नीति को स्वीकारते हुये दिखलायी पड़ते हैं। सावरकर इन दोनों नीतियों की आलोचना करते थे। सावरकर अम्बेडकर के धर्म परिवर्तन प्रस्ताव का विरोध भी किया। वह समाज सुधार के माध्यम से हिन्दू धर्म में समानता की स्थापना करना चाहते थे। सावरकर ने हरिजन बच्चों को प्राथमिक पाठशालाओं में प्रवेश दिलाने हेतु आंदोलन भी चलाया। इस आंदोलन के परिणामस्वरुप हरिजन बच्चे भी सवर्ण बच्चों के साथ अध्ययन करने लगे। सावरकर ने अश्पृश्यता के उन्मूलन हेतु धर्मगुरुओं एवं आचार्यो से आगे आने की अपील किया। इसी आहवान के क्रम में रत्नागिरि में शंकराचार्य ने भंगी एवं महार जाति लोगों से पुष्पमालायें ग्रहण किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सावरकर अश्पृश्य जातियों को भी हिन्दू समाज का अभिन्न अंग मानते हुए सम्मानजनक स्थान दिलाने हेतु प्रयासरत रहे।

11.6 हिन्दुत्व का सिद्धान्त

धर्म, राजनीति, राष्ट्र, सभ्यता, संस्कृति एवं समाज के विषय में सावरकर का एक विशेष में दृष्टिकोण एवं चिंतन था। सावरकर ने अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण अंश कारागार में व्यतीत करते हुए हिन्दुत्व के उत्थान हेतु कार्य करते रहे। अंडमान की जेल में जब जेल इस्लाम या अन्य धर्म ग्रहण करते तो वे शुद्धीकरण के द्वारा पुनः उस व्यक्ति को हिन्दू धर्म ग्रहण करवाते थे। सावरकर हिन्दू धर्म के पुनरुथान के लिए सदैव सजग रहते हुऐ हिन्दुत्व की सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर बल प्रदान किया। वे हिन्दुत्व को एक उदार जीवन पद्धति के रुप में स्वीकार करते थे। वे कहते थे कि हिन्दुत्व न तो पगड़ी, न ही चोटी और गोमूत्र में निहित है और न ही किसी ताड़पत्र पर लिखी हुयी पोथी से ही जाना जा सकता है यदि हिन्दुत्व मोक्ष एवं ईश्वर जैसी पारलौकिक समस्याओं एवं तत्वों में व्याप्त है तो कोई विचलित होने वाली बात नही है। ऐह लौकिक जीवन में हिन्दू सामान्य संस्कृति, सामान्य इतिहास, सामान्य धर्म, भाषा, लिपि आदि से बँधे होने के कारण एक राष्ट्र है।

सावरकर ने अपनी पुस्तक ''हिन्दुत्व'' (प्रकाशन 1923) में हिन्दू को परिभाषित करने का इस प्रकार प्रयास किया है -

आसिन्धु- सिन्धु -पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका ।.

पितृभू: पुण्य भूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृत:।।

अर्थात, जो कोई भी व्यक्ति सिंधु से लेकर समुद्र तक फैली हुयी इस भारत भूमि को अपनी पितृभूमि एवं पूण्यभूमि मानता है और आधिकारिक रुप से इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है, वह प्रत्येक व्यक्ति 'हिन्दू' है। सावरकर के उक्त ग्रंथ के अध्ययन से हिन्दुत्व के 3 लक्षणों का ज्ञान प्राप्त होता है जो इस प्रकार है -

1.हिन्दुत्व के प्रथम लक्षण में सावरकर प्रादेशिक एकता अर्थात भू भागीय एकता को प्रथम स्थान देते है। वे मानते है कि जिसके मन में हिमालय से कन्याकुमारी एवं सिंधु' नदी से ब्रहमपुत्र नदी तक के भौगोलिक क्षेत्र के लिए मातृ एवं पितृ भाव निहित है, वह हिन्दू है।

2.द्वितीय लक्षण के अन्तगर्त सावरकर ने रक्त प्रवाह को आधार बनाने का प्रयास किया है। उनका मानना है कि हिन्दू वह जिनके शरीर में ऐसे लोगों का रक्त संचारित होता है जो वैदिक सप्तसिन्धव एवं हिमालय प्रदेश में रहते रहे हो। इसके माध्यम से वह कोई नस्लवाद के सिद्धान्त को स्थापित नही कर रहे हैं अपितु वे चाहते हैं कि इस क्षेत्र में शताब्दियों से रहने वाले लोगों में कतिपय ऐसी विशेषतायें स्थापित हो गयी हैं जो चीनियों एवं इथियोपियाइयों में नही है। सावरकर का मानना है कि कोई हिन्दू चाहे जिस पंथ, सिद्धांन्त, एवं दर्शन को अंगीकार कर ले उसे हिन्दू से च्युत तो किया जा सकता है किन्तु देशज होने के कारण उसे हिन्दुत्व से असम्बद्ध नही किया जा सकता है।

3.तृतीय लक्षण के अन्तर्गत सावरकर ने 'संस्कृति' को स्वीकार किया है। वे मानते है कि एक भाषा एक लिपि हिन्दुत्व का लक्षण है। वे मानते है कि जिस व्यक्ति को हिन्दू सभ्यता एवंपर गर्व है, वह हिन्दू है।

इस प्रकार सावरकर ने राष्ट्रीय एकता, रक्त संबंध, तथा संस्कृति को आधार बनाकर हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। वे हिन्दू राष्ट्र के विषय में स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि - 'जो लोग हिन्दू राष्ट्र पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हैं वे क्या यह बतलायेगें कि इंग्लैण्ड, इंटली, जर्मनी आयरलैण्ड आदि देशों में में विशेष घटक क्या हैं? यदि उक्त देशों में जो घटक स्थित हैं वे हिन्दू राष्ट्रमें भी दिग्दर्शित होते हैं तो आपकों हिन्दू राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकारना होगा। अन्यथा सारे संसार में राष्ट्र नाम का कोई भी भाव ही नही है, यह कहकर अलग हो जाना पड़ेगा।' सावरकर कहते हैं कि मै निर्विवाद रुप से इस ध्येय वाक्य को मानता हूँ कि संपूर्ण मानव जाति ही केवल एक राष्ट्र है, पृथ्वी ही एक देश है और मानवता ही एक धर्म है। जब आय इस ध्येय वाक्य को व्यवहार में लायेगे तब आपको महसूस होगा कि इस ध्येय वाक्य का प्रथम हस्ताक्षर हिन्दू जाति एवं हिन्दू राष्ट्र ही है। सावरकर कहते हैं कि अग्रेंज, फ्रेंच, जापान, अमेरिकन को राष्ट्र की पदवी परम्परागत भूमि पर निवास के कारण मिली है तो हिंदुओं को भी राष्ट्र के रुप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

दो सौ वर्षों के समान अतीत, एकत्र निवास स्थान, समान आर्थिक हित, से यदि अमेरिक सदृश अनेक वंश, जाति एवं भाषा के भेदों से युक्त क्षेत्र एक जीवित राष्ट्र हो सकता है तो पौराणिक राम-कृष्ण का श्रुति रामायण, महाभारत का काल छोड़ भी दिया जाय तो हम हिन्दुओं के पीछे चन्द्रगुप्त से लेकर दो हजार से अधिक वर्षो के इतिहास का जो समान महनीय, एवं भव्य भूतकाल हिमालय के समान खड़ा है, उसके कारण यह हिन्दू जाति लक्षणों की कसौटी से भी एक जीवित राष्ट्र अवश्य है।

सावरकर का मत है कि हिन्दू के नाम, जीव एवं व्यवहार समान हैं। हिन्दुओं के त्यौहार समान है दीपावली, भैय्यादूज, होली में पूरा हिन्दुस्तान समान रुप से उत्साह एवं उमंग में दिखलायी पड़ता है। इन त्यौहारों के धार्मिक कारणों को नजरंदाज कर दिया जाय तो भी इनमें एक सामाजिक समरसता का भाव भरा पड़ा है। इन सब तथ्यों के बावजूद भी यदि इस भूभाग को राष्ट्र नहीं कहा जा सकता तो हमें यह कहना पड़ेगा कि विश्व में राष्ट्रीय संस्कृति जैसा कोई तत्व नही होता है।

इन सब तथ्यों के अतिरिक्त सावरकर मानते हैं कि संख्या बल भी राष्ट्र का एक लक्षण है। हिंदूओं के संदर्भ संख्या पूछना कुबेर से जमानता माँगने जैसा ही है। विश्व में ऐसे भी राष्ट्र है जिनके पास अपना देश नही है, वे केवल भाषा की एकता एवं समान संस्कृति के कारण ही राष्ट्र कहलाये है। पोलैण्ड, हंगरी, रुमानिया, स्पेन, पुर्तगीज आदि एक करोड़ की जनसंख्या राष्ट्र कहलाने के लिए पर्याप्त हो सकता है तो 30 करोड़ से अधिक कट्टर हिन्दुओं की संख्या होने पर भी हिन्दू राष्ट्र क्यों नहीं हो सकता है। एक देश, एक भाषा, एक लिपि, एक इतिहास, एक भूतकाल, एक भवितष्यः एक संस्कृति, एक पितृभूमि, एक पुण्यभूमि इतने आत्मीय संबंधों से तीस करोड़ संख्या बल का यह हिन्दू राष्ट्र संसार के महनीय राष्ट्रों में भी एक महत्तम राष्ट्र है।

सावरकर हिन्दुत्व एवं राष्ट्रवाद के मध्य कोई भी विरोधाभास नही देखते है। वे मानते है कि हिन्दू भक्त भारत माँ में अपनी आस्था प्रकटीकरण के बिना अपना नाम सार्थक नही कर सकता है। हिन्दूओं के लिए यह देश पितृभूमि एवं पुण्यभूमि है। यही कारण है कि यहाँ के निवासी हिन्दुस्तान से असीमित प्रेम करते हैं। सावरकर यह सिद्ध करने में सफल रहे हिन्दू सभी प्रकार से एक राष्ट्र हैं क्योंकि इनके पास शताब्दियों से रहने का एक निश्चित स्थान है, इनकी एक प्राचीन भाषा एवं लिपि है। इनके धर्मों का जन्म इस भूमि में हुआ है। इनके पूर्वज भी इस भूमि में निवास करते आये हैं तथा इनकी संस्कृति समान होने के साथ -साथ इनके पास संख्या बल की कोई कमी नही है।

11.7 अहिंसा एवं सशस्त्र क्रांति संबंधी विचार

सावरकर का निरपेक्ष अहिंसा में कोई भी विश्वास नही था। वे कहते थे कि अहिंसा तो भिखारियों का मार्ग है। अहिंसा केवल संतों एवं देवदूतों के समाज हेतु ही उपयुक्त है। यह संसार अन्तर्विरोधों एवं बुराईयों से परिपूर्ण है अतः इस संसार में न्याय हेतु की गयी हिंसा उचित है। सावरकर का मत हैं कि हिंसा केवल सतयुग जैसे समाज में अनुचित एवं घृणास्पद है। अतएवं जब तक सतयुग जैसा समाज का अस्तित्व नही होता तब तक विद्रोह, रक्तपात, एवं प्रतिशोध को अनौचित्य नही माना जा सकता है। इन्ही कारणों से सावरकर न्याय रक्षा हेतु महापुरुषों एवं नेताओं द्वारा की गयी हिंसा को उचित मानते हैं। सावरकर ने लिखा है कि 'ब्रूटस की तलवार पवित्र है। शिवाजी का बघानखा भी पुनीत हैं। इसलिए इटली की क्रांतियों का रक्त निष्कलंक यश का भागी है।

सावरकर सत्यमेव जयते के स्थान पर शस्त्रमेव जयते को मानते थे। उनका मता था कि भारत की गुलामी बिना सशस्त्र क्रांति के समाप्त नही हो सकती है। उन्होंने अपने भाषणों में कहा कि-'छत्रपति शिवाजी की संतानों! जिस प्रकार शिवा जी ने मुगल साम्राज्य का विध्वंश किया, सदाशिव राव भाऊ ने मुगल सिंहासन को चकनाचूर कर दिया, उसी प्रकार अब तुम्हे भारत माता को अत्याचारी साम्राज्य की स्थापना करनी है। सशस्त्र क्रांति से ही इस विदेशी साम्राज्य का तख्ता पलट होगा।'

11.8 सैन्यीकरण संबंधी विचार

सावरकर का स्पष्ट मत था कि दुर्बल राज्यों का अविलंब पतन हो जाता है। अत: राज्यों को शक्ति अर्जित कर बलशाली बनने का प्रयास सदैव करना चाहिए। अपने उक्त कथन को प्रमाणित करने हेतु सावरकर ने प्राचीन इतिहास से उदाहरण देते हुए कहा कि बुद्ध नीति के अनुगामी भारत को शकों एवं हूणों ने रौंद दिया सावरकर द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हिन्दुओं को सेना में सम्मिलित होने हेतु प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। वे स्कूलों एवं कॉलेजों में अनिवार्य सैन्य शिक्षा को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनवाना चाहते थे।

सावरकर ने पं0 नेहरु की पंचशील एवं विश्वशांति की नीति की कटु आलोचना किया। उन्होंने स्पष्ट रुप से कहा था कि चीन विश्वसनीय नहीं है। उन्होंने 1906 में पूना की एक सभा में भारत को चीन से सावधान रहने की चेतावनी तक दिया था। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब सावरकर ने कहा था कि 'काश ये सत्ताधारी मेरे परामर्श को मानकर सर्वप्रथम राष्ट्र का सैनिकीकरण कर देते तो आज हमारी वीर एवं पराक्रमी सेना चीनियों को खदेड़ कर उनका मद चूर कर देती।'

सावरकर ने पं0 नेहरु के अणुबम न बनाने की नीति की बड़ी आलोचना किया। उन्होंने कहा था कि 'जिसकी सेना मजबूत है उसका राज्य सुरक्षित है' का सिद्धान्त ही व्यवहारिक है चीन आक्रमण के बाद भारत सरकार ने जब सैन्य शक्ति बढ़ाने का निर्णय लिया तब

सावरकर ने कहा था कि 'कम से कम पच्चीस लाख सैनिकों की नियमित सेना बनायी जाय तथा उसे आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया जाय'।

11.9 अखण्ड भारत संबंधी विचार

सावरकर संपूर्ण जीवन अखण्ड भारत का ही स्वप्न देखते रहे। भारत के विभाजन से वे अत्यंत दुःखी थे। वे बार-बार कहते थे कि तीन चौथाई भारत स्वतंत्र हुआ है, अभी एक चौथाई भारत को भी मुक्त करवाना है। यह मुक्ति का कार्य भारत के नवयुवक लोग करेगें। उनका सिंधु नदी एवं प्रांत के प्रति अगाध लगाव था। वे कहते थे कि हम सिंधु नदी से विच्छेद को किसी भी दशा में सहन नही कर सकते हैं। महाराष्ट्र सिंधु नदी को अखण्ड भारत का हिस्सा अवश्य बनायेगा। सावरकर कहते हैं कि, 'पुण्य सलिला माँ सिंधु! तुझे हम कैसे भुला दे ---- यह महाराष्ट्र अकेला महाराष्ट्र फिर एक बार उठकर तुझे विमुक्त करके ही रहेगा' इसलिए मैं कहता हूँ

''ऐ सिंधु! मुक्त करेगी तुझे।

महाराष्ट्र की रक्त बिंदु।।''

सावरकर ने गोवा मुक्ति के लिए आवाज बुलन्द किया। उन्होंने हिन्दू महासभा अहमदाबाद के अधिवेशन में कहा था कि-

'हम हिन्दुस्तान की पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं। फ्रेंच, हिन्दुस्तान, पुर्तगीज हिन्दुस्तान ये शब्द हमारे कानों को असहय लगते हैं। इस कृत्रिम विभाजन को समाप्त कर हमें अखण्ड हिन्दुस्तान बनाने की शपथ लेनी है।'

वे कहते थे कि हम हिन्दुओं को दृढ़ता के साथ घोषित करना चाहिये कि कश्मीर से रामेश्वरम् तक तथा सिंधु से आसाम तक एक अखण्ड, संयुक्त एवं अभिन्न हिन्दुस्तान ही हमें मान्य होगा।

सावरकर 82 वर्ष की बीमारी अवस्था में भी अखण्ड भारत को स्वप्न देखते रहे। 1956 में भारत -पाक युद्ध के दौरान वे अपनी चरपायी पर लेटकर दीवाल में टंगे हुए भारत के नक्शे को देखते हुए कहते थे कि इस स्थान पर शुत्र हमारे जाल में घिर जायेगा। यदि थोड़ा तेजी से हमारी विजय वाहिनी सेना आगे बढ़ीं और एक बार लाहौर हाथ में आ गया तो काबुल तक हम जीत सकते है।' उन्हें यह लगने लगा था कि सिंधु नदी के तट पर उनकी अन्त्येष्ठि की अतिंम इच्छा पूर्ण हो जायेगी। वे आ गया तो काबुल तक हम जीत सकते है।' उन्हें यह लगने लगा था कि सिंधु नदी के तट पर उनकी अन्त्येष्ठि की अतिंम इच्छा पूर्ण हो जायेगी। वे कहने लगे थे कि अब समय आ गया है कि 1947 के विभाजन की भूल को सुधार ले किंतु जब उन्हें पता लगा कि अब युद्ध विराम हो गया है तब उनको बहुत ही मानसिक आघात पहुँचा। उन्होंने कहा कि 'हजारों हिन्दू युवकों ने अपना बलिदान देकर जो विजय श्री प्राप्त की थी, ये गाँधीवादी नेता उसे गवाँ देगें। अब इनसे किंचित भी आशा करना व्यर्थ है।

11.10 हिंदी भाषा संबंधी विचार

सावरकर मराठी होते हुए भी राष्ट्रीय एकता के भाव को शक्तिशाली बनाने हेतु हिन्दी भाषा एवं देवनागरी लिपि को एक बेहद सशक्त माध्यम मानते थे। सावरकर अंडमान में बंदी जीवन के दौरान इसका खूब प्रचार प्रसार किया। रत्नागिरि में हिन्दी भाषा के लिए आंदोलन चलाया तथा भाषा शुद्धि के लिए लेख भी लिखा। इस लेख के द्वारा सावरकर ने विशुद्ध संस्कृत निष्ठ हिन्दी का समर्थन किया। सावरकर हिन्दी में प्रचलित ऊर्दू शब्दों के बहिस्कार का प्रस्ताव भी किया। उनका मत था कि भारत के सभी भाषा-भाषी हिन्दी भाषा में भाषा की समस्या समाप्त हो जायेगी।

11.11 सारांश

सावरकर भारत की स्वतंत्रता हेतु सशस्त्र क्रांति का आवाहन करने वाले उग्रवादी विचारक थे। उनका मानना था कि भारत एक हिन्दू राष्ट्र है और जो लोग सिंधु नदी के पार रहते है भले ही उनका कोई भी पंथ पा दर्शन हो, वे सब हिन्दू हैं। वे भारत की अतीत गौरवशाली परम्परा का सम्मान करते थे इसी अतीत पर भविष्य के निर्माण की संभावना तलाशते रहे। वे आजीवन अखण्ड भारत का स्वप्न देखते रहे तथा नवयुवकों से भारत एकीकरण हेतु संघर्ष को प्रेरित करते रहे। सावरकर ने चीन के संदर्भ में जो चेतावनी दिया वह सत्य प्रमाणित हुयी। वे भारत के भविष्य के प्रति चिंतित रहने वाले विचारकों में से एक थे इसीलिए हिन्दुओं के सैन्यीकरण की अपील एवं पं0 नेहरु के विश्व शांति की नीति का विरोध करते रहे।

11.12 शब्दावली

11.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.भारत के अमर क्रांतिकारी वीर सावरकर: डॉ0 भवान सिंह राणा

2.गाँधी और सावरकर: राकेश कुमार आर्य

3.आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन: डॉ0 वी0 पी0 वर्मा

11.14 सहायक/उपयोगी सामग्री

1.भारतीय राजनीतिक चिन्तक – के. यस. पाण्डेय

11.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.सावरकर के हिन्दू राष्ट्रवाद का विश्लेषण करिये?

2.सावरकर के अखण्ड भारत के स्वप्न की मीमांशा कीजिये?

इकाई १२ डॉ0 भीमराव राम जी अम्बेडकर

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 जीवन परिचय

12.4 प्रमुख कृतियां

12.5 वर्ण व्यवस्था का विरोध

12.6 जाति व्यवस्था का विरोध

12.7 अश्पृश्यता का विरोध

12.8 दलितों के उद्धार हेतु सुझाव:

12.9 लोकतंत्र संबंधी विचार

12.10 राज्य संबंधी विचार

12.11 सारांश

12.12 शब्दावली

12.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.14 सहायक/उपयोगी सामग्री

12.15 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

डॉ0 अम्बेडकर का भारतीय समाज एवं राजनीति में अभ्युदय एक ऐसे समय हुआ जब अश्पृश्यता के कारण मानवता कराह रही थी। विवेकानन्द के शब्दों में कहे तो 'मत छू, मत छू, की अवस्था संपूर्ण समाज में व्याप्त थी। इस अश्पृश्यता के विरुद्ध डॉ0 अम्बेडकर ने एक संग्राम आरंभ किया तथा अपनी संपूर्ण क्षमता दलितों एवं दीन-हीनों के उत्थान एवं सम्मान दिलाने हेतु समर्पित कर दिया। डॉ0 अम्बेडकर 20वीं शताब्दी के ऐसे दूरदर्शी चिंतक थे जिन्हे स्वतंत्र भारत में अछूत एवं वंचित वर्ग की भूमिका का स्पष्ट ज्ञान था। डॉ0 अम्बेडकर ने अश्पृश्यता के प्रति जिम्मेदार लोगों के सद्बुद्धि हेतु सत्याग्रह किया परिणाम स्वरूप भारत में सामाजिक न्याय के अग्रदूत के रुप में प्रसिद्ध हुये।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त

1.वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में जान सकेंगे

2.जाति व्यवस्था और अश्पृश्यता के सम्बन्ध में जान सकेंगे

3.दलितों के उद्धार हेतु उनके सुझाव के सम्बन्ध में जान सकेंगे

4.राज्य और लोकतंत्र संबंधी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे

12.3 जीवन परिचय

डॉ0 अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 में महाराष्ट्र के अबांवडे नामक ग्राम के मध्यवर्गीय महार परिवार से संबधित 'रामजी सकपाल' के घर में हुआ था। इनके पिता कबीर पंथी विचार मार्ग से जुड़े हुए सैन्य सेवान्तर्गत प्रिंसिपल थे। भीमराव को 5 वर्ष के बाल्यावस्था में मातृ शोक हो गया। ऐसी परिस्थिति में पिता राम जी सकपाल ने जीजाबाई नामक विधवा महिला से पुनर्विवाह कर लिया। भीमराव को अपनी विमाता से कोई प्यार/लगाव नही था। इनका लालन-पालन मीराबाई ने किया। अम्बेडकर का प्रारम्भिक नाम भीमराव राम जी अंबावडेकर था किंतु नाम उच्चारण की दुरुहता को देखते हुए एक ब्राह्मण अध्यापक ने अपना अंबेडकर उपनाम इनको दे दिया तब से यह भीमराव रामजी अंबेडकर के नाम पहचाने जाने लगे।

भीमराव के महार जाति से होने के कारण बाल्यकाल में कुछ कटु एवं पीड़ादायक अनुभव प्राप्त हुये। भीमराव को गोरेगाँव में बैलगाड़ी की घटना एवं सतारा में पानी पीने की घटना ने बहुत ही आहत करते हुए आत्मसम्मान को चोट पहुँचाया।

परिवार की आर्थिक स्थिति को देखते हुए भीमराव में स्वावलंबी बनने की इच्छा बलवती होने लगी। वे मुंबई जाकर मिल मजदूर बनना चाहते थे। इस हेतु संदर्भ में किराये हेतु अपने बुआ की थैली को चुराया जिसमें 'आधा आना' पैसा प्राप्त हुआ। इस चोरी की घटना ने भीमराव को हीनता से भर दिया परिणामस्वरूप भीमराव मुंबई जाने का इरादा त्याग कर पूर्ण मनोयोग से अध्ययन करने का प्रण लिया। कालान्तर में इनके पिता ने परिवार को दपोली से मुंबई ले आये तथा इनका दाखिला ऐलफिन्सटन स्कूल में कराया।

हाई स्कूल में संस्कृत के स्थान पर इनको फारसी भाषा अध्ययन हेतु आबंटित हुयी जिससे भीमराव अत्यंत दुःखी हुये। वे संस्कृत को महाकाव्यों का स्वर्णकोष मानते थे। जब 1907 में भीमराव ने हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण किया तब के0 ए0 केलूस्कर नामक समाज सुधारक ने एक सभा में भीमराव का अभिनन्दन भी किया केलूस्कर ने इनको अध्ययन हेतु कुछ पुस्तक भी उपलब्ध करवाया। भीमराव उसी स्कूल से इण्टर की परीक्षा भी उत्तीर्ण किया। घर की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण भीमराव के लिए बी0 ए0 में अध्ययन करना अत्यंत कठिन हो गया था। भीमराव की परिस्थिति को देखकर केलूस्कर ने बड़ौदा के महाराज से रु0 25 की मासिक छात्रवृत्ति दिलवायी। 1912 में भीमराव स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर बड़ौदा के 'स्टेट फोर्सेज' में लेफ्टीनेण्ट की नौकर कर लिया।

कालान्तर में बड़ौदा के महाराज ने भीमराव को उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका भेज दिया कोलंबिया विश्वविद्यालय में भीमराव ने प्रवेश लेकर एम0 ए0 एवं पी0 एच0 डी0 की डिग्री प्राप्त किया तथा लंदन के 'ग्रेज इन' से विधि स्नातक की उपाधि भी प्राप्त किया।

भीमराव का विवाह 1905 में रमाबाई के साथ हो गया था उनकी मृत्यु के पश्चात इन्होंने 15 अप्रैल 1948 को एक ब्रह्मण महिला डॉ0 सविता कबीर से पुनर्विवाह कर लिया। 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में भीमराव अंबेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

अम्बेडकर के जीवन एवं व्यक्तित्व पर कबीर, ज्योतिबा राव फूले, एवं वाशिंगटन का अत्याधिक प्रभाव रहा है। उक्त के अतिरिक्त अम्बेडकर को राजनीतिक मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, समानता, न्याय एवं बंधुत्व की भावना ने भी अनुप्राणित एवं प्रभावित किया।

12.4 प्रमुख कृतियां

अम्बेडकर की कतिपय मुख्य पुस्तके निम्न है-

1.द अनटचेबलस, हू आर दे एण्ड दे विकम अनटचेबल।, 2.हू बेयर द शीड्रलस?,3.एनीहिलेशन ऑफ कास्ट।

4.कस्टम्स इन इण्डिया,5.स्टेट्स एण्ड माइना रटीज,

डॉ0 अम्बेडकर के सामाजिक व राजनीतिक विचार निम्नवत है:-

12.5 वर्ण व्यवस्था का विरोध

अम्बेडकर जी तत्कालीन सामाजिक भेदभाव एवं अमानवीय व्यवहार से अत्यंत दुखी थे। उनका मत था कि हिन्दू समाज रुढ़िवाद एवं दकियानूसी के कारण कतिपय विकृतियों को आत्मसात कर लिया है। वे शूद्रों एवं दलितों की दीन-हीन स्थिति के लिए वर्ण व्यवस्था एवं मनुस्मृति को उत्तरदायी मानते थे। वे वर्णव्यवस्था का अवैज्ञानिक मानते हुए कहते थे कि यह कुछ विशेष लोगों को ही लाभान्वित करती है। मनुस्मृति की कटु आलोचना करते हुए कहते हैं कि इसने शूद्रों को ब्रह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य का सेवक बनाकर अन्याय का प्रतिकार करने वाले साधनों को भी शूद्रों से छीन लिया। वे ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का भी विरोध करते रहे। उनका मानना

था कि आर्यो की सामाजिक संरचना में शूद्र वर्ण का कहीं भी उल्लेख नही है। इसलिए ये पुरुष सूक्त ऋग्वेद का मौलिक अंश नही है। आर्य समाज में केवल तीन ही वर्ण थे, ब्रह्मणों ने क्षत्रियों को पराजित कर शूद्र वर्ण में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि शूद्र वर्ण के लोग वास्तव में क्षत्रिय वर्ण में ही थे। यह चर्तुवर्ण व्यवस्था सामाजिक न्याय के विपरीत है अतएवं इसको समाप्त किया जाना स्वाभाविक एवं न्याय संगत है।

12.6 जाति व्यवस्था का विरोध

अम्बेडकर का मानना था कि वर्ण आधारित व्यवस्था ही जाति व्यवस्था का मूल कारक है। कर्म पर आश्रित वर्ण व्यवस्था रुढ़ एवं विकृत होकर जन्म आधारित हो गयी जिससे जाति व्यवस्था का उद्य हुआ। भारत में वाहय आक्रमणकारियों के आकर बस जाने से भी जातीय व्यवस्था बहुत मजबूत हुयी है। अम्बेडकर कहते थे कि कर्म के विशेषीकरण ने एक वर्ण में कई जातियों का सृजन किया। इस जातीय व्यवस्था का अपना सुविधा के लिए शादी-विवाह आदि माध्यमों से नियम भंग किया उसे जाति से बाहर कर दिया गया। यह जाति व्यवस्था समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर रही है। यह जाति हिन्दू धर्म पर कलंक बन गयी है। उन्होंने अपने ग्रंथों में जातिवाद के दोषों पर चर्चा करते हुए समाप्त करने का आग्रह किया है। उन्होंने लिखा है कि-

1.जातिवाद हिन्दुओं के अवनति एवं विनाश का कारण है।

2.चर्तुवर्ण व्यवस्था शोषणकारी है अतएवं इस पर हिन्दू जाति का संगठन अन्यायोचित है।

3.यह जाति संरचना कुछ लोगों को ही शिक्षा एवं शस्त्र प्रशिक्षण का अधिकार देती है अतएवं हानिकारक है

4.जातीय संरचना किसी भी समाज में राजनीतिक मूल्यों यथा-स्वतंत्रता, समानता एवं भातृत्व को समाप्त कर देती है अतएवं जातीय भावना को प्रोत्साहित करने वाले सामाजिक चेतना को समाप्त करते हुए शास्त्रों के ईश्वरीय आधार को ध्वस्त कर देना चाहिए।

वे मानते थे कि 'जाति प्रथा ने हिन्दू वंश का नाश किया है। हिन्दू समाज को इसने गहन अंधकार में डाल दिया है और यह एक अशक्त एवं दुर्बल समाज बनकर रह गया है। अम्बेडकर मानते थे कि जातिवाद का स्रोत धर्मग्रंथ है अतएवं लोगों को पवित्र ग्रंथों एवं उसकी दिव्यता के प्रति आस्था का परित्याग कर देना चाहिए। अम्बेडकर ने जातिवाद की समाप्ति हेतु अर्न्तजातीय विवाह पर बल देते हुए कहा कि दो जातियों के रक्त मिश्रण से पारस्परिक सबंधों में निकटता स्थापित होती है। जातिमुक्त समाज ही प्रगतिगामी हो सकता है इसलिए अम्बेडकर चाहते थे कि हिन्दू समाज पूर्णत: जातीय बंधनों से मुक्त हो जाय।

12.7 अश्पृश्यता का विरोध

अम्बेडकर मानते थे कि अश्पृश्यता हिन्दू धर्म की जाति प्रथा की उपज है। अश्पृश्यता के कारण ही निर्धनता, निरक्षरता और हीनता की भावना लोगों में बनी हुयी है। अश्पृश्य लोगों उच्च जातियों के दास के रुप में जीवन गुजार रहे है। अतएवं आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था का उन्मूलन किया जाय। अम्बेडकर जाति बहिष्कृत एवं अछूतों के उद्धार हेतु संघर्ष करने का प्रण लिया। इसके परिणामस्वरुप जिन अश्पृश्य लोगों को जो कुँयें से जल नही ले सकते थे, पूजागृहों एवं मंदिरों में प्रवेश नही कर सकते थे, सबके साथ शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे, उन को एक नई दिशा प्राप्त हुयी। अम्बेडकर ने अछूतों के उत्थान एवं सशक्तिकरण हेतु 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना 20 जुलाई 1924 को मुंबई में किया। इसका उद्देश्य दलितों की शिक्षा एवं आवासों के लिए व्यवस्था करते हुए अश्पृश्यता उन्मूलन हेतु आंदोलन प्रारम्भ करना था।

अम्बेडकर ने अश्पृश्यता उन्मूलन हेतु महाड़ एवं नासिक में सत्याग्रह/आंदोलन किया। कोलाबा जिले के महाड़ क्षेत्र में स्थित महानगर पालिका के तालाब के जल प्रयोग में अश्पृश्यों की पहुँच को लेकर 20 मार्च 1927 को 5000 अश्पृश्यों के साथ सत्याग्रह किया। इस सत्याग्रह के भाषण में अम्बेडकर ने कहा कि अछूतों की जो सेना में भर्ती बंद की गयी है उसे पुनः प्रारम्भ किया जाय। अम्बेडकर सत्याग्रह करते हुए तालाब पर पहुँच कर जल आचमन करते हुए पानी की पी लिया अम्बेडकर ने कहा कि हम तालाब पर इसलिए जाना चाहते हैं कि हम तालाब पर इसलिए जाना चाहते हैं कि हम भी औरों की तरह हैं और मनुष्य की तरह जीवन जीना चाहते हैं। हम इस विषय पर भी निर्णय चाहते हैं कि अछूत समाज हिन्दू धर्म के अन्तर्गत है या नही। यह बड़ी बिडंबना है कि जिस तालाब पर खतरनाक पशु पानी पी सकते हैं, उस तालाब पर शूद्र क्यों नही?

अश्पृश्यों को मंदिर में प्रवेश दिलाने के लिए अम्बेडकर ने 2 मार्च 1930 को नासिक में कालाराम मंदिर सत्याग्रह प्रारम्भ किया। अछूत लोग इनके नेतृत्व में अक्टूबर 1935 में मंदिरों में प्रवेश पा गये। अम्बेडकर कहते थे कि प्रश्न यह है कि अछूत जातियाँ मंदिर

में प्रवेश करना चाहती हैं या नही। वे कहते थे कि इस प्रश्न में अछूतों में दो प्रकार के विचार थे। प्रथम-वर्ग मानता था कि भौतिक उन्नति पर बल दिया जाय और द्वितीय वर्ग सामाजिक समानता पर बल देता था। अम्बेडकर कहते थे कि मंदिर के दरवाजे अछूतों के लिए खोलना या न खोलना यह हिन्दुओं के लिए विचारणीय प्रश्न है, मेरे लिए यह आंदोलन करने का नही। अगर हिन्दू समझते हैं कि मानव के व्यक्तित्व की पवित्रता को अपमानित करना एक बुरी बात है- तो मंदिर के दरवाजे खोल दें और एक शरीफ आदमी बन जाय।

अम्बेडकर अश्पृश्यता एवं विषमता के मूल में मनुस्मृति को देखते थे। वे कहते थे कि 'मनुस्मृति विषमता का समर्थ न करती है, शूद्र जाति की निंदा करती है। स्वयं निर्णय के सिद्धान्त स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को यह ग्रंथ कभी स्वीकार्य नहीं होता। अश्पृश्य वर्ग इस ग्रंथ की मान्यताओं को स्वीकार नही करता, इसको दिखलाने के लिए जलाने का मैंने निर्णय लिया हैं। उन्होंने 25 दिसम्बर 1927 को महाड़ में मनुस्मृति को आग के हवाले कर दिया

अछूतों एवं दलितों के उद्धार हेतु डॉ0 अम्बेडकर ने 19 मार्च 1928 को एक 'महार वतन सुधार' विधयेक प्रस्तुत किया जिसमें दलितों एवं अछूतों के सुधार हेतु सरकारी खजाने से सहायता देने की व्यवस्था की माँग की गयी थी। अम्बेडकर अछूत विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए सदैव चिंतित रहते थे। इसलिए उन्होंने 'दलित जाति शिक्षण समिति' की स्थापना किया जिसमें सरकार ने भी अछूत छात्रों के लिए अनुदान राशि प्रदान किया। समाज समता संघ के माध्यम से अम्बेडकर ने अछूतों को नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूक किया। गणेश उत्सव के पण्डालों में अछूतों को सम्मानजनक स्थान दिलाने में अम्बडेकर ने महती भूमिका अदा किया।

अम्बेडकर ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन में कहा था कि मैं यहाँ अश्पृश्य लोगों के प्रतिनिधि के रुप में उपस्थित हुआ हूँ। ये अश्पृश्य लोग भारत की कुल आबादी का 20%हैं जिनकी दशा गुलामों से बदतर घृणित एवं पशुवत है। ब्रिटिश सरकार से पूर्व भी हमारी स्थिति दयनीय थी और आज भी दयनीय बनी हुयी है। ब्रिटिश सरकार के आने के बाद भी अछूतों को कुओं से जल लेने का प्रतिषेध, मंदिरों में प्रवेश हेतु निषेध और सेना भर्ती में भी मनाही बनी हुयी है। हम अपने दुःख स्वयं दूर करेगें। इसके लिए हमें सत्ता के बागडोर की चाभी अपने हाथों में लेनी होगी।

12.8 दलितों के उद्धार हेतु सुझाव:

अम्बेडकर एक सामाजिक न्याय से युक्त समाज की स्थापना करना चाहते थे, जहाँ पर स्वतंत्रता, समानता एवं भातृत्व जैसे राजनीतिक मूल्यों का सहअस्तित्व हो। अम्बेडकर तिलक का सम्मान करते थे किन्तु उनके 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है के नारे से सहमत न थे। वे सामाजिक सुधार पर ज्यादा बल देना चाहते थे। वे कहते थे कि जब तक अछूतों दलितों को उच्च वर्णों के समान आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार नही प्राप्त हो जाते तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता बेमानी है। अतएवं दलितों के उत्थान हेतु उच्च वर्णों के विचार एवं दृष्टि में प्रगतिशील परिवर्तन आवश्यक हैं। यह परिवर्तन राज्य तंत्र के द्वारा किया जा सकता है। दलितों के उद्धार हेतु निम्न सुझाव उनके द्वारा दिये गये-

1.सभी हिन्दुओं द्वारा स्वीकृत हिन्दू धर्म का एक प्रामाणिक ग्रंथ हो।

2.हिन्दुयों में पुरोहितवाद खत्म हो। यदि इसे बनाये रखना अनिवार्य हो तो उसके लिए पैतृक आधार को स्वीकार न किया जाय

3.लोगों की आवश्यकतानुसार पुरोहितों की संख्या निर्धारित होनी चाहिए।

4.पुरोहित एक प्रकार से राजकीय कर्मचारी होने चाहिये।

5.हिन्दू धर्म का सर्वसमता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व के आधार पर पुर्नगठन किया जाना चाहिए।

6.प्रचलित पारिवारिक पद्धति में तत्काल परिवर्तन किया जाना चाहिए तथा अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन किया जाना चाहिए।

7.सहभोज की व्यवस्था को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये

8.दलितों एवं अछूतों को मानसिक दासता को त्यागना चाहिये तथा अपने खान - पान को शुद्ध बनाने का प्रयास करना चाहिये।

9.दलितों को सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए पृथक प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।

10.दलितों को शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश लेने हेतु स्थानों को सुरक्षित करने के साथ-साथ कुछ छात्रवृत्तियाँ प्रोत्साहन हेतु प्रदान की जानी चाहिए।

11.दलितों को रोजगार में समुचित अवसर प्रदान करने हेतु स्थानों को आरक्षित किया जाना चाहिए।

12.9 लोकतंत्र संबंधी विचार

अम्बेडकर सामाजिक न्याय के पक्षधर होन के कारण प्रजातंत्र में उनका अतीव विश्वास था। वे संपूर्ण जीवन में स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व को स्थापित करने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहे जो प्रजातंत्र का मूल आधार है। उनका मता था कि प्रजातंत्र केवल सरकार एक रुप मात्र न होकर सामाजिक संगठन का स्वरुप भी है। अतएवं प्रजातंत्र को उच्चता व निम्नता पर बिना विचार किये हुए सभी के कल्याण हेतु कार्य करने चाहिए। वह राजनीतिक प्रजातंत्र के संदर्भ में 4 आधार स्तम्भ की चर्चा करते है-

1.व्यक्ति अपने आप में स्वतः एक साध्य है।

2.व्यक्ति के कुछ ऐसे अधिकार हैं जिसे देने का वायद संविधान को करना चाहिए।

3.व्यक्ति को किसी प्रकार का विशिष्ट अधिकार देने की यह शर्त न हो कि उसे संवैधानिक अधिकार छोड़ने पड़ेगे।

4.राज्य किसी व्यक्ति को ऐसा अधिकार नही देगा जिससे वह दूसरों पर शासन करे।

अम्बेडकर चाहते थे कि प्रजातंत्र में स्वतंत्रता एवं समानता के मध्य संतुलन स्थापित रहे। प्रजातंत्र अहिंसात्मक उपायों पर अवलंबित रहे। वे कहते हैं कि ‘प्रजातंत्र शासन की एक ऐसी पद्धति है का प्रतिनिधित्व करता है जिसके माध्यम से लोगों के राजनीतिक ही नही, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में भी बिना रक्त रंजित तरीकों को अपनाये आमूल-चूल परिवर्तनों को व्यवहारिक रुप प्रदान किया जा सके।

अम्बेडकर प्रजातंत्र के संसदीय स्वरुप को अत्याधिक पसंद करते थे। वे संसदीय शासन व्यवस्था के निम्नांकित लक्षणों के कारण भारत के लिए उपयोग मानते थे-

1.इसमें शासन का अधिकार वंशानुगत नही होता है।

2.इसमें व्यक्ति विशेष शासन/सत्ता का प्रतीक नही होता है।

3.निर्वाचित प्रतिनिधियों में जनता का विश्वास रहता है

लेकिन अम्बेडकर पश्चिम देशों जैसे जर्मनी, रुस, स्पेन इत्यादि में संसदीय शासन प्रणाली की विफलता से चिंतित भी थे। वह भारत के लिए चाहते थे इसे स्वीकारने से पूर्व इस बात पर मंथन होना चाहिए कि उक्त देशों में यह किन कारणों से विफल हुआ है। वे कहते थे कि संसदीय लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब समाज में असमानतायें न हो तथा एक सशक्त विपक्ष भी अस्तित्व में हो। वे लोकतंत्र के लिए स्थायी रुप से प्रशासनिक तंत्र एवं संवैधानिक नैतिकता की भी बात करते हैं।

भारत के संदर्भ में अम्बेडकर ने मुसलमानों के पृथक निर्वाचन संघ का विरोध किया क्योंकि यह प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के विपरीत था। वे लोकतंत्र हेतु व्यस्क मताधिकार की वकालत करते थे। वे कहते थे हरेक व्यक्ति को समान अवसर मिलना चाहिए तभी देश का विकास हो सकता है। वे कहते थे कि यदि हम भारत देश में लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं तो मत देने का अधिकार, पढ़े-लिखे, धनी एवं सम्मानित व्यक्ति को ही न देकर भारत के समस्त बालिग नागरिकों को देना होगा तभी हम देश में सही लोकतंत्र स्थापित कर सकते है। अगर हम मत देने का अधिकार सिर्फ शिक्षित, धनी एवं सम्मानित व्यक्तियों को ही देना चाहेगें तो देश के ‘मूल निवासियों’ (वंचित वर्ग) के साथ घोर अन्याय होगा, क्योंकि जिस व्यक्ति की शिक्षा एवं धन नही है, उसके लिए वह व्यक्ति दोषी नही है अपितु मनुवादी व्यवस्था दोषी है।

अम्बेडकर लोकतंत्र को सामाजिक व्यवस्था की नीवं मानते थे इसलिए इसे भारत में सफल बनाने हेतु कतिपय परिस्थितियों का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है

1.26 जनवरी 1950 को राजनीतिक जीवन में समता का युग प्रारम्भ हो गया हैं किंतु यह तभी सफल होगा जब सभी प्रकार के सामाजिक भेद-भाव का अन्त हो जायेगा।

2.लोकतंत्र में व्यक्ति पूजा की भावना का अन्त होना चाहिए।

3.संवैधानिक साधनों के प्रति आम नागरिकों में आस्था होनी चाहिए।

4.द्विदलीय व्यवस्था होने के साथ विपक्ष सशक्त होना चाहिए।

5.प्रशासनिक तंत्र निष्पक्ष एवं निरपेक्ष होना चाहिए।

12.10 राज्य संबंधी विचार

अम्बेडकर के विचारों में उदारवाद एवं समाजवाद दोनों के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि अम्बेडकर एक ऐसा राज्य चाहते हैं जो व्यक्ति के स्वतंत्रता एवं गरिमा का सम्मान करते हुए लोककल्याण के मार्ग को प्रशस्त करे। समाजवादी विचारों से व्यक्ति को साध्य मानते हैं, इसलिए वे व्यक्ति की स्वतंत्रता को संकट में डालकर लोककल्याण नही चाहते हैं। वे कुल मिलाकर उदारवादियों की तरह राज्य के सकारात्मक भूमिका को स्वीकारते हैं किंतु व्यक्ति स्वातन्त्र्य का क्षरण न हो। लोक कल्याणकारी राज्य में ही सर्वांगीण विकास एवं समस्त नागरिकों की प्रगति संभव है

अम्बेडकर चाहते थे कि राज्य का संचालन 'नियंत्रण एवं संतुलन' सिद्धान्त पर आधारित संसदीय प्रणाली के माध्यम से हो। ताकि शासन के तीन अंग संयमित एवं मर्यादित रहें। वे अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर बहुमत के अतिक्रमण होने की संभावना के प्रति सचेत करते थे। अम्बेडकर मिल की भाँति स्वतंत्रता के परम उपासक थे। इसलिए वे एक उत्तरदायी शासन व्यवस्था की स्थापना हेतु वयस्क मताधिकार की वकालत करते थे। वे मताधिकार हेतु आयु के अतिरिक्त किसी अन्य प्रतिबंध के हिमायती न थे।

12.11 सारांश

डॉ0 अम्बेडकर अपने प्रांरभिक जीवन से लेकर अन्त तक सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करते रहे हैं। वे मानवाधिकार के उल्लंघन से बहुत ही चिंतित रहते थे। उनका मत था कि हिन्दू धर्म में कतिपय विकृतियाँ समावेशित हो गयी हैं उसकी शल्य क्रिया होनी आवश्यक है। वे मनुवादी व्यवस्था के कटु आलोचक थे किंतु हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम को भी स्वीकारने हेतु तैयार नही हुये। वे दलित प्रेम को ही राष्ट्रीय प्रेम मानते थे। अम्बेडकर में उदारवाद एवं समाजवाद का पूर्ण समन्वय था इसीलिए संसदीय लोकतंत्र का सदा पक्ष पोषण करते थे। उनका मानना था कि राज्य का स्वरुप कभी भी अधिनायकवादी नही होना चाहिए। राज्य को सदा सकारात्मक कार्यो से जुड़ा होना चाहिए। कुल मिलाकर अम्बेडकर दलितों एवं अछूतों के लिए जीवन भर संघर्ष किया तथा भारत के संविधान में समाज के सभी वर्गों को समन्वित करने का जो प्रयास किया वह उन्हें 'आधुनिक मनु' के रुप में स्थापित करती है।

12.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.. भीमराव अम्बेडकर - सुनीता जोगी

2.भारतीय राजनीतिक चिंतन - अरुण कुमार

3.भारत में सामाजिक व राजनीतिक चिंतन -अवस्थी एवं अवस्था ।

12.14 सहायक/उपयोगी सामग्री

12.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.डॉ0 भीमराव अम्बेडकर द्वारा अछूतों एवं दलितों के संदर्भ में किये गये प्रयासों का वर्णन करिये

2.डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का लोकतंत्र पर क्या विचार है? विश्लेषण करिये।

3.डॉ0 भीमराव अम्बेडकर सामाजिक न्याय के पैगम्बर थे-व्याख्या करिये।

इकाई 13 : एम.एन.राय

इकाई की संरचना

13.1 प्रस्तावना

भारत में मानवतावादी चिंतन को जिन विचारकों ने पल्लवित-पुष्पित कर गति प्रदान की, उनमें मानवेन्द्र नाथ राय का नाम बड़ा ही आदर से लिया जाता है। मानवेन्द्र नाथ राय आधुनिक भारत के अत्यंत प्रतिभाशाली राजनीतिक विचारक और क्रांतिकारी थे । उनका आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में विशिष्ट स्थान है। वे किसी विचारधारा से बंधे हुए नहीं रहे तथा उन्होंने विचारों की भौतिकवादी आधार भूमि और मानव के अस्तित्व के नैतिक प्रयोजनों के मध्य समन्वय करना आवश्यक समझा । जहाँ उन्होंने एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था की कटु आलोचना की, वहीं मार्क्सवाद की आलोचना में भी पीछे नहीं रहे। राय के अनुसार विश्व की प्रचलित आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियाँ मानव के समग्र कल्याण को सुनिश्चित नहीं करतीं। पूँजीवाद, मार्क्सवाद, गाँधीवाद तथा अन्य विचारधाओं में उन्होंने ऐसे तत्वों को ढूँढ निकाला जो किसी न किसी रूप में मानव की सत्ता, स्वतंत्रता, तथा स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं।

राय ने अपने नवीन मानववादी दर्शन से मानव को स्वयं अपना केन्द्र बताकर मानव की स्वतंत्रता एवं उसके व्यक्तित्व की गरिमा का प्रबल समर्थन किया है। वस्तुतः बीसवीं सदी में फासीवादी तथा साम्यवादी समग्रतावादी राज्य-व्यवस्थाओं ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व का दमन किया और उदारवादी लोकतन्त्र में मानव-कल्याण के नाम पर निरन्तर बढ़ती केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से सावधान किया। राय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व की गरिमा के पक्ष में जो उग्र बौद्धिक विचार दिये हैं, उनका आधुनिक युग के लिए विशिष्ट महत्व है। जहाँ एक ओर उन्होंने एशिया और भारत को साम्यवाद का सन्देश उन्होंने दिया वहीँ सर्वप्रथम उन्होंने साम्यवाद की भर्त्सना कर सारे विश्व को मानवतावाद का सन्देश भी दिया । राय के दर्शन में भौतिकवाद, निरीश्वरवाद, व्यक्ति की स्वतंत्रता, लोकतंत्र, अंतर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद का विशेष महत्व है।

13.2 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को भारतीय राजनीतिक विचारक मानवेन्द्र नाथ राय के राजनीतिक विचारों से परिचय कराना है। मानवेन्द्र नाथ राय ने जीवन का प्रारंभ एक मार्क्सवादी विचारक के रूप में किया लेकिन कुछ समय बाद मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति अलगाव की भावना आ गयी और उसमे व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हुए नव मानवतावादी दर्शन प्रस्तुत किया । इस अध्याय में मानवेन्द्र नाथ राय के मार्क्सवाद ,मार्क्सवादी सिद्धान्त से असहमति ,नव मानवतावाद एवं लोकतन्त्र से सम्बंधित विचार पर चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा ।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चातआपको

i . मानवेन्द्र नाथ राय के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा ।

ii. साथ ही आप मानवेन्द्र नाथ राय के मार्क्सवाद एवं मार्क्सवाद से असहमति सम्बन्धी विचारों के बारे में जान सकेंगे।

iii. आप नवीन मानवतावाद के सम्बन्ध के बारे में जान सकेंगे तथा

iv. मानवेन्द्र नाथ राय के लोकतन्त्र से सम्बंधित विचारों से भी आप अवगत होंगे ।

13.3 जीवन परिचय

भारत के आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मानवेन्द्र नाथ राय का अग्रणी स्थान है। मानवेन्द्र नाथ राय वर्तमान शताब्दी के भारतीय दार्शनिकों में क्रान्तिकारी विचारक तथा मानवतावाद के प्रबल समर्थक हैं।

मानवेन्द्र नाथ राय का जन्म 21 मार्च, 1887 को पश्चिम बंगाल के एक छोटे-से गांव में हुआ था। उनका परिवार काफी धर्मपरायण और पिता धर्मप्रचार के द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। राय के बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य था, जिसे बाद में बदलकर उन्होंने 'मानवेन्द्र नाथ राय' कर लिया और इसी नाम से उन्होंने दर्शन तथा राजनीति के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की। यद्यपि उनका पालन पोषण धर्मपरायण परिवार में हुआ था, फिर भी बाल्यकाल से ही धर्म में उनकी आस्था नहीं थी।

मानवेन्द्रनाथ राय मेक्सिको और भारत दोनों के ही कम्युनिस्ट पार्टियों के संस्थापक थे। राय ने शिक्षण के आरम्भिक काल में ही क्रांतिकारी आन्दोलन में रूचि लेने लगे थे। हाई स्कूल की परीक्षा पास करने के पहले ही मानवेन्द्रनाथ राय क्रांतिकारी आन्दोलन में कूद पड़े थे। पुलिस उनकी तलाश कर ही रही थी कि वो दक्षिणी पूर्वी एशिया की ओर निकल गये और जावा सुमात्रा होते हुए अमेरिका पहुँच गये और वहा आतंकवादी गातिविधि का त्याग कर मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक बन गये। मेक्सिको की क्रान्ति में उन्होंने योगदान किया , जिससे उनकी प्रसिद्धि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो गयी। उनके कार्यो से प्रभावित होकर थर्ड इंटरनेशनल में इन्हें आमंत्रित किया गया था और उन्हें उसके अध्यक्ष मंडल में स्थान दिया गया। 1921 में वे मास्को के प्राच्य विश्वविद्यालय के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। 1922 से 1928 के बीच उन्होंने कई पत्रों का सम्पादन किया , जिसमे वानगार्ड और मासेज मुख्य थे। सन 1927 ई. में चीनी क्रांति के समय राय को वहा भेजा गया किन्तु इनके स्वतंत्र विचारों से वहा के नेता सहमत न हो सके और मतभेद उत्पन्न हो गया। रूसी नेता इस पर इनसे क्रुद्ध हो गये और स्टालिन के राजनीतिक कोप का इनको शिकार बनना पड़ा। विदेशो में इनकी हत्या का कुचक्र चला तथा जर्मनी में इनको विष देने की चेष्टा की गयी पर सौभाग्य से ये बच गये। इधर देश में मानवेन्द्र रॉय की क्रांतिकारी गतिविधि के कारण उनकी अनुपस्थिति में कानपुर षड्यंत्र का मुकदमा चल गया। ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर इनपर कड़ी नजर रखे हुए थे फिर भी 1930 में आप गुप्त रूप से भारत लौटने में सफल हो गये तथा मुम्बई आकर डॉक्टर महमूद के नाम से राजनीतिक गतिविधि में भाग लेने लगे। 1931 में ये गिरफ्तार कर लिए गये। 20 नवम्बर 1936 को जेल से रिहा होने के बाद कांग्रेस की नीतियों से उनका मतभेद हो गया था। उन्होंने रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की थी। सक्रिय राजनीति से अवकाश ग्रहण कर ये जीवन के अंतिम दिनों में देहरादून रहने लगे और यहाँ 26 जनवरी 1954 को उनका निधन हो गया।

13.4 एम.एन.राय की रचनाएँ

राय प्रतिभाशाली विद्वान और लेखनी के अपूर्व धनी व्यक्ति थे। उनके कुल ग्रन्थों की संख्या लगभग 110 है। राय के दार्शनिक विचारों का प्रमुख संग्रह ‘Philosophical Consequences of Modern Science ’ नामक ग्रन्थ है। यह 9 खंडों में लिखा हुआ है। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं:

(1) रीज़न, रोमाण्टिसिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन
(2) वन ईयर ऑफ नॉन-कोऑपरेशन
(3) दी रिवोल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवोल्यूशन इन चाइना
(4) इण्डियन इन ट्रांज़ीशन
(5) दी वे टू डयूरेबिल पीस
(6) न्यू ह्यूमेनिज्म एण्ड पॉलिटिक्स
(7) पॉलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज़
(8) दी प्रिंसिपल्स ऑफ रेडिकल डेमोक्रेसी
(9) कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया
(10) रेडिकल ह्यूमेनिज्म
(11) अवर डिफरेन्सेज़
(12) इंडियन प्रॉबलम्स एण्ड देयर सोल्यूशन्स
(13) दी फ्यूचर ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स
(14) हिस्टोरिकल रोल ऑफ इस्लाम
(15) फासिज्म : इट्स फिलॉसफी, प्रोफेशन्स एण्ड प्रैक्टिस
(16) मैटिरियलिज़्म

(17) न्यू ओरियन्टेशन
(18) बियोन्ड कम्यूनिस्म टू ह्यूमेनिज्म
(19) साइन्स एण्ड फिलॉसफी
(20) ट्वेण्टि टू थीसिस

13.5 राय और मार्क्सवाद

साम्यवादी देशों के मार्क्सवाद पर आधारित शासन प्रणाली को मानवेन्द्र नाथ राय समाज के लिए उपादेय नहीं मानते हैं क्योंकि इसमें व्यक्ति राज्य की प्रगति का साधन मात्र माना जाता है और इस प्रकार उनकी महत्ता एवं स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया जाता है। साम्यवादियों के विपरीत राय के सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन का केन्द्र व्यक्ति है, जिसकी स्वतंत्रता के लिए वे सदैव उन अधिनायकवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे जो मनुष्य को उस की व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित करती है। उनका विचार है कि स्वतंत्रता चाहने वाले सभी व्यक्तियों को इन शक्तियों के विरुद्ध संगठित रूप से निरन्तर संघर्ष करना होगा, अन्यथा व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। परन्तु राय व्यक्ति की स्वतंत्रता को असीमित न मानकर सामाजिक हित द्वारा मर्यादित ही मानते हैं। समाज में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता के साथ-साथ दूसरों की स्वतंत्रता का भी सम्मान करना होगा, अत: किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग से व्यवहार करने की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। ऐसी असीमित स्वतंत्रता वास्तव में व्यक्ति की स्वतंत्रता का निषेध करती है।

राय ने अपनी आरंभिक कृति 'India in Transition -1922' के अंतर्गत मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारत की तत्कालीन स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत किया। राय ने तर्क दिया कि ब्रिटिश सरकार भारत में बढ़ते हुए जन-आक्रोश के खतरे से चौक गई है। उसने रोकने के उद्देश्य से वह भारत के बुर्जुवा वर्ग को कुछ रियायतें देकर उसका समर्थन प्राप्त करना चाहती है। उधर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने उद्योगों के साथ-साथ कृषि-उत्पादन को भी अपने नियंत्रण में ले लिया है। परिणाम यह है कि ग्रामीण क्षेत्र में भारत के कृषक वर्ग को विदेशी और भारतीय दोनों तरह की पूंजी की दोहरी मार सहनी पड़ रही है।

भारतीय इतिहास का जो क्षण मशीनी उत्पादन युग के आरंभ के लिए उपयुक्त था, तब यहाँ ब्रिटिश आक्रमण हो गया जिससे औद्योगीकरण की प्रक्रिया को बहुत धक्का लगा। इसी से यही शहरी सर्वहारा के विकास में देर लगी। अब यही पूंजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष को बल मिला है, और यह संघर्ष राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष के साथ-साथ चल रहा है। राय ने यह मत व्यक्त किया कि भारत का भविष्य बड़े-बड़े उद्योगों के भविष्य पर निर्भर है। औद्योगिक उन्नति से कामगार वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ जाएगी। अतः भारत को स्वतंत्र कराने का दायित्व मजदूर और किसान वर्ग मिलकर सँभालेंगे जो वर्ग संघर्ष के प्रति सजग हो जाने के कारण संगठित हो जाएंगे। एम.एन.राय ने मार्क्स तथा अन्य समाजवादी लेखकों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने बहुत शीघ्र ही मार्क्स के द्वन्द्वत्मक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त पर अधिकार जमा लिया और वे मार्क्स के दर्शन से प्रभावित थे। उन्होंने मैक्सिको में साम्यवादी दल की स्थापना की और 'साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय' के संस्थापक सदस्य के रूप् में अपने दृढ़ मार्क्सवादी होने का परिचय दिया। उन्होंने भारत में साम्यवादी आन्दोलन के आगे बढ़ाने का भी कार्य किया।

मार्क्स ने द्वन्दवादी भौतिकवाद का प्रतिपादन किया था जिसमें मानवेन्द्र नाथ की गहरी आस्था थी। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से अलग होने के बाद भी भौतिकवाद में उनकी आस्था बनी रही। राय मार्क्स की वैज्ञानिक पद्धति से बहुत प्रभावित थे। राय का मत था कि सर्वाधिक अनुकरणीय और प्रशंसनीय बात वैज्ञानिक पद्धति की है। मार्क्स ने कमजोर दलित एवं श्रमिकों के प्रति गहरी सहानुभूति का भाव रखते हुए इस बात की निन्दा की कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण करे। मार्क्स का लक्ष्य शोषण की इस स्थिति को समाप्त कर एक समतावादी समाज की स्थापना करना था। राय मार्क्स के चिन्तन को इस मानवीय तथा उदारवादी प्रवृत्ति और उसके सम्पूर्ण चिन्तन के मूल लक्ष्य के प्रति भारी आस्था रखते थे। राय ने मार्क्स के सिद्धान्त के उस अंश को स्वीकार किया जो चिन्तन तथा कर्म की एकता पर बल देता है। कोई भी कार्य तभी सफल हो सकता है जबकि सोच-समझकर कर निश्चित की गई एक योजना के अनुरूप हो और विद्यमान वस्तु स्थिति पर आधारित हो।

दूसरे विश्व युद्ध (1939-45) के दिनों में राय ने अपने फासिस्ट-विरोधी दृष्टिकोण के कारण ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया। इसके बाद उनका झुकाव मार्क्सवाद से हटकर एक तरह के उदारवाद की ओर हो गया। अपने नए चिंतन को उन्होंने 'नव-मानववाद' के रूप में विकसित किया।

13.6 मार्क्सवादी सिद्धान्त से असहमति

मानवेन्द्र नाथ राय मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को विशेष महत्व देते हैं, क्योंकि उनके विचार में इस स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति वास्तव में सुखी नहीं हो सकता। उनके राजनीतिक दर्शन का मूल आधार मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही है। व्यक्तिगत

स्वतंत्रता से उनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के कार्यों तथा विचार तथा अभिव्यक्ति पर राज्य एवं समाज द्वारा अनुचित तथा अनावश्यक प्रतिबंध न लगाये जाएं और समाज को उन्नति का साधन मात्र न मानकर उसके विशेष महत्व को स्वीकार किया जाये। इस सम्बन्ध में राय का मार्क्सवादियों से तीव्र मतभेद है, क्योंकि मार्क्सवाद में मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं है। अपनी युवावस्था में वे मार्क्सवाद से बहुत प्रभावित हुए थे, किन्तु बाद में उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और वे इस विचारधारा को एकांगी तथा दोषपूर्ण मानने लगे।

राय मार्क्स के चिन्तन में गहरी आस्था रखते थे। मार्क्स के सम्पूर्ण चिन्तन को कभी भी स्वीकार नहीं किया। इसलिए मार्क्सवादियों के साथ उनके वैचारिक मतभेद शीघ्र ही शुरू हो गये। राय ने वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने, माक्र्स की विचारधारा को लचीला बनाने और इस विचारधारा को सजीव एवं गतिशील दर्शन बनाने पर बल दिया। इन्हीं मतभेदों के चलते 1928 में राय का 'साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय' से निष्कासित कर दिया। राय ने मार्क्सवाद चिन्तन पर जो असहमति व्यक्त की है, वह इस प्रकार है।

राय मार्क्स के द्वन्द्वाद से कभी भी सहमत नहीं हो पाये। राय का मत था कि द्वन्द्ववाद एक वैचारिक प्रक्रिया है। इससे भौतिक जीवन के विभिन्न चरणों और भौति स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती। राय मार्क्स की इस बात से सहमत नहीं हैं कि व्यक्ति की नियति का निर्धारण मात्र आर्थिक कारकों से होता है। उनके अनुसार सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को मानवीय जीवन का मूल तत्व माना है। उनके अनुसार हमेशा से ही समाज में दो प्रतिद्वन्द्वी वर्ग चले आ रहे हैं, जिनके बीच नियमित संघर्ष चलता रहता है लेकिन राय का मत है कि समाज के वर्गों में संघर्ष रहता तो समाज का अस्तित्व कभी का समाप्त हो जाता। समाज तो आपसी, सामाजिक एकता बनाने में सहायक है। कार्ल मार्क्स मध्यम वर्ग को एक ऐसे अवसरवादी वर्ग के रूप में मानते है जो मौका मिलने पर पूँजीपतियों का साथ देता है। अतः समाजवादी व्यवस्था में मध्यम वर्ग का अन्त हो जाएगा। लेकिन मार्क्स की भविष्यवाणी गलत साबित हुई है इसके विपरीत मध्यम वर्ग एक शक्ति के रूप में उभरा और सामाजिक परिवर्तन में सफल रहा।

मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना का प्रतिपादन किया। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर राज्य की तानाशाही स्थापित होगी। इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं स्वतंत्रता का काई महत्व नहीं है। राय व्यक्ति की स्वतंत्रता की दृष्टि से मार्क्सवाद पर आधारित इस सर्वाधिकारवाद का विरोध और उदारवाद का समर्थन करते हैं। इसके साथ हीं , मानव एक स्वतंत्रता प्रिय, कल्पनाशील और रचनात्मक प्रवृत्ति का प्राणी है, मार्क्सवादी दर्शन में इन पर कोई ध्यान न देकर मानव को साधन मात्र बना दिया है। मानव का विकास नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता से ही सम्भव है। मार्क्स वादी दर्शन में व्यक्ति को इस स्वतंत्रता से वंचित कर समष्टि की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर दिया गया है। मार्क्स ने अपने संपूर्ण चिन्तन में नैतिकता को महत्व न देकर भौतिक तत्वों को महत्व दिया है। राय की दृष्टि में मार्क्स का सबसे बड़ा दोष है। और भी ,मार्क्सवाद हिंसा और बल प्रयोग की प्रवृत्ति में विश्वास करता है और क्रांति एवं संघर्ष के माध्यम से व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते हैं। राय भी सामाजिक परिवर्तन के पक्षधर है, लेकिन राय शांतिपूर्ण तरीकों से परिवर्तन लाने में विश्वास करते हैं।

यद्यपि राय ने मार्क्सवाद के कुछ सिद्धान्तों में विश्वास किया लेकिन अपने जीवन काल के अंतिम वर्षों में उनके मन में माक्र्सवाद के प्रति असहमति बनी और मार्क्सवाद का पूर्णतया परित्याग कर एक नवीन विचारधारा मौलिक मानवतावाद के साथ जुड़ गए।

13.7 राय का नव मानवतावाद

मानवेन्द्र नाथ राय आधुनिक भारत के अत्यंत प्रतिभाशाली राजनीति-विचारक और क्रांतिकारी थे । उनका संबंध भारतीय साम्यवादियों की पहली पीढ़ी से था । रूस में बोल्दोविक क्रांति (1917) के बाद वे वहीं चले गए, और लेनिन (1870-1924) के निकट सहयोगी रहे । फिर, 1930 में भारत लौटकर उन्होंने यहां की स्थिति का विश्लेषण किया । आगे चलकर उन्होंने एक नए सिद्धांत नव-मानववाद का प्रतिपादन किया जो उनकी ख्याति का मुख्य आधार है । फिर, 1930 में भारत लौटकर उन्होंने यहां की स्थिति का विश्लेषण किया । आगे चलकर उन्होंने एक नए सिद्धांत नव-मानववाद का प्रतिपादन किया जो उनकी ख्याति का मुख्य आधार है ।

राय ने नव-मानववाद की संकल्पना अपनी अनेक कृतियों के अंतर्गत प्रस्तुत की । इनमें 'New Humanism: A Manifesto – 1947' 'Reason, Romanticism and Revolution', 'The Problem of Freedom', 'Scientific Politics' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इस नव-मानववाद को 'उत्कट मानववाद' या 'आमूलपरिवर्तनवादी मानववाद' तथा 'वैज्ञानिक मानववाद' की संज्ञा भी दी गई है । इसका मूल स्वर 'मनुष्य की स्वतंत्रता' है जो उसकी सृजनात्मक शक्तियों के प्रयोग में निहित

है। अज्ञान की स्थिति में मनुष्य अंधविश्वासों में फँस जाता है और अलौकिक शक्तियों में विश्वास करते हुए अपने-आपको विवश अनुभव करता है जिससे उसकी सृजनात्मक शक्तियाँ कुंठित हो जाती हैं। ज्ञान और विज्ञान मनुष्य को इन निराधार विश्वासों से मुक्ति प्रदान करते हैं।

राय ने तर्क दिया कि आधुनिक युग में विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य को अंधविश्वासों और भूत-प्रेतों के भय से मुक्त कर दिया है। इसने सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जिसे मनुष्य अपने ज्ञान और सूझबूझ के बल पर अपने वश में नहीं कर सकता। अतः मनुष्य स्वयं अपनी नियति का नियंता है। किसी युग में मनुष्य अपनी नियति को कैसे नियत करेगा- यह ज्ञान-विज्ञान की उन्नति पर निर्भर है। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की कोई सीमा नहीं है, इसलिए मनुष्य के भविष्य की कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

अतः नव-मानववाद स्वतंत्रता के प्रयोग की अनंत संभावनाओं में आस्था रखते हुए उसे किसी ऐसी विचारधारा के साथ नहीं बांधना चाहता जो किसी पूर्वनिर्धारित लक्ष्य की सिद्धि को ही उसके जीवन का ध्येय मानती हो। दार्शनिक आमूल परिवर्तनवादियों ने अपनी समकालीन सामाजिक-आर्थिक स्थिति के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर नैतिक समस्याओं के बारे में व्यक्तिवादी सिद्धांत विकसित किया था। मार्क्स ने उनके दृष्टिकोण को बुर्जुवा मनोवृति मानते हुए इसका खंडन किया था- यह उसकी भूल थी। आधुनिक सभ्यता जिस व्यापक नैतिक और सांस्कृतिक संकट से गुजर रही है, उसके निवारण के लिए मानववादी मूल्यों का पुनरुत्थान जरूरी है। आज के युग की मूल समस्या सर्वाधिकारवाद से मानव-स्वतंत्रता की रक्षा करना है। 'पूंजी बनाम श्रम' की आर्थिक समस्या आज का मुख्य मुद्दा नहीं है हालांकि इसका समाधान भी जरूरी है।

राय ने भौतिकवाद के साथ-साथ मानव-विकास के सिद्धांत में विश्वास करते हुए यह तर्क दिया कि स्वयं 'मनुष्य का अस्तित्व भौतिक सृष्टि के विकास का परिणाम है। भौतिक सृष्टि अपने-आपमें निश्चित नियमों से बँधी है, इसलिए उसमें सुसंगति पाई जाती है। मनुष्य के अस्तित्व में यह सुसंगति तर्कशक्ति या विवेक के रूप में सार्थक' होती है।दूसरे शब्दों में, मनुष्य का विवेक भौतिक जगत में व्याप्त सुसंगति की ही प्रतिध्वनि है, यह मनुष्य के जीव-वैज्ञानिक विकास की परिणति है। अपने विवेक से प्रेरित होकर मनुष्य जिन सामाजिक संबंधों का निर्माण करते हैं, उनमें भी वे ऐसी सुसंगति लाने का प्रयत्न करते हैं जो नैतिकता के रूप में व्यक्त होती है। जब मनुष्यों के सामाजिक संबंध नियमित तौर तरीकों में बँधकर एक स्थिर ढाँचे का रूप धारण कर लेते हैं, तब समाज का जन्म होता है। व्यक्ति का जीवन केवल तर्कसम्मत आत्माभिव्यक्ति है; उसका आदि-अंत स्वतन्त्रता है; सामाजिक संबंध इसके साधन मात्र है। व्यक्ति आत्मसिद्धि के लिए ही समाज को अपनाता है।

आदर्शवादी नैतिकता को तर्कबुद्धि से ऊँचा मानते हैं, और समाज को व्यक्ति से ऊँचा स्थान देते हैं। राय ने इस दृष्टिकोण का खंडन करते हुए यह तर्क दिया कि मनुष्य ही अपनी तर्कबुद्धि से समाज और नैतिकता के स्वरूप को निर्धारित करता है।अतः उसका स्थान सबसे पहले और सबसे ऊँचा है। मनुष्य स्वयं अपने जीवन और जगत का निर्माता है। कोई सामाजिक दायित्व या नैतिक सिद्धांत मनुष्य को स्वतंत्रता में कटौती नहीं कर सकता। राय का नव-मानववाद मनुष्य को संपूर्ण सृष्टि का मानदंड स्वीकार करता है।

राय के अनुसार, मनुष्य का बौद्धिक पुनर्जागरण राजनीतिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की जरूरी शर्त है। स्वतंत्रता की क्षमता स्वयं मनुष्य में निहित है। यदि मनुष्य अपनी सृजनात्मक शक्तियों के प्रति सजग हो जाए तो वह परंपरागत धार्मिक सत्ता और अलौकिकवाद के बंधनों को काटकर आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्र मनुष्य ही स्वतंत्र समाज का निर्माण कर सकते हैं। राय ने तर्क दिया कि राजनीतिक चिंतन की प्रत्येक प्रचलित परंपरा-चाहे वह उदारवादी हो, रूढ़िवादी हो, या समाजवादी; कम्युनिस्ट हो या फासिस्ट-मनुष्य के अस्तित्व को जनपुंज में विलीन कर देती है, और इस तरह वह किसी विशेष राजनीतिक प्रणाली के वर्चस्व को स्थापित करके मनुष्य को नगण्य बना देती है।

नव-मानववाद ऐसी प्रत्येक परंपरा का खंडन करता है। यह राष्ट्रवाद की जगह विश्व-भ्रातृत्व को मान्यता देता है जिसमें मनुष्य सहज-स्वाभाविक सहयोग और साहचर्य की भावना से प्रेरित होंगे। नव-मानववाद मार्क्सवाद के आर्थिक नियतिवाद का खंडन करता है और मानव-इच्छा को ही सामाजिक विकास की प्रेरक-शक्ति मानता है। इसके अनुसार, क्रांति का ध्येय समाज का आर्थिक पुनर्गठन मात्र नहीं, बल्कि उसे स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के नए जगत का निर्माण करना चाहिए। राय मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ अतर्राष्ट्रीयतावाद के भी प्रबल समर्थक हैं। उनका विचार है कि वर्तमान युग में मानव समाज के समक्ष सबसे बड़ी समस्या विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों में संकुचित राष्ट्रीयता की तीव्र भावना है, जो उन्हें सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए सोचने तथा प्रयास करने से रोकती है। प्रत्येक देश के नेता दूसरे देशों के हित की चिंता किये बिना केवल अपने देश की प्रगति के लिए ही प्रयत्न करते हैं। फलत: मानव समाज भिन्न-भिन्न टुकड़ों में विभक्त हो गया है, जो प्राय: एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं। आज विश्व में जो संघर्ष, निर्धनता, बेरोज़गारी तथा पारस्परिक अविश्वास है, उसका मुख्य कारण

यह संकुचित राष्ट्रीयता की भावना ही है। राय का मत है कि जब तक मानव जाति इस संकुचित राष्ट्रवाद से मुक्त नहीं होती तब तक इन समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। विश्व में एकता और शांति तभी स्थापित हो सकती है। जब हम केवल अपने देश के हित की दृष्टि से नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर विचार करें। राय यह मानते हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में संकुचित, राष्ट्रवाद के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार आचरण करना अंतत: मानव जाति के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यही कारण है कि मानव समाज में अंतर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास को विशेष महत्व देते हैं।

राय ने अपने मानवतावादी दर्शन को 'नव मानवतावाद' अथवा 'वैज्ञानिक मानवतावाद' की संज्ञा दी है, क्योंकि वह मनुष्य के स्वरूप तथा विकास के सम्बन्ध में विज्ञान द्वारा उपलब्ध नवीन ज्ञान पर आधारित है। राय के इस विज्ञानसम्मत नव मानवतावाद में ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य के लिए यह समझ लेना बहुत आवश्यक है कि वह स्वयं ही अपने सुख-दु:ख के लिए उत्तरदायी है और वही अपने भाग्य का निर्माता है, इसमें कोई दैवी शक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकती। इस संसार में मनुष्य के जीवन की कहानी उसके शरीर के साथ ही समाप्त हो जाती है, अत: मोक्ष की परम्परागत अवधारणा मिथ्या एवं भ्रामक है। राय के मत के अनुसार हमें कल्पित पारलौकिक जीवन की चिंता किये बिना इसी संसार में मनुष्य की वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए वैज्ञानिक ढंग से प्रयास करना चाहिए। अंतत: इसी में सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण निहित है और मनुष्य के लिए यह व्यावहारिक मानवतावादी दर्शन ही वास्तव में सार्थक हो सकता है।

नव मानवतावाद या मौलिक मानववाद राय के संपूर्ण चिंतन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है, जिसके माध्यम से राय ने व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा और नैतिक उत्थान पर बल दिया दिया है। साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय से निष्कासित होने के बाद राय माक्र्सवाद से हटने लगे और भारतीय राजनीति में प्रवेश लेने के पश्चातउन्होंने पाया कि जब तक भारत में सांस्कृृतिक एवं बौद्धिक क्रांति नहीं आएगी, तब तक भारतीय मौलिक साम्यवाद के सिद्धान्त को नहीं समझ सकेंगे। इसलिए उन्होंने अपनी समस्त शक्ति बौद्धिक पुनर्जागरण में लगा दी। जिसका उदेद्श्य नव मानवतावाद का मार्ग प्रशस्त करना था। नव मानवतावाद का प्रतिपादन राय ने अपने ग्रन्थ नव मानववाद में किया।

राय ने लिखा है कि मनुष्य स्वभाव से विवेकपूर्ण और नैतिक है, अतः उन्मुक्त और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में स्वतंत्र है, पर चूंकि समकालीन विश्व का नैतिक और चिन्तन का स्तर गिर चुका है तथा सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो चुका है। अतः एक स्वस्थ, उन्मुक्त और न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए हमें कठोर प्रयत्न करने होंगे।

राय के अनुसार स्वतंत्रता मनुष्य स्वभाव का मुख्य गुण है। नव मानवतावाद व्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्ति का आन्दोलन है। स्वतंत्रता ही व्यक्ति के अस्तित्व का सार है। स्वतंत्रता के बिना न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध होता है, अपितु राज्य एवं समाज का विकास अवरूद्ध हो जाता है। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयास करता रहता है। ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति ही न्यायप्रिय समाज को मुख्य आधार प्रदान करता है। राय ने आर्थिक स्वतंत्रता की तुलना में बौद्धिक स्वतंत्रता का सर्वोपरि माना है किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव नहीं है। राय के अनुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति में चेतना जागृत करती है। जिसके कारण व्यक्ति अपने अधिकारों व हितों के प्रति सजग होता है।

राय के अनुसार मनुष्य स्वभाव से विवेकपूर्ण होता है। बुद्धि व्यक्ति का मौलिक व विशिष्ट तत्व है। राय व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति में पूर्ण विश्वास करता है। ब्राइस थिसिस में राय ने कहा कि व्यक्ति की विवेकशीलता एक सहज गुण है। अन्धविश्वास प्राकृत धर्म के प्रति सुझाव विवेकहीनता का द्योतक है। जैसे-जैसे व्यक्ति ने ज्ञान के आधार पर नवीन आविष्कार किये, वैसे-वैसे अन्धविश्वास के प्रति, उसकी धारण कम होती है।

राय राष्ट्रवाद को एक संकीर्ण विचारधारा मानता है। वे विश्व बन्धुत्व को महत्ता प्रदान करते हुए कहते हैं कि इससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकेगा। वह राष्ट्रवाद के बन्धन से परे एक सार्वभौम समुदाय की बात करता है। यह स्वतंत्र व्यक्ति का समुदाय है जो समस्त विश्व के व्यक्तियों के साथ जुड़ा हुआ है। आज वास्तव में राष्ट्रवाद की अपेक्षा विश्व बन्धुत्व की आवश्यकता है। राय के अनुसार नैतिकता व्यक्ति का एक स्वाभाविक लक्षण है। यह व्यक्ति में विवेकशीलता का परिणाम है। यदि व्यक्ति नैतिकता विहीन है तो मानववादी दर्शन का कोई मूल्य नहीं रह जाता। नैतिकता और विवेकशीलतापूर्ण व्यक्ति ही सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता है। व्यक्ति में अच्छाई के प्रति झुकाव किसी भय के कारण नहीं होना चाहिए अपितु स्वाभाविक रूप से होना चाहिए।

राय ने व्यक्ति को स्वार्थी नहीं माना है। इनका मानना है कि मनुष्य स्वभाव से विकासवान है। उसमें विकास की प्रवृत्ति हमेशा रही है। राय के अनुसार मानव स्वभाव के विवेक, स्वतंत्रता एवं नैतिकता प्रमुख तत्व हैं। जैसे व्यक्ति होंगे वस्तुतः वैसा ही

समाज होगा। अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति श्रेष्ठ समाज का आधार होता है। इसमें व्यक्ति बर्बरता से सभ्यता की आर बढ़ता है और नव मानवतावाद की स्थापना शिक्षित प्रबुद्ध एवं अच्छे स्वभाव वाले व्यक्तियों के माध्यम से ही हो सकती है।राय का मानवतावाद व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को भी महत्वपूर्ण मानता है। वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसमें किसी भी व्यक्ति का शोषण नहीं हो और संपूर्ण समाज का आर्थिक विकास हो। सभी व्यक्ति एक-दूसरे का सहयोग करें न कि प्रतिस्पर्धा। राय व्यक्ति को एक आर्थिक इकाई नहीं मानते हैं। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास के लिए समान अवसर प्राप्त हो ताकि समाज में बढ़ती आर्थिक असमानता को समाप्त किया जा सके। सम्भवतः राय में यह विचार मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप आये।

राय के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। मानव जीवन अपने आप में पूर्ण है। व्यक्ति की प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है। राय के अनुसार व्यक्ति समस्त राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं का मूल आधार है। ये संस्थाएँ व्यक्ति को स्वतंत्र बनाए रखने में सहयोग करती है। यही एम.एन. राय के नव मानवतावाद के दर्शन का आधार है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक संबंध इस तरह से निर्धारित किये जाएं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्व मिले।

नव मानवतावाद: एक जीवन दर्शन

राय द्वारा प्रतिपादित नव मानवतावाद का सिद्धान्त केवल दर्शन पद आधारित न होकर व्यक्ति को जीवन जीना सिखाता है क्योंकि इसमें व्यक्ति को केन्द्र बिन्दु मानकर उसकी गरिमा को बचाने पर बल दिया जाता है। राय यह नहीं मानते हैं कि सृष्टि का निर्माण किसी देवी शक्ति से हुआ है। उनका स्पष्ट मत है कि व्यक्ति ही मानव जाति का मूल है। राय ने अपने दर्शन में विवेकशीलता, नैतिकता, वैज्ञानिकता, बौद्धिक शक्ति, स्वतंत्रता, विश्व बन्धुत्व की भावना आदि को प्रमुख स्थान दिया है। राय ने लोगों के प्रेम व विश्वास पर आधारित समुदाय निर्माण की बात कही, जिसमें मानव अपना जीवन सुखमय बना सके। इस प्रकार नव मानवतावाद राय की मुख्य देन है, जिसका मूल आधार स्वतंत्रता, बौद्धिक शक्ति एवं नैतिकता है, जो मावन जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में है।

13.8 राय के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार

भारत के पुनर्निर्माण के लिए कौन-सा मार्ग अपनाया जाए- इस मामले में मार्क्सवाद, गांधीवाद और लोकतंत्र अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दावा करते है। राय ने अपने नव-मानववाद के परिप्रेक्ष्य में इन तीनों की समीक्षा प्रस्तुत की है। उन्होंने तर्क दिया कि मार्क्सवाद केवल आर्थिक प्रेरक और आर्थिक हितों के संघर्ष को मानव-इतिहास की प्रेरक शक्ति मानता है। यह दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः मानव-जीवन परस्पर सहयोग का प्रयास है, और सुसंगति या सामंजस्य की तलाश उसकी प्रेरणा-शक्ति है। मार्क्सवाद मनुष्य की गरिमा को उचित मान्यता नहीं देता, इसलिए वह मूल नैतिक समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाया है। जब सारी मानवता सवाधिकारवाद के जाल में फँसती जा रही है, तब भी मार्क्सवाद 'पूंजी बनाम श्रम' के विवाद में उलझा है। अतः वह मानव मुक्ति के जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन्मा था, उसे ही इसने विफल कर दिया है।

एम.एन. राय महात्मा गांधी के व्यक्तिगत गुणों और नेतृत्व की क्षमता के प्रशंसक थे, परंतु उन्हें गांधीवाद की मान्यताएं सही नहीं लगीं। उन्होंने तर्क दिया कि गांधीवाद भारत में पुराने अध्यात्मवाद के पुनर्वास का प्रयत्न है जबकि देश उससे बहुत आगे बढ़ चुका है। यह देश को पीछे की ओर ले जाने का प्रयास है। गांधीवाद को जनसाधारण के सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण सम्मान मिला है। गांधीजी के नेतृत्व ने अनजाने में जनसाधारण की तर्कसम्मत क्रांति की आग को ठंडा करने की भूमिका निभाई है। इसी के परिणामस्वरूप भारत में एकाधिकार-पूंजीवाद का पंजा फैलता जा रहा है। फिर, आधुनिक लोकतंत्र भी मनुष्य की स्वतंत्रता का साधन नहीं रह गया है।

वैसे लोकतंत्र व्यक्ति को राज्य की नागरिकता प्रदान करता है जिससे ऐसा लगता है कि वह व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को मान्यता देता है परंतु वस्तुतः वह व्यक्ति को राष्ट्र का उपाश्रित बना देता है। इस तरह लोकतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता को राष्ट्र-राज्य के क्षेत्रीय विस्तार तक सीमित कर देता है जिसमें उसका अस्तित्व विलीन हो जाता है, चाहे वही एकदलीय प्रणाली प्रचलित हो या बहुदलीय प्रणाली हो। मानवेन्द्र नाथ राय मनुष्य को नैतिक इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं और इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि इस नैतिक मनुष्य का विकास स्वतंत्रता के आधार पर ही संभव है, इसके अलावा राय के नव मानवतावाद का लक्ष्य लोकतंत्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह राय ने उदारवादी लोकतंत्र का समर्थन किया है। लेकिन उनका कहना था कि वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था दूषित है और इससे हमारे मन-मस्तिष्क में लोकतंत्र के प्रति आस्था को आघात पहुँचा है। इसीलिए उन्होंने लोकतंत्र के स्वरूप में भारी परिवर्तन की आवश्यकता बतायी। उनके द्वारा लोकतांत्रिक व्यवस्था की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई, उसे वे संगठित लोकतंत्र का नाम देते हैं। लोकतंत्र को सुदृढ़ करने हेतु राय द्वारा दिये गये सुझाव निम्नलिखित हैं-

जन समितियों के माध्यम सये समस्त कार्यों का सम्पादन

राय ने अनुभव किया कि वर्तमान समय की लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीति सत्ता केन्द्रित हो गई है और इसमें योग्य व्यक्तियों के चुने जाने का कोई गुंजाइश नहीं है। वे जनता के बौद्धिक और नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं और आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था के दोषों का निवारण करने के लिए संगठित लोकतंत्र का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसका सबसे प्रमुख तत्व है, जन समितियों के माध्यम से समस्त कार्यों का सम्पादन। राजनीतिक दलों के बढ़ते हुए दुष्प्रभावों ने समस्त शासन की विचार शक्ति कुण्ठित कर दी है। 'विधि का शासन' मात्र औपचारिक घोषणा रह गयी है, इसलिए वह स्थानीय व्यक्तियों की जन समितियों के द्वारा वर्तमान प्रजातंत्र को संगठित करना चाहते हैं और राय इन समितियों को अधिकाधिक कार्य सौपने के पक्ष में है। ये जन समितियाँ विवेकशील व्यक्तियों के सहयोग से स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्र की सामाजिक संस्थाओं की इकाई के रूप में कार्य करेंगी। इन समितियों के कारण राज्य के सर्वशक्तिमान होने का भय समाप्त हो जाएगा। राय इन समितियों में अधिक से अधिक जनता की भागीदारी सुनिश्चित करना चाहते है, ताकि संगठित लोकतंत्र की स्थापना की जा सके।

विकेन्द्रित सत्ता पर बल

राय वर्तमान समय की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में बढ़ती हुई केन्द्रीकरण की प्रवृत्तिको आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से उचित नहीं मानते। उन्होंने वर्तमान लोकतंत्र में केन्द्रीय सत्ता के स्वरूप को मानवीय विकास के मार्ग को भारी बाधा घोषित किया है। समाज के मूलभूत पुनर्गठन की आवश्यकता बतलाते हुए विकेन्द्रीकरण पर बल देते हैं और कहते हैं कि सत्ता के विकेन्द्रीकरण को अपनाने पर राजनीतिक के स्थान पर लोक नीति को प्रतिष्ठा सम्भव हो सकेगी।

दलविहीन लोकतंत्र की स्थापना पर बल:

राय वर्तमान लोकतंत्र की समस्याओं के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार राजनीतिक दलों को मानते हैं। इनका प्रभाव इतना ज्यादा हो गया है कि लोकतंत्र 'दलतंत्र' बन कर रह गया है। दलों ने व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति और निर्णय शक्ति दोनों को ही कुंठित कर दिया है और व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना असम्भव हो गयी है। राजनीतिक दलों का जन हितों की समस्याओं से काई वास्ता नहीं है। उनका उदेद्श्य केवल सत्ता प्राप्त करना है और इसके लिए वे किसी भी सीमा को लांघ सकते हैं। इसके अलावा विश्व में जो नैतिक पतन हो रहा है इसके लिए राजनीतिक दल ही जिम्मेदार है। अतः राय के अनुसार- 'यदि हमें लोकतन्त्रवाद की रक्षा करनी है तो उसे 'दल रहित' बनाना होगा अर्थात एक दल विहीन लोकतंत्र की स्थापना करनी होगी।

मतदाताओं के शिक्षित होने पर बल

'संगठित लोकतंत्र' के प्रतिपादन में राय ने मतदाताओं के शिक्षित होने की अनिवार्यता पर बल दिया है, ताकि वे भाषण कला में निपुण नेताओं के बहकावे में नहीं आ सके। वे नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि ईमानदार तथा पक्षपात रहित लोगों को ही शासन का नेतृत्व सौंपने के पक्षों में थे। उन्होंने प्रारम्भ में कुशल तथा गुणों शासकों के निर्वाचक के स्थान पर मनोनयन का प्रावधान भी प्रस्तुत किया।

अभ्यास प्रश्न

1. नव मानवतावाद का प्रतिपादन किसने किया है ?
2. मानवेन्द्र नाथ राय ने किस दल की स्थापना की थी ?
3. मानवेन्द्र नाथ राय का देहांत कहाँ हुआ ?
4. नव मानवतावाद का मूल आधार क्या है ?
5. मानवेन्द्र नाथ राय ने अपनी किस रचना में नव मार्क्सवाद का प्रतिपादन किया है ?

13.9 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मानवेन्द्रनाथ राय के विचार मानवता के कल्याण एवं गरिमा को प्रोत्साहन देने वाले हैं। मा्क्सवादी विचारधारा के विरूद्ध का उनका मुख्य कारण इसका व्यावहारिक होना नहीं था। इसलिए उन्होंने मा्क्सवाद के कुछ बुनियादी सिद्धान्तों की आलोचना की। उनका मत था कि हिंसा या क्रांति के माध्यम से किसी व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। नवमानवतावादी दृष्टि पूर्णतया स्वतंत्रता, विकास, नैतिकता तथा विश्वबन्धुत्व पर आधारित है, जिसको अपना लेने से समाज अपने निहित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। यद्यपि वे स्वतंत्र लोकतंत्र के समर्थक वे लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था में विद्यमान कमजोरियों को देखकर उसमें भी सुधार की आवश्यकता पद बल दिया। उनका मत था कि जब तक शासन में अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं होगी तब तक लोकतंत्र की सुखद अनुभूति नहीं की जा सकती, साथ ही साथ राय ने लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियों के लिए राजनीतिक दलो को उत्तरदायी माना। इसके लिए उन्होंने दल विहीन

प्रजातंत्र के औचित्य पर बल दिया। शिक्षा पर आधारित मताधिकार का समर्थन कर उन्होंने मताधिकार के महत्व को बढ़ाने का प्रयास किया ताकि योग्य एवं प्रतिभाशाली जन-प्रतिनिधित्व का चयन किया जा सके।

एम.एन. राय के अनुसार, व्यक्ति की तर्कशक्ति उसके ज्ञान के विस्तार के साथ जुड़ी है। अतः जहाँ अज्ञान की सीमाएं टूटती हैं, वहाँ वह नई जीवन-पद्धति की तलाश करता है। यही तलाश उसकी स्वतंत्रता को सार्थक करती है। अतः मनुष्य की स्वतंत्रता ज्ञान के विस्तार के साथ-साथ अपनी आकांक्षाओं के विस्तार में निहित है। मार्क्सवाद, गांधीवाद और लोकतंत्र में से कोई भी प्रणाली व्यक्ति को अपनी अनंत स्वतंत्रता की तलाश नहीं करने देती क्योंकि ऐसी प्रत्येक विचारधारा अपनी-अपनी प्रयोजनवादी विश्व-दृष्टि से बंधी है। ऐसी प्रत्येक विचारधारा पहले से उपलब्ध ज्ञान पर आधारित है, और वह मनुष्य के जीवन को किसी-न-किसी पूर्व-निर्धारित लक्ष्य के साथ बाँध देती है। अतः वह ज्ञान के अनंत विस्तार और स्वतंत्रता की अनत संभावनाओं को मान्यता नहीं देती। राय का नव-मानववाद 'मनुष्य' को संपूर्ण सृष्टि की धुरी मानता है। वह शुद्ध 'मनुष्य' को मान्यता देता है-ऐसे मनुष्य को नहीं जो किसी 'वर्ग', 'राष्ट्र' या अन्य प्रकार के सीमित समूह के पूर्व-निर्धारित लक्ष्य के साथ बँधा हो। स्वतंत्र मनुष्य अपनी सहज-स्वाभाविक तर्कशक्ति से प्रेरित होकर अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग के संबंध में बंध जाते हैं। ये स्वैच्छिक संबंध या संगठन मनुष्य की स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं डालते। संक्षेप में, राय ज्ञान के अनंत विस्तार और मानव-विकास की अनंत संभावनाओं के प्रति आशावान हैं। चूंकि इस विकास की कोई सीमा नहीं है, इसलिए हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर इसका कोई पूर्व-निर्धारित लक्ष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता की पहली शर्त वर्तमान बंधनों को तोड़ना है। पिंजरा तोड़ देने पर पंछी खुले आकाश में किधर उड़ेगा-यह तय करने का प्रयत्न निरर्थक है। राय के चिंतन में समकालीन आलोचनात्मक सिद्धांत का पूर्वसकेत मिलता है।

13..10 शब्दावली

मार्क्सवाद - कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ,

सर्वहारा – गरीब एवं मजदूर

निकाय – संगठन ,व्यवस्था

13..11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मानवेन्द्र नाथ राय 2. रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी 3. देहरादून 4. मनुष्य की स्वतंत्रता 5. India in Transition

13.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मानवेन्द्र नाथ रॉय , 1997, *रीज़न , रोमांटिसिज्म एंड रेवोलुशन* , रेनेसां प्रकाशन , कोलकाता .

2. मानवेन्द्र नाथ रॉय , 1995, *दि अल्टरनेटिव*, बोरा एंड कंपनी , मुंबई .

3. निरंजन धर , 2005, द *पोलिटिकल थॉट ऑफ़ एम.एन.राय* , यूरेका , कोलकाता . 4. चंद्रोदय दीक्षित ,2000, *मानवतावादी विचारक : एम.एन.राय* , राधा प्रकाशन जयपुर .

13.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.भारतीय राजनीतिक चिन्तक – के. यस. पाण्डेय

13.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. वी.पी.वर्मा ,2000, *आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तक* , लक्ष्मी नारायण, आगरा.

2. ओ.पी.गाबा , 2012 ,*राजनीतिक चिन्तन की रुपरेखा* , मयूर पेपरबैक्स , नोएडा.

13.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. मानवेन्द्र नाथ राय के मार्क्सवाद सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कीजिए I
2. मानवेन्द्र नाथ राय के नव मार्क्सवाद पर लेख लिखिए I
3. मानवेन्द्र नाथ राय के संगठित लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. मानवेन्द्र नाथ राय के दलविहीन लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 14 : जय प्रकाश नारायण

इकाई की संरचना

14.1 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 जय प्रकाश नारायण का जीवन परिचय
14.3 जय प्रकाश नारायण की रचनाएँ
14.4 जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व
14.5 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की पुनर्रचना
14..6 नवीन राजनीतिक व्यवस्था एवं दलविहीन प्रजातंत्र
14.7 नवीन आर्थिक व्यवस्था
14.8 सर्वोदयी समाजवाद
14.9 राष्ट्रवाद की अवधारणा
14..10 साधन और साध्य
14.11 सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा
14.12 सारांश
14.13 शब्दावली
14.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.16 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.17 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

लोकनायक जयप्रकाश नारायण आधुनिक भारत के ऐसे राजनीतिक विचारक थे जिन्हें भारतीय समाजवाद का अग्रणी प्रवक्ता माना जाता है। भारत में समाजवादी चिंतन को जिन विचारकों ने पल्लवित-पुष्पित कर गति प्रदान की, उनमें जयप्रकाश नारायण का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है। इन्होंने समाजवाद के भारतीयकरण में अपना अमूल्य योगदान दिया है। जो स्थान गांधी जी के समस्त चिंतन में धार्मिकता व आध्यात्मिकता का है तथा जो स्थान बिनोबा भावे के समस्त चिंतन व क्रिया-कलाप में सत्य एवं अहिंसा का है, ठीक वही स्थान जयप्रकाश नारायण के चिंतन व कार्यों में व्यक्ति की स्वतंत्रता में उनके अदम्य विश्वास का है। उनके इसी विश्वास ने उन्हें सिर्फ लोकाकर्षक बना दिया, बल्कि इसी वजह से वे एक महान लोकतांत्रिकवादी के रूप में भारतीय राजनीति के क्षितिज पर उभरे भी। वे भारत में एक ऐसे नवीन लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे जो उन विसंगतियों तथा बुराइयों से मुक्त हो, जिनसे कि पाश्चात्य लोकतंत्र आज भी पीड़ित है। वे समस्त राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं को नैतिकतावादी दृष्टिकोण से देखते थे और प्राचीन मानवीय तथा नैतिक मूल्यों के प्रति उनका गहरा अनुराग भी था। यही कारण था कि उन्होंने पाश्चात्य भौतिकवादी आधार को ठुकरा कर भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था को मानवीय व नैतिक मूल्यों पर आधारित किये जाने पर बल दिया, ताकि भारत का लोकतंत्र दलगत, जातिगत, क्षेत्रगत तथा संप्रदायगत राजनीति से मुक्त रहे और लोक कल्याण को अधिकाधिक प्रोत्साहित करने में बाधाएँ न आयें। प्रो. बिमल प्रसाद के अनुसार 'जयप्रकाश को भारत में पैदा हुए राजनीतिक चिंतकों में महानतम की संज्ञा दी जानी चाहिए जिन्होंने 25 वर्षों तक समाजवादी आंदोलन को देश में नेतृत्व प्रदान किया।'

14.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक विचारों से परिचय कराना है। इसमें जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के साथ –साथ उनके विचार जो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की पुनर्रचना, नवीन राजनीतिक व्यवस्था एवं दलविहीन प्रजातंत्र , नवीन आर्थिक व्यवस्था, सर्वोदयी समाजवाद , राष्ट्रवाद की अवधारणा, साधन और साध्य , सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा आदि से सम्बंधित है , इन पर चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको -

i . जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।

ii. साथ ही आप जय प्रकाश नारायण के नवीन राजनीतिक व्यवस्था एवं दलविहीन प्रजातंत्र सम्बन्धी विचारों के बारे में जान सकेंगे।

iii. आप नवीन आर्थिक व्यवस्था, सर्वोदयी समाजवाद के सम्बन्ध के बारे में जान सकेंगे तथा

iv. सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा से भी आप अवगत होंगे।

14..2 जय प्रकाश नारायण का जीवन परिचय

जे.पी. अथवा 'लोक नायक' के नाम से मशहूर जयप्रकाश नारायण एक भारतीय स्वतंत्रता सेनानी, समाज सुधारक और राजनेता थे। जयप्रकाश नारायणका जन्म बिहार के सारण जिले के सिताबदियारा गाँव में (अब उत्तर प्रदेश में) 11 अक्टूबर 1902 में हुआ था। उनके पिता का नाम हरसू दयाल श्रीवास्तव और माता का नाम फूल रानी देवी था। वो अपनी माता-पिता की चौथी संतान थे। जब जयप्रकाश 9 साल के थे तब वो अपना गाँव छोड़कर कॉलेजिएट स्कूल में दाखिला लेने के लिए पटना चले गए। स्कूल में उन्हें सरस्वती, प्रभा और प्रताप जैसी पत्रिकाओं को पढने का मौका मिला। उन्होंने भारत-भारती, मैथिलीशरण गुप्त और भारतेंदु हरिश्चंद्र के कविताओं को भी पढ़ा। इसके अलावा उन्हें 'भगवत गीता' पढने का भी अवसर मिला। लेकिन 1921 में महात्मा गाँधी द्वारा चलाये जा रहे असहयोग आंदोलन के आकर्षण से वे बच नहीं पाये और पढाई का बहिष्कार कर वे इस आंदोलन में कूद पड़े। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वह अमेरिका के बर्कले स्थित कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में 1930 तक अपना शोधकार्य किया। यहाँ उन्हें गम्भीर आर्थिक तंगी से भी जूझना पड़ा। शोधकार्य के दौरान उन्होंने मार्क्स तथा एंगल्स के अलावा उन्होंने लवस्टोन तथा मानवेन्द्रनाथ राय की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और मार्क्सवाद के हिमायती बन गये। लेकिन यह सब बहुत दिनों तक नहीं चला और कालांतर में उनके चिंतन में मार्क्सवाद के प्रति रूझान में कमी आयी।

1930 में अमेरिका से भारत लौटने के बाद जयप्रकाश नारायण भारतीय राजनीति में फिर सक्रिय हुए और जवाहर लाल नेहरू के निकट संपर्क में आये। दोनों एक-दूसरे से काफी प्रभावित हुए। भारत के स्वराज आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उन्हें 1932 में मद्रास में गिरफ्तार कर एक वर्ष की कठोर सजा के तौर पर उन्हें नासिक जेल भेज दिया गया। जेल से छूटने के बाद उन्होंने 1934 में, आचार्य नरेन्द्रदेव, अशोक मेहता, अच्युत पट्वर्धन, एम.आर. मसानी, एस.एम. जोशी तथा एम.एल. दांतवाला जैसे अन्य भारतीय समाजवादी नेताओं के साथ मिलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक अंग के रूप में 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' की स्थापना की। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान उन्हें गिरफ्तार कर हजारी बाग जेल में बंद कर दिया गया, जहाँ से वे 1946 में रिहा हुए। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो उन्होंने कोई सरकारी पद स्वीकार न करने का निर्णय लिया। 1948 में जे.पी. ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया तदुपरांत 'भारतीय समाजवादी पार्टी' की स्थापना की। जल्दी ही इस पार्टी से भी उनका मोह टूट गया और 'प्रजा समाजवादी पार्टी' के रूप में उन्होंने एक नये राजनीतिक दल की स्थापना की। 1952 में वे विनोबा भावे के 'भूदान' और 'ग्राम दान' आंदोलनों से अत्यधिक प्रभावित हुए और सर्वोदयी समाजवादी आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। इन्हीं आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने 'संपत्तिदान' और 'जीवनदान' जैसे आंदोलनों की शुरूआत की और 1954 में एक कर्मठ जीवनदानी के रूप में उभर कर लोगों के सामने आये। इसके पश्चात् 1970-72 में उन्होंने बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में चल रहे हिंसक नक्सलवाद की आग को खत्म करने के प्रयास किये। इतना ही नहीं, यह उन्हीं के प्रयासों का नतीजा था कि 1972 में चम्बल घाटी के तकरीबन 400 कुख्यात डाकुओं ने उनके सामने आत्मसमर्पण किया तथा आम जनता की तरह जीवन जीने की कसमें खायी। 1974 में जे.पी. ने 'समग्र क्रांति' का नारा दिया और इंदिरा सरकार को अमान्य नीतियों के विरूद्ध शांतिपूर्ण आंदोलन का शुभारंभ किया, जिसमें छात्रों ने खुलकर भागीदारी की। 1975 के आपातकाल के दौरान उन्हें उनके सहयोगी सहित जेल में डाल दिया गया जहाँ से उन्हें पाँच महीने बाद गंभीर बीमारी की हालत में छोड़ा गया। 1977 में उन्होंने 'जनता पार्टी' के गठन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा इसी वर्ष होने वाले चुनाव में मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री बनवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहीं से उन्हें 'लोक नायक' के रूप में जाना जाने लगा। इस बीच उनका स्वास्थ्य लगातार कमजोर होता रहा और आखिरकार 8 अक्टूबर 1979 को इनकी मृत्यु हो गयी । भारत सरकार ने उन्हें सन

1998 में मरणोपरांत देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'भारत रत्न' से नवाजा। सन 1965 में उन्हें समाज सेवा के लिए 'मैगसेसे' पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

14..3 जय प्रकाश नारायण की रचनाएँ

समाजवादी विचारक के नाते जय प्रकाश नारायण ने राजनीति के आर्थिक आधार पर विशेष बल दिया। उनकी प्रसिद्ध कृति 'Towards Struggle -1946' के अनुसार, समाजवाद सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का विस्तृत सिद्धांत है । उनकी प्रमुख रचनाओं में India: Struggle for Freedom, Political, Social and Economic; Sky Darkens Over India; Towards Total Revolution: India and her problems; Prison diary तथा Why Socialism शामिल है ।

14.4 जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्व

गांधी जी और विनाबा जी के अलावा यदि किसी भारतीय विचारक ने लोकतंत्र के नैतिक आधार के ऊपर ज्यादा बल दिया तो वे जयप्रकाश नारायण थे। यद्यपि जवाहर लाल नेहरू तथा राधाकृष्णन ने लोकतंत्र को एक जीवन पद्धति माना तथा उसकी सफलता के लिए आत्मनियंत्रण व सहिष्णुता जैसे नैतिक गुणों को आवश्यक माना, परन्तु उनमें कोई भी लोकतंत्र को मूलतः तथा सबसे ऊपर एक नैतिक समस्या नहीं माना, जैसा कि हमारा यह सर्वोदयी समाजवादी विचारक मानता है। यह भारतीय लोकतंत्र को उनकी एक अनूठी देन माना जा सकता है। उन्होंने लोकतंत्र की सफलता के लिए निम्नलिखित गुणों को अपनाये जाने पर बल दिया-

(1) सत्यप्रियता, (2) हिंस से बचना, (3) स्वतंत्रता के प्रति लगाव तथा दमन व अत्याचार का प्रतिरोध करने का साहस, (4) सहयोग की भावना, (5) दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता, (6) मानवीय समानता में विश्वास, (7) कर्तव्य व उत्तरदायित्व की भावना, (8) स्वहित को जनहित के अनुरूप ढालने की तत्परता, (9) इच्छाओं पर नियंत्रण व भौतिकवाद का परित्याग तथा (10) सरल जीवन व्यतीत करने की क्षमता।

उपर्युक्त गुणों व नैतिक मूल्यों को जयप्रकाश नारायण ने एक सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हेतु आवश्यक माना है। उनकी मान्यता थी कि लोकतंत्र एक शासन प्रणाली न होकर, एक जीवन पद्धति है। लोकतंत्र का अभिप्राय यह नहीं है कि लोगों को सिर्फ राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो व उन्हें शासन-व्यवस्था में भागीदारी के अवसर प्राप्त हो। वस्तुतः लोकतंत्र एक जीवन-प्र्रणाली है जिसमें सभी को सामाजिक व आर्थिक न्याय, अवसरों की समानता, विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा कृषि व उद्योग धंधों के संतुलित विकास आदि की सुनिश्चितता जैसी बातों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। राजनीतिक लोकतंत्र को आर्थिक लोकतंत्र से अलग नहीं रखा जा सकता। दोनों मिलकर ही सार्वजनिक कल्याण को गत्यात्मकता प्रदान कर सकते है। यही कारण है कि जयप्रकाश नारायण ने क्षेत्रीय व व्यावसायिक जीवन के स्वविकास व स्वसंचालन की आवश्यकता पद बल दिया ताकि मानव का नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, राजनैतिक जीवन से जुड़ा रहे।

जयप्रकाश नारायण भारत में एक ऐसे नवीन लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे जो उन विसंगतियों व बुराइयों से मुक्त हो जिनसे कि पाश्चात्य लोकतंत्र आज भी पीड़ित है। वे समस्त राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं को नैतिक दृष्टिकोण से देखते थे और प्राचीन मानवीय व नैतिक मूल्यों के प्रति उनका गहरा अनुराग भी था। यही कारण था कि उन्होंने पाश्चात्य भौतिकवादी आधार को ठुकरा कर भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था को मानवीय व नैतिक मूल्यों पर आधारित किये जाने पर बल दिया, ताकि भारत का लोकतंत्र दलगत, जातिगत, क्षेत्रगत तथा संप्रदायगत राजनीति से मुक्त रहे और लोक कल्याण को अधिकाधिक प्रोत्साहित करने में बाधाएँ न आयें। उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है कि 'लोकतंत्र की समस्या मूलतः तथा सबसे ऊपर नैतिक समस्या है। लोकतंत्र के लिए संविधानों, शासन प्रणालियों, दलों एवं चुनावों-इन सब बातों का महत्व है। परन्तु जब तक

जनता में समुचित नैतिक व आध्यात्मिक गुण विकसित नहीं होते, तब तक सर्वोत्तम संविधान व राजनीतिक प्रणालिया भी लोकतंत्र को सफल नहीं बना सकतीं।'

14.5 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की पुनर्रचना

जयप्रकाश नारायण की दृष्टि में वर्तमान संसदीय लोकतंत्र का सबसे गम्भीर दोष इसका आत्यधिक केन्द्रीकृत चरित्र है। वास्तव में, स्वशासी संस्थाओं के अभाव और औद्योगीकृत सभ्यता की जटिलताओं ने केन्द्रीय सरकार को बहुत शक्तिशाली बना दिया जिसमें व्यक्ति की महत्ता व भूमिका गौण हो गई है। पुनः राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप व नियोजित अर्थव्यवस्था के विचार पर बल दिये जाने के कारण केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और तेज हुई है जिससे नौकरशाही की शक्ति में अपूर्व वृद्धि हुई है और इसने एक तरह से लोकसेवकों के अधिनायकवाद को जन्म दिया है।

दूसरे, जयप्रकाश नारायण वर्तमान संसदीय लोकतंत्र को बहुमत द्वारा निर्वाचित व समर्थित शासन-व्यवस्था मानने से भी इंकार करते है तथा इसे अल्पमत द्वारा निर्वाचित व समर्थित व्यवस्था मानते हैं जिससे अल्पमत सरकार का निर्माण हो पाता है। चूँकि निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होते हैं, इसलिए इसमें आधे से अधिक लोग भाग नहीं ले पाते। मुश्किल से 50 प्रतिशत मतदाता मतदान प्रक्रिया में भाग ले पाते हैं। अतः जो चुन के आते हैं वे कुल मतों के बहुमत का प्रतिनिधित्व न कर केवल अल्पमत का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तरह वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत आमतौर पर अल्पमतीय सरकार बनती है।

जयप्रकाश नारायण आम चुनाव पद्धति के विरूद्ध इसलिए भी थे क्योंकि यह अत्यधिक खर्चीली होती है। इस व्यवस्था में पूँजीपतियों व श्रमिक संघों की इतनी गहन भूमिका होती है कि ऐसा लगता है चुनावों के द्वारा पूरी लोकतंत्रीय प्रणाली को इन हित समूहों के पास गिरवी रख दिया गया हो। यही कारण था कि जयप्रकाश नारायण ने आम चुनाव की व्यवस्था का विरोध किया तथा इस बात पर बल दिया कि कानून बनाने वाली विधानसभाएँ अस्थायी सदन न होकर एक स्थायी सदन हों, जिनकी एक निश्चित सदस्य संख्या का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के बाद हो, वे पूरे-के-पूरे सदन को आम चुनाव द्वारा बदले जाने की बात को अनुचित मानते थे, क्योंकि इसमें राजनीतिक शक्ति व संसाधनों के दुरूपयोग की संभावना अधिक रहती है और इसमें व्यक्तिगत व दलीय हितों को राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है, जो लोकतंत्रीय प्रणाली के लिए ठीक नहीं है।

तीसरे, जयप्रकाश नारायण के अनुसार संसदीय लोकतंत्र के संचालन में शक्ति का बहाव उल्टा होता है- अर्थात इसकी स्थिति एक उल्टे 'पिरामिड' की भाँति है जो अपने सिर के बल खड़ा है, जबकि इसे आधार के बल खडा़ होना चाहिए। ऐसे में, शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है, जो लोकतंत्र की मूल भावना के ही प्रतिकूल है।

इसके अतिरिक्त, जयप्रकाश नारायण ने राजनीतिक दलों के अस्तित्व को भी संसदीय लोकतंत्र के एक महत्वपूर्ण दोष के रूप में देखा तथा उसे लोकतंत्र की मूल भावना के विरूद्ध माना। उनके अनुसार राजनीतिक दलों का उदेद्श्य जनता की सेवा करना नहीं वरनसत्ता के ऊपर अपना अधिकार जमाना तथा दलीय व वर्गीय हितों की पूर्ति करना होता है। राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप से नैतिकता का ह्रास तथा बेईमानी, जोड़-तोड़ व भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। वोट प्राप्त करना इनका इनका एकमात्र उदेद्श्य होता है जिसके लिए वे अनैतिक साधनों का उपयोग करने से भी नहीं चूकते। महज अपना वोट बैंक बनाने के लिए वे जनता के आपसी मतभेदों को उभार कर जातिवाद, अलगाववाद, भाषावाद व प्रान्तीयवाद जैसे पृथकतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते हैं। इस तरह राजनीतिक दलों ने राजनीति के स्वरूप को काफी विकृत बना दिया है और नागरिकोंकी राजनीतिक शिक्षा का एक साधन बनने के बजाय उनकी कुशिक्षा का अवसर बन गया है। राजनीतिक दलों की इन्हीं

विसंगतियों व कुप्रभावों को देखते हुए जयप्रकाश नारायण ने विनाबा जी की भाँति राजनीतिक दल को समाज के विरूद्ध एक षडयंत्र माना और ’दलविहीन लोकतंत्र’ की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया।

इसलिए जयप्रकाश नारायण ने एक ऐसी राज-व्यवस्था की कल्पना की है जो सर्वोन्मुख व जनभिमुख हो तथा जो सामुदायिक समाज व विकेन्द्रीकरण पर आधारित हो। इस परिप्रेक्ष्य में वे सर्वप्रथम वर्तमान राज-व्यवस्था या संसदीय लोकतंत्र की दुर्बलताओं को स्पष्ट करते हैं तत्पश्चात अपने सुझाव प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि जयप्रकाश नारायण की एक सच्चे संसदीय लोकतंत्र में गहरी निष्ठा थी और वे इस प्रणाली को एक अच्छी व प्रभावोत्पादक शासन-प्रणाली मानते थे, क्योंकि इसमें चुनौती व परिवर्तन की संभावनाएँ सदैव बनी रहती है, तथापि वे वर्तमान संसदीय लोकतंत्र को पुनर्गठित कर उसे सामुदायिक समाज व विकेन्द्रीकरण पर आधारित करना चाहते थे।

14.6 नवीन राजनीतिक व्यवस्था एवं दलविहीन प्रजातंत्र

जयप्रकाश नारायण ने केवल वर्तमान शासन-प्रणाली या संसदीय लोकतंत्र की कमजोरियों व दोषों की ओर ही संकेत नहीं किया, बल्कि उनको दूर करने के लिए नई राजनीतिक-व्यवस्था जो मुख्यतः एक विकेन्द्रीकृत एवं दल विहीन लोकतंत्र का प्रारूप है, की योजना भी प्रस्तुत की। इसे कुछ लोगों ने ’सहभागी लोकतंत्र’ भी कहा है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार इस नयी राजनीति व्यवस्था में शासन की पहली व सर्वोच्च इकाई ’ग्रामसभा’ होगी जिसमें संबंधित गाँवों के सभी वयस्क सदस्य माने जाएँगे तथा जो इस स्तर पर सत्ता व संसाधनों का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करेंगे। दिन प्रतिदिन के कार्यो के निर्वहन के लिए वे मतैक्य के आधार पर अथवा पर्ची डालकर एक कार्यकारिणी की स्थापना करेंगे जिसे ’ग्राम पंचायत’ कहा जायेगा। ग्राम पंचायत के सदस्य सर्वसम्मति व निर्दलीयता के आधार पर एक निश्चित अवधि के लिए चुने जायेंगे। इनमें से कोई दुबारा उसी पद के लिए नहीं चुना जायेगा। इससे अन्य लोगों को भी शासन-व्यवस्था में भागीदारी करने के अवसर प्राप्त होंगे। ग्राम पंचायत का मूलभूत कार्य लोगों की रोटी, कपड़ा, मकान, प्राथमिक शिक्षा तथा प्राथमिक चिकित्सा प्रदान करना होगा। इसके अलावा, यह गाँव से बेरोजगारी व निरक्षरता दूर करने, न्यूनतम जीवन स्तर पर सुनिश्चित करने तथा सत्ता व संसाधनों के केन्द्रीकरण को रोकने आदि का भरसक प्रयत्न करेगी।

नयी शासन-व्यवस्था की दूसरी इकाई ’पंचायत समिति’ होगी जो संनग्न ग्राम पंचायतों का एक क्षेत्रीय संगठन होगा, जिसके सदस्य ग्राम पंचायतों द्वारा सर्वसम्मति व निर्दलीयता के आधार पर चुने जाएँगे। हर पंचायत समिति को अपने स्तर के सभी कार्यों को सम्पन्न करने की पर्याप्त शक्ति व संसाधन प्रस्त होंगे। शासन-व्यवस्था को तीसरी इकाई के रूप में ’जिला परिषद’ होगी जिसके सदस्यों का चुनाव संबंधित पंचायत समितियों द्वारा होगा न कि उसके सदस्यों के द्वारा व्यक्तिगत रूप से। उसके पास भी अपने कार्यों के संचालन के लिए पर्याप्त शक्ति व संसाधन उपलब्ध होंगे। इसी प्रकार चैथे स्तर पर विधान सभाएँ व पाँचवें स्तर पर लोकसभा होंगी। विधान सभाओं व लोकसभा के सदस्यों का चुनाव एक निर्वाचक मंडल करेगा जिसमें प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की ग्रामसभा को दो सदस्य चुनकर भेजने का अधिकार होगा यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह अधिकार ग्राम पंचायतों को नहीं है। यदि ’ग्राम सभा’ में केवल दो ही नाम प्रस्तावित हो तो वे स्वतः ही निर्वाचक मंडल के सदस्य बन जाएँगे। यदि दो से अधिक नाम प्रस्तावित कर दिये जाएँ तो सभी नामों को एक पटल पर लिखकर प्रत्येक के लिए अलग-अलग वोट लेकर उनके नामों के सामने लिख दिया जाए। इस प्रकार मतदानों की पुनरावृत्ति तब तक की जाये जब तक कि दो उम्मीदवारों के अतिरिक्त शेष सब के नाम निकल न जायें। एक मतदान में सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार का नाम छोड़ दिया जाये और शेष के लिए फिर मतदान कराया जाये। मतदान हाथ उठाकर किया जायेगा और वोट प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का

कोई प्रचार नहीं किया जायेगा। इस प्रकार, निर्वाचक मंडल का निर्माण हो जाने पर वह राज्यों व केन्द्र के स्तरों पर विधानमंडलों को चुनेगा। इस प्रकार, यह पाँच स्तरीय व्यवस्था ग्राम सभा के स्थानीय स्तर से शुरू होकर राष्ट्रीय स्तर तक जाएगी और उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ ऐसी ही विकेन्द्रकृत संघात्मक व्यवस्था होगी। जयप्रकाश नारायण ने इस योजना को स्तरीय सामाजिक संगठन का ऐसा सामाजिक प्रयोग माना है, जो मानव को स्वशासित समुदाय के अन्तर्गत संगठित कर स्वशासन का अवसर प्रदान करता है। वस्तुतः यह लोकतंत्र का वह आदर्श प्रारूप है जो मानव को आधुनिक सभ्यता के ’यांत्रिक-मानव’ से बचा सकता है।

जयप्रकाश नारायण का यह मानना था कि यदि भारत में ऐसी संसदीय लोकतंत्र की स्थापना होती है तो स्वशासन की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा। जैसे-जैसे यह भावना बढ़ेगी, लोक सेवक या तो संबंधित विधायिकाओं के प्रति उत्तरदायी हो जाएँगे अथवा अनावश्यक हो जाएँगे। जब राजनीतिक सत्ता व आर्थिक संसाधनों का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होगा तो लोगों में अधिकाधिक आत्मनिर्भरता की भावना जगेगी और लोग स्वयं ही प्रत्यक्ष रूप से या संबंधित संस्थाओं के द्वारा अपने सभी कार्यों का कार्यान्वयन कर पायेंगे और ऐसी स्थिति में लोकसेवकों की प्रथा ही समाप्त हो जायेगी।

14.7 नवीन आर्थिक व्यवस्था

जयप्रकाश नारायण ने राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को बिल्कुल स्पष्ट किया है। उन्होंने जिस राजनीतिक व्यवस्था का प्रारूप ऊपर प्रस्तुत किया है, उसका आधार विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था ही हो सकती है। उनकी मान्यता थी कि यदि गाँवों को राजनीतिक रूप से स्व-शासक बनाना है तो उनको आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर बनना होगा। इसके लिए राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण लाना होगा। केवल अर्थव्यवस्थाही नहीं, स्वामित्व का भी विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, केवल उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से एशिया के देशों में समाजवाद नहीं लाया जा सकता। वस्तुतः जयप्रकाश नारायण जिस अर्थव्यवस्था की अनुमोदन करते हैं, वह सीमित आवश्यकताओं से सिद्धान्त पर आधारित है, जबकि मौजूदा अर्थव्यवस्था असीमित आवश्यकताओं पर आधारित है। उनके अनुसार, ’यदि मनुष्य सही अर्थों में अपनी स्वतंत्रता तथा स्वशासन का उपभोग करना चाहता है, तो उसे उपनी आवश्यकताओं को कम करना सीखना ही होगा।’

जयप्रकाश नारायण आर्थिक क्षेत्रों व संसाधनों के अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण को नवीन अर्थव्यवस्था के लिए परमावश्यक मानते थे। उनके अनुसार वर्तमान आर्थिक केन्द्रीकरण बड़े पैमाने पर औद्योगिकरण का परिणाम है। इसलिए आर्थिक विकेन्द्रीकरण के लिए यह आवश्यक है कि बड़े पैमाने पर घरेलु कुटीर व छोटे उद्योगों को स्थापित किया जाये। जिनका चरित्र बड़े उद्योगों की तरह प्रतिद्वन्द्वात्मक व शोषणात्मक न होकर सहयोगी व सहकारी होगा। इस प्रकार की नई अर्थ-व्यवस्था में पूँजी व श्रम के बीच संघर्ष व वर्ग संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं होगा। ऐसी आर्थिक व्यवस्था सबके समान कल्याण और समस्त समाज के संतुलित विकास के लिए कार्य करेगी तथा अधिकाधिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहेगी।

जयप्रकाश की नवीन आर्थिक व्यवस्था की योजना में ’नियोजित विकास’ को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है जिसकी शरूआत गाँव से होगी। सभी सम्बद्ध गाँवों को मिलाकर एक क्षेत्रीय योजना, सभी सम्बद्ध क्षेत्रों को मिलाकर जिला स्तरीय योजना तथा इसी प्रकार सभी जिलों को मिलाकर प्रदेश स्तरीय योजना तथा अन्ततः राष्ट्रीय स्तर की योजना बनायी जायेगी। योजनाबद्ध विकास का उद्देश्य मुख्यतः लोगों के लिए रोजगार के अवसर पैदा करना, काम के अधिकतम व न्यूनतम घंटे निश्चित करना तथा लोगों के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक दशाएँ तैयार करना होगा।

वास्तव में, जयप्रकाश नारायण ने जिस नवीन अर्थ-व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की है उसका संबंध विकेन्द्रीकृत उद्योग व्यवस्था से है जिसका स्वरूप केन्द्रकृत उद्योग व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न होगा। ऐसी अर्थव्यवस्था मात्र खादी अर्थव्यवस्था नहीं होगी, बल्कि एक अधिक आधुनिक प्रकार की अर्थव्यवस्था होगी जो कि आज कदाचित कहीं भी नहीं पायी जाती और जिसकी स्थापना के लिए नवीन मशीनों तथा नवीन आर्थिक पद्धतियों की आवश्यकता होगी। यह नवीन अर्थव्यवस्था नियोजित विकास के लिए कार्य करेगी। इसमें नियोजन नीचे से ऊपर की ओर होगा, न कि मौजूदा सरकारी नियोजन की तरह ऊपर से नीचे की ओर।

14.8 सर्वोदयी समाजवाद

जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय की अवधारणा के चिंतन व विकास में विशेष योगदान दिया है। महात्मा गांधी व विनाबा जी की तरह जयप्रकाश नारायण ने भी सर्वोदय को लोकतांत्रिक समाजवाद का चरम आदर्श माना और 'बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त को बेंथम व मिल जैसे उपयोगितावादियों के 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' के सिद्धान्त से श्रेष्ठ समझा। जयप्रकाश नारायण राजनीतिक शक्ति के स्थान पर लोकशक्ति की स्थापना को अधिक महत्व देते हैं। इस सर्वोदयी विचारक की यह मान्यता उन्हें साम्यवादियों व समाजवादियों से ठीक विपरीत स्थिति में प्रस्तुत करती है। क्योंकि समाजवादियों व साम्यवादियों ने सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन के संघर्ष में राजनीतिक शक्ति को एक महत्वपूर्ण तत्व माना है। उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ही सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों, जमींदारों व शोषक तत्वों का सफाया कर सकते हैं। किन्तु जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय की अवधारणा के प्रतिपादन में लोक शक्ति के महत्व को काफी अहिमयत दी है। उनके अनुसार जन इच्छा की सकारात्मक व नकारात्मक अभिव्यक्ति पर ही सर्वोदय की सफलता निर्भर है। इसी परिप्रेक्ष्य में सर्वोदयवादियों ने लोकशक्ति को जागृत करने के उदेद्श्य से निःस्वार्थ भावना से युक्त कार्यकत्राओं की टोलियाँ तैयार की, जो जनसमुदायों में विचरण करती हुई उन्हें स्वलंबन एवं स्वशासन का नव-जीवन प्राप्त कराने में सहायक हो सके। इस प्रकार, जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय संबंधी विचार ग्राम-स्वराज, विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलंबन का महत्व स्पष्ट करते हुए एक नवीन सामाजिक व आर्थिक क्रांति की ओर संकेत करते हैं।

उनका सर्वोदय को सामाजिक दर्शन मानते हुए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें राज्य का हस्तक्षेप कम से कम हो, राजनीति के स्थान पर लोकनीति तथा राज्य शक्ति के स्थान पर लोकशक्ति का बोलबाला हो। सर्वोदयी समाजवाद जिसे वे लोकतांत्रिक समाजवाद मानते हैं, एक ऐसा समाज होगा जिसमें न केवल स्वतंत्रता, न्याय व समता के अवसर प्राप्त होंगे बल्कि इसमें एक ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था होगी जो व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधारित होगी जिसमें व्यक्ति अपनी शासन-व्यवस्था का निर्माता स्वयं होगा। यह व्यवस्था पूरी तरह विकेन्द्रित होगी जिसमें अधिकाधिक सत्ता व संसाधन शासन की प्राथमिक इकाई ग्राम सभा के पास होंगे जो लोगों के ज्यादा करीब होगी, जिन पर उनका प्रत्यक्ष नियंत्रण निरन्तर बना रहेगा। यद्यपि सर्वोदयी समाज शहर व गाँवों के लिए समान रूप से है, फिर भी इसमें गाँवों पर इसलिए ज्यादा बल दिया गया है कि भारत के तकरीबन 70 प्रतिशत लोग ग्रामीण इलाकों में रहते हैं।

इतना ही नहीं, सर्वोदयी समाजवाद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था होगी जिसमें जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होगा और न ही किसी प्रकार का शोषण होगा। केन्द्रीय सरकार के पास पंचायतों की तुलना मे सत्ता व संसाधन कम होंगे जिससे उसकी निरंकुशता में कमी आयेगी। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में दलगत राजनीति के लिए कोई स्थान न होगा क्योंकि यह सत्ता व सत्ताधारी दोनों को समान रूप से भ्रष्ट करती, और न ही किसी प्रकार की संगठित व असंगठित हिंसा के लिए ही कोई स्थान होगा, क्योंकि हिंसा, हिंसा को बढ़ाती है और मानवता का हनन करती है। वस्तुतः सर्वोदय की मान्यता ही शक्ति के

विरोध पर आधारित है। गांधी जी के आध्यात्मिक अराजकतावाद या रामराज्य की कल्पना में राज्य की आवश्यकता महसूस नहीं की गई। किन्तु जयप्रकाश नारायण ने राज्य के लोप हो जाने की बात को असंभव माना। उनकी मान्यता थी कि राज्य पूर्णतया विलुप्त नहीं हो सकता, अतः राज्य के कम से कम हस्तक्षेप के कामना करनी चाहिए। इस तरह गाँधी जी के समान जयप्रकाश नारायण ने भी इस बात को स्वीकार किया कि वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।

सर्वोदय की मान्यताओं के आधार पर ही विनाबा भावे भू-दान तथा ग्राम दान, जिसमें साधन दान, बुद्धिदान, श्रमदान, प्रेमदान, आदि भी सम्मिलित हैं, आंदोलन की शुरूआत की थी। यहाँ दान का अभिप्राय मानसिक, आध्यात्मिक व भौतिक उपलब्धियाँ व संसाधनों के उस भाग के दान से है, जो अपने व अपने आश्रितों के जीवन निर्वहन के बाद लोगों के पास शेष बच जाते हैं। ऐसे दान से समस्त समाज के कल्याण व विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। जयप्रकाश नारायण ने अपने अंतिम चरण में विनाबा भावे के दान आंदोलन को न सिर्फ आगे बढ़ाया बल्कि उसमें 'संपत्ति दान' और 'जीवन दान' जोड़कर दोनों की श्रंखला को समग्र रूप प्रदान किया और एक कर्मठ जीवनदानी के रूप में उभर कर अपना सारा जीवन समाज सेवा में लगा दिया।

14.9 राष्ट्रवाद की अवधारणा

जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्रीय एकता को काफी महत्व दिया है। वह राष्ट्रवाद को भारत में पूर्णतः पुष्पित व पल्लवित होता देखना चाहते थे जैसा कि वह आधुनिक समय में पश्चिमी यूरोप में प्रकट हुआ। उनके अनुसार भारत न तो कभी राष्ट्र रहा था न आज ही एक राष्ट्र है। किसी भी देश में राष्ट्रीयता के विकास के लिए राष्ट्रीय चेतना की आवश्यकता होती है जिसका भारत में नितांत अभाव रहा है। राष्ट्रवाद के विकास के लिए एक उच्च सभ्यता के स्तर तक पहुँचना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रत्येक राष्ट्र के तीन निर्माणकारी तत्व होते हैं-

1. राष्ट्र की स्वयं की स्पष्ट भू-संपदा,
2. एक समान राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाली राजनीतिक एकता तथा
3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा अन्य राष्ट्रों द्वारा मान्यता प्राप्त पृथक संप्रभु राष्ट्र की स्थिति।

भारत आधुनिक अर्थो में कभी राष्ट्र नहीं रहा। यद्यपि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत में एकता थी, भारत नाम का एक प्रदेश था, उसकी स्पष्ट सीमाएँ थीं, किन्तु यह एकता आध्यात्मिक व सांस्कृतिक जनित थी, राष्ट्रवादी नहीं। राष्ट्रीय एकता के भाव का भान भारतीय लोगों को अंग्रेजी शासन स्थापित होने के पश्चात होने के पश्चात् हुआ। चूँकि राष्ट्रीय एकता थोपी हुई थी, इसलिए इसके माध्यम से राष्ट्रवाद की स्थापना नहीं हो सकती थी। यह सच है कि उग्र ब्रिटिश राष्ट्रवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ, किन्तु दुर्भाग्य से यह इतना शक्तिशाली नहीं था कि भारत को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक राष्ट्रीयता में बाँध सकता। फलतः भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के समय जिन्ना के 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' ने एक नवीन राष्ट्रीयता के विचार के रूप में इसे चुनौती थी। परिणामस्वरूप भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान के रूप में एक अलग राष्ट्र बना। अगर हमें सच्चे अर्थों में भारत राष्ट्र की स्थापना करनी है तो यह कार्य राष्ट्रीय चेतना के विकास के बगैर सम्भव नहीं है। यदि राष्ट्रीय चेतना को राष्ट्रवाद का आधार माना जाये तो भारत को अभी अनेक कठिन परीक्षाओं से गुजरना है। केवल प्रादेशिक एकता से राष्ट्र की स्थापना नहीं होती। इसके लिए भावात्मक एकता की आवश्यकता होती है। इसउद्देश्यकी पूर्ति एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना से ही हो सकती है। जयप्रकाश नारायण ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त व भारत विभाजन का घोर विरोध किया था। उनके अनुसार आज प्रत्येक राष्ट्र बहुराष्ट्रीय राज्य है। मिश्रित व 'समन्वित राष्ट्रवाद' की आधुनिक विश्व की समस्याओं का समाधान ढँढ सकता है। इस प्रकार जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्रवाद के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह है- 'समन्वित राष्ट्रवाद' का सिद्धान्त। उनका समन्वित राष्ट्रवाद का दृष्टिकोण मुख्यतः दो परिस्थितियों पर आधारित है- एक तो उसका पूर्ण

धर्मनिरपेक्ष आधार और दूसरा उसमें जनता को आवश्यकताओं तथा भावनाओं के अनुरूप राष्ट्र की राजनीति। इन दोनों आदर्शों के पश्चात् ही व्यक्ति राष्ट्रीय विकास का आभास प्राप्त कर सकता है।

चूँकि सही अर्थों में राष्ट्र का निर्माण जनजागरण व राष्ट्रीय चेतना के विकास के बिना संभव नहीं है, इसलिए देश के दो महान विभूतियों रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी ने हमारे समक्ष जिस राष्ट्रवाद का चित्र प्रस्तुत किया है, वह इस संदर्भ में अधिक कारगर हो सकता है। क्योंकि उनकी राष्ट्रवाद की अवधारणा आत्मा की उस एकता पद आधारित है जिसके द्वारा समस्त मानव जाति व्यक्तियों के एक राष्ट्र के अन्तर्गत आ जाती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गाँधी जी ने संकीर्ण राष्ट्रवाद जो कि मुख्यतः आक्रमक राष्ट्रवाद है, का विरोध कर जिस विश्व बंधुत्व की बात कही है, वही वास्तविक राष्ट्रवाद है। वस्तुतः जयप्रकाश नारायण न समन्वित राष्ट्रवाद के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गाँधी जी की राष्ट्रवाद की अवधारणा की गहरी छाप है।

14.**10 साधन और साध्य**

मोहन दस करम चन्द गाँधी की तरह हीं जयप्रकाश नारायण ने साधन एवं साध्य की पवित्रता पर बल दिया है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार यदि साधन पवित्र होगा तो ही अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति होगी। समाजवाद की स्थापना हेतु अच्छे साधन सर्वोपरि हैं। जयप्रकाश नारायण ने राजनीतिक दलों के अस्तित्व को भी संसदीय लोकतंत्र के एक महत्वपूर्ण दोष के रूप में देखा तथा उसे लोकतंत्र की मूल भावना के विरूद्ध माना। उनके अनुसार राजनीतिक दलों का उदेद्श्य जनता की सेवा करना नहीं वरन् सत्ता के ऊपर अपना अधिकार जमाना तथा दलीय व वर्गीय हितों की पूर्ति करना होता है। राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप से नैतिकता का ह्रास तथा बेईमानी, जोड़-तोड़ व भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। वोट प्राप्त करना इनका इनका एकमात्र उदेद्श्य होता है जिसके लिए वे अनैतिक साधनों का उपयोग करने से भी नहीं चूकते। महज अपना वोट बैंक बनाने के लिए वे जनता के आपसी मतभेदों को उभार कर जातिवाद, अलगाववाद, भाषावाद व प्रान्तीयवाद जैसे पृथकतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते हैं। इस तरह राजनीतिक दलों ने राजनीति के स्वरूप को काफी विकृत बना दिया है और नागरिकोंकी राजनीतिक शिक्षा का एक साधन बनने के बजाय उनकी कुशिक्षा का अवसर बन गया है। राजनीतिक दलों की इन्हीं विसंगतियों व कुप्रभावों को देखते हुए जयप्रकाश नारायण ने विनाबा जी की भाँति राजनीतिक दल को समाज के विरूद्ध एक षडयंत्र माना और 'दलविहीन लोकतंत्र' की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया।

सर्वोदयी समाजवाद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था होगी जिसमें जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होगा और न ही किसी प्रकार का शोषण होगा। केन्द्रीय सरकार के पास पंचायतों की तुलना मे सत्ता व संसाधन कम होंगे जिससे उसकी निरंकुशता में कमी आयेगी। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में दलगत राजनीति के लिए कोई स्थान न होगा क्योंकि यह सत्ता व सत्ताधारी दोनों को समान रूप से भ्रष्ट करती, और न ही किसी प्रकार की संगठित व असंगठित हिंसा के लिए ही कोई स्थान होगा, क्योंकि हिंसा, हिंसा को बढ़ाती है और मानवता का हनन करती है। वस्तुतः सर्वोदय की मान्यता ही शक्ति के विरोध पर आधारित है। गांधी जी के आध्यात्मिक अराजकतावाद या रामराज्य की कल्पना में राज्य की आवश्यकता महसूस नहीं की गई। किन्तु जयप्रकाश नारायण ने राज्य के लोप हो जाने की बात को असंभव माना। उनकी मान्यता थी कि राज्य पूर्णतया विलुप्त नहीं हो सकता, अतः राज्य के कम से कम हस्तक्षेप के कामना करनी चाहिए। इस तरह गाँधी जी के समान जयप्रकाश नारायण ने भी इस बात को स्वीकार किया कि वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।

14.**11 सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा**

सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप और सीमाक्षेत्र की परिभाषा देने के लिए जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति का विचार प्रस्तुत किया । उन्होंने संकेत किया कि सोवियत संघ में समाजवाद 'सत्तारूढ़ गुटों के बीच शक्ति के संघर्ष' में बदल गया है । इस विकृत और भ्रष्ट समाजवाद ने वहाँ राजनीतिक शक्ति के भारी जमाव के साथ-साथ आर्थिक शक्ति को भी एक ही जगह केंद्रित कर दिया है । सम्पूर्ण क्रान्ति जयप्रकाश नारायण का विचार व नारा था जिसका आह्वान उन्होने इंदिरा गांधी की सत्ता को उखाड़ फेकने के लिये किया था। लोकनायक नें कहा कि सम्पूर्ण क्रांति में सात क्रांतियाँ शामिल है - राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, शैक्षणिक व आध्यात्मिक क्रांति। इन सातों क्रांतियों को मिलाकर सम्पूर्ण क्रान्ति होती है। पटना के ऐतिहासिक गांधी मैदान में जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति का आहवान किया था। मैदान में उपस्थित लाखों लोगों ने जात-पात, तिलक, दहेज और भेद-भाव छोड़ने का संकल्प लिया था। उसी मैदान में हजारों-हजार ने अपने जनेऊ तोड़ दिये थे। नारा गूंजा था:

जात-पात तोड़ दो, तिलक-दहेज छोड़ दो।

समाज के प्रवाह को नयी दिशा में मोड़ दो।

सम्पूर्ण क्रांति की तपिश इतनी भयानक थी कि केन्द्र में कांग्रेस को सत्ता से हाथ धोना पड़ गया था। जय प्रकाश नारायण जिनकी हुंकार पर नौजवानों का जत्था सड़कों पर निकल पड़ता था। बिहार से उठी सम्पूर्ण क्रांति की चिंगारी देश के कोने-कोने में आग बनकर भड़क उठी थी। जेपी के नाम से मशहूर जयप्रकाश नारायण घर-घर में क्रांति का पर्याय बन चुके थे। लालू यादव, नीतीश कुमार, रामविलास पासवान और सुशील कुमार मोदी, आज के सारे नेता उसी छात्र युवा संघर्ष वाहिनी का हिस्सा थे। पाँच जून 1974 के पहले छात्रों - युवकों की कुछ तात्कालिक मांगें थीं, जिन्हें कोई भी सरकार जिद न करती तो आसानी से मान सकती थी। लेकिन पाँच जून 1974 को जे॰ पी॰ ने घोषणा की— "भ्रष्टाचार मिटाना, बेरोजगारी दूर करना, शिक्षा में क्रांति लाना, आदि ऐसी चीजें हैं जो आज की व्यवस्था से पूरी नहीं हो सकतीं; क्योंकि वे इस व्यवस्था की ही उपज हैं। वे तभी पूरी हो सकती हैं जब सम्पूर्ण व्यवस्था बदल दी जाए और सम्पूर्ण व्यवस्था के परिवर्तन के लिए क्रान्ति, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' आवश्यक है।"

समाजवाद के नाम पर 'सर्वाधिकारवाद' का यह घिनौना रूप हमें यह चेतावनी देता है कि 'लोकतंत्रीय समाजवाद' को सार्थक करने के लिए आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीकरण और स्थानांतरण सर्वथा आवश्यक है । संपूर्ण क्रांति की संकल्पना यह व्यक्त करती है कि केवल शासन-व्यवस्था को बदल देने या एक सरकार की जगह दूसरी सरकार स्थापित कर देने से समाज का उद्धार नहीं होगा ।इसके लिए संपूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलना होगा; आर्थिक विषमता और सामाजिक भेदभाव को जड़ से मिटाना होगा, इस परिवर्तन को गति देने के लिए जयप्रकाशजी ने युवा-शक्ति का आन किया जिसे जन-शक्ति को अपने साथ लेकर राज्य-शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करना होगा ।

समाजवाद को मानवता के उद्धार का साधन बनाने के लिए जयप्रकाशजी ने विश्व समुदाय के संगठन का सुझाव दिया क्योंकि यही व्यवस्था-विशेषतः एशिया और अफ्रीका के उत्पीडित वर्गों को संगठित सैन्यवाद और सर्वाधिकारवाद के विनाशकारी प्रभाव से मुक्त करके न्याय दिला सकती है, और परस्पर-विरोधी शक्ति गुटों में बँटे हुए विश्व में शांति और सुरक्षा स्थापित कर सकती है ।

अभ्यास प्रश्न

6. लोकनायक किसे कहा जाता है ?
7. जय प्रकाश नारायण का जन्म स्थान क्या है ?
8. सम्पूर्ण क्रांति का नारा किसने दिया ?

9. भारत में प्रथम गैर कांग्रेसी सरकार कब बनी ?

10. सम्पूर्ण क्रांति का आह्वान किस शहर से हुआ ?

14.12 सारांश

जयप्रकाश नारायण भारत के समाजवादी आंदोलन के महत्वपूर्ण स्तंभ रहे हैं। उन्होंने समाजवादी विचारधारा का प्रयोग एक ओर जनसाधारण को साम्राज्यवादी आधिपत्य से स्वाधीनता दिलाने के लिए और दूसरी ओर उन्हें सामंतवादी शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए किया। अतः उन्होंने समाजवाद के अस्त्र को भारत के स्वाधीनता संग्राम और सामजिक क्रांति- इन दोनों मोर्चों पर प्रयोग के लिए उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया परंतु इन प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देने के लिए जिस स्वच्छ और त्यागमय राजनीति की आवश्यकता है, वर्तमान व्यवस्था से उसकी आशा करना सचमुच कठिन है।

14.13 शब्दावली

मार्क्सवाद - कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ,

सर्वोदय – समाज के सभी व्यक्तियों के कल्याण पर आधारित विचारधारा ,

ढ़ांचा - संरचना

सम्पूर्ण क्रांति – व्यवस्था में व्यापक आधार पर पूर्ण परिवर्तन , जय प्रकाश नारायण का एक सिद्धान्त ।

14.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. जय प्रकाश नारायण 2. सिताब दियारा 3. जय प्रकाश नारायण 4. 1977 5. पटना

14.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उमा शंकर वर्मा , 2012, *युगपुरुष जय प्रकाश नारायण* , प्रभात प्रकाशन , दिल्ली .

2. जय प्रकाश नारायण , 1977, *प्रिजन डायरी* , पोपुलर प्रकाशन , दिल्ली .

3. वी.पी.वर्मा ,2000, *आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तक* , लक्ष्मी नारायण, आगरा .

14.16 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओ.पी.गाबा , 2012 ,*राजनीतिक चिन्तन की रुपरेखा* , मयूर पेपरबैक्स , नोएडा.

2. राजवीर सिंह , 2016, *जय प्रकाश नारायण* , पी.एम.पब्लिकेशन , नयी दिल्ली.

14.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. जय प्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन के मूल तत्वों का वर्णन कीजिए I
2. जय प्रकाश नारायण के नवीन राजनीतिक व्यवस्था एवं दलविहीन प्रजातंत्र सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कीजिए I
3. जय प्रकाश नारायण के नवीन आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिए।
4. सम्पूर्ण क्रांति क्या है ? विस्तार से वर्णन कीजिए।
5. जय प्रकाश नारायण के सर्वोदयी समाजवाद की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 15 आचार्य नरेन्द्रदेव (1889-1956)

इकाई की रुपरेखा

15.1 प्रस्तावना

आचार्य नरेन्द्रदेव का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जिसका परिवेष धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत था फिर भी उनके ऊपर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वे जीवन भर कट्टर मार्क्सवादी विष्वासों को सहेजते रहे तथापि के कट्टर मानव प्रेमी भी बने रहे। उन्होने अपना राजनीतिक जीवन बाल गंगाधर तिलक व अरविन्द घोष के अतिवादी राष्ट्रवाद के अनुयायी के रूप में आरम्भ किया था। 1904 ई. से ही उन्होने राजनीतिक कार्यो में रूचि लेना प्रारम्भ कर दिया था जिसका परिणाम रहा कि 1905 में वे दर्षक के रुप में कांग्रेस में शामिल हुए। इसी वर्ष घटित बंग-भंग (बंगाल विभाजन) की घटना ने उनमें अंग्रेजों की न्यायाप्रियता के प्रति अविष्वास की भावना उत्पन्न कर दी थी। इसीलिए जब 1931 मे गांधी जी द्वारा असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया गया तो आचार्य नरेन्द्रदेव न केवल उसमें शामिल हुए बल्कि गांधीजी के सरकार से असहयोग के आह्वान पर वे वकालत करना छोड़ दिये। 1934 ई0. में उन्होने 'अखिल भारतीय समाजवादी दल' के उद्धाटन सम्मेलन का सभापतित्व किया तो 1939 ई0 में उनके द्वारा किसान सभा के गया सम्मेलन की अध्यक्षता की गयी। रघुकुल तिलक के अनुसार उनके जीवन के दो ही आदर्ष थे- प्रथम षिक्षण कर्म तो द्वितीय राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए एक कर्मठ योद्धा बनना। प्रथम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होने गम्भीरता से बौद्ध धर्म केदर्शनका अध्ययन किया और पाली भाषा तथा प्राकृत के ज्ञान का अद्भुत पाण्डित्य प्राप्त किया तो द्वितीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होने समाजवादी दल एवं किसान सभाओं के माध्यम से राष्ट्र की आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्रयास किया। किसान आन्दोलनों में रुचि के कारण ही दो बार उन्हें अखिल भारतीय किसान सभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। जीवन पर्यन्त के अपनी लेखनी व कार्यो से समाजवादी चेतना तथा किसान आन्दोलनों को धार देते रहे जिसके कारण कई बार उन्हे जेल की हवा भी खानी पड़ी। आचार्य नरेन्द्रदेव को भारतीय समाजवादी चिन्तन का प्रणेता कहा जा सकता है।

23.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम-

1.भारत में समाजवादी चिन्तन की पृष्ठभूमि जान सकेगें।

2.आचार्य नरेन्द्रदेव के चिन्तन केदार्शनिकआधार के बारे में जान सकेगें।

3.आचार्य नरेन्द्रदेव के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों को समझ सकेगें।

4.आचार्य नरेन्द्रदेव के कृषक पुनर्निर्माण तथा ग्राम विकास की धारणा का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

5.आर्थिक विकास हेतु नियोजन के महत्व को समझ सकेगें।

6.आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवादी धारणा को जान सकेगें।

15.3 आचार्य नरेन्द्रदेव के चिन्तन कादार्शनिकआधार

आचार्य नरेन्द्रदेव ने उस समय राजनीति में रूचि लेना प्रारम्भ किया था जबकि लाल, बाल, पाल और अरविन्द घोष ने उग्रवादी राष्ट्रवाद की हुंकारदी थी इसलिए उनके चिन्तन पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उन पर अपने पिता का स्पष्ट प्रभाव अंकित था और भारतीय संस्कृति में भी उनकी घोर आस्था थी। एक समाजवादी चिन्तक के रुप में आचार्य नरेन्द्रदेव के ऊपर कार्ल मार्क्स के भौतिक द्वण्दवाद व वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव पड़ा यद्यपि उनके द्वारा द्वण्दात्मक भौतिकवाद के दर्शन की विषदव्याख्या नहीं की गयी फिर भी उन्होनें उसके सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा की। उनका कहना था कि वास्तविकता जटिल है किन्तु द्वण्दात्मक पद्धति वास्तविकता को उसके समग्र एवं जटिल रूप में समझने का प्रयत्न करती है। वे द्वण्दवाद के पद्धति की इस मान्यता से सहमत दिखायी देते हैं कि भौतिक जगत अर्थात विश्व एक प्रक्रिया है जिसमें अनवरत परिवर्तन होते रहते हैं। वे एक वैज्ञानिक समाजवादी होने का दावा करते थे।

भारतीय संस्कृति व गांधीवादी दर्शन का प्रभाव भी उनके ऊपर स्पष्ट दिखायी देता है। इसलिए उन्होने नैतिकता को समाजवाद का आधार बनाने का प्रयास किया। जिसके कारण उनको नैतिक समाजवादी भी कहा जाता है। नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता मेंविश्वासके कारण वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे। इसलिए उन्होने समाजवाद के मानवतावादी आधार का समर्थन किया। गॉधी जी के विचारों से प्रभावित होने के बावजूद वे उनके अहिंसा के सिद्धान्त को समग्र रुप से स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। आचार्य नरेन्द्रदेव पर बुखारिन की पुस्तक ष्भ्पेजवतपबंस ‘Historical Materialism’ (ऐतिहासिक भौतिकवाद) का भी प्रभाव पड़ा। उन्होने बुखारिन की वर्गो की कसौटी तथा विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। बुखारिन की भांति ही आचार्य नरेन्द्रदेव भी मानते थे कि समाज में पूँजीपतियों तथा सर्वहारा के अतिरिक्त अन्य वर्ग-मध्य वर्ग, संक्रमण वर्ग तथा मिश्रित वर्ग होते हैं। इसके अतिरिक्त लेनिन, मैजिनी, सिडनी बेव, ब्लंटश्ली और रोजा लक्जम वर्ग की रचनाओं ने भी उनके विचारों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। तत्कालीन समय की कई घटनाओ जैसे बंगाल का विभाजन, रुस पर जापान की विजय और सोवियत संघ की साम्यवादी क्रान्ति ने भी उनके चिन्तन पर प्रभाव डाला।

15.4 आचार्य नरेन्द्रदेव के राजनीतिक विचार

आचार्य नरेन्द्रदेव के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व समाजवाद था। इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए उन्होने कार्ल मार्क्स के समस्त चिन्तन का गम्भीर अध्ययन किया और उनके विचारों का समर्थन करते हुए समाजवादी धारणा को भारत में स्थापित करने की पुरजोर कोषिष की। आचार्य नरेन्द्रदेव अपने को वैज्ञानिक समाजवादी मानते थे। उनका कहना था कि ’’हमारे सामने जो काम हैं उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम समाजवाद के सिद्धान्तों एवं उद्देष्यों को अपने हृदय में उतार ले तथा परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वण्दात्मक पद्धति को समझें और उसे अपने क्रियाकलाप का आधार बनाने का प्रयत्न करें। इसके लिए हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए। विद्यमान सामाजिक व्यवस्था का क्रान्तिकारी रूपान्तर ही परिस्थितियों की आवश्यकता को पूरा कर सकता है उससे कम किसी चीज से काम नहीं चल सकता।’’

विश्व की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं हैं। इतिहास एक निरन्तर गतिमान प्रवाह तथा सामाजिक घटनाक्रम है। इसलिए इसे गत्यात्मक ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है। मार्क्स के इतिहास की भौतिक व्याख्या का समर्थन करते हुए उन्होने यह स्वीकार किया कि पूंजीवाद के विकास की सम्भावनाएं समाप्त हो चुकी हैं। अतः

मानव जाति को युद्ध की विभीषिका और आर्थिक संकट से बचाने के एक मात्र उपाय वैज्ञानिक समाजवाद को स्वीकार करना पड़ेगा। आचार्य नरेन्द्रदेव कार्ल मार्क्स के 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या को स्वीकार करते हैं इसलिए उस पर लगाये गये विभिन्न आरोपों का नकार दिया वे लिखते हैं ''मार्क्स की इतिहास की भौतिक व्याख्या को प्रायः गलत समझा जाता है। चूंकि इसदर्शनमें भौतिक शब्द का प्रयोग किया गया है अतः मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इस धारणा को भौतिकतावादी सिद्धान्त मान लिया जाता है। लोगो का यह भी कहना है कि मार्क्स भौतिक पदार्थ की उच्चता को स्थापित करता है और मानता है कि भौतिक पदार्थ ही इतिहास के निर्माता एवं नियोक्ता हैं, आध्यात्मिक मूल्य और विचार महत्वहीन हैं। इनका खण्डन करते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है कि मार्क्स इतिहास के विकास के कारकों में भौतिक पदार्थ तथा मानव मस्तिष्क दोनों की क्षमता को स्वीकार करता है। वास्तव में वह मनुष्य को ऐसा सक्रिय कर्ता मानता है जो जागृति की स्थिति में रहकर इतिहास की कायापलट कर देता है। कहने का आशय यह है कि इतिहास के निर्माण में आर्थिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं परन्तु इसका कदापि यह अर्थ नही है कि वे ही सर्वेसर्वा हैं। इस सबसे मार्क्स हमारा ध्यान इस तरफ आकृष्ट करता है कि कोई भी विचार इतिहास की धारा को तभी बदल सकता है जबकि वह तथ्यपरक हो। आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्स को मानववादी मानते हैं। नरेन्द्रदेव ने मार्क्स के 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' की जो व्याख्या की है। डॉ. वी.पी वर्मा उसे स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होने लिखा है कि मेरे विचार में नरेन्द्रदेव की धारणा सही नहीं है कि मार्क्स पदार्थ तथा मानवीय चेतना दोनों को समान महत्व देता था। मार्क्स के अनुसार भौतिक वास्तविकता तथा चेतना इस दोनों में से पहली वस्तु निसन्देह प्राथमिक तथा आधारभूत है। नरेन्द्रदेव की व्याख्या तो वस्तुतः मार्क्स के मूल सिद्धान्त का संशोधन है।

15.4.2 समाजवाद पर विचार

आचार्य नरेन्द्रदेव समाजवादी धारणा के प्रबल पोषक थे। इसलिए उन्हें सामाजिक असमान्ता स्वीकार्य नही थी। वे समाज में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समानता लाना चाहते थे। उन्होने भारतीय समाज के सम्बन्ध में कहा कि इसमें महान परिवर्तन होने वाले है परन्तु इस हेतु आदर्ष पथ-प्रदर्षन नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए आज नये नेतृत्व की आवश्यकता है, समाजवाद ही नया नेतृत्व प्रदान कर सकता है। जनता के विस्तृत एवं व्यापक हित पर आधारित यह सम्पूर्ण सामाजिक सिद्धान्त ही हमारा पथ-प्रदर्षन कर सकता है। जन जागरण तथा जनक्रान्ति की नीति ही समाज को समुचित विकास का साधन बना सकती है। समाजवाद केवल रोटी का सवाल नहीं है बल्कि यह तो मानव स्वतन्त्रता की कुंजी है। समाजवाद ही मनुष्य के मनुष्यत्व को समाज में प्रतिष्ठित कर सकता है। समाजवाद ही श्रेणी नैतिकता तथा मत्स्य न्याय के स्थान पर जन प्रधान नैतिकता एवं सामाजिक न्याय की स्थापना कर सकता है। समाजवाद ही स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व पर आधारित एक सुन्दर सबल संस्कृति की सृष्टि कर सकता है। ऐसी सभ्यता तथा संस्कृति की स्थापना केवल उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना करके नहीं की जा सकती बल्कि उसके लिए सामाजिक संरचना का पुनर्निर्माण समुचित रीति से करना होगा। मानव सम्मान एवं गरिमा की रक्षा के लिए नागरिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व पूर्ण प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था का होना आवश्यक है। सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की सृष्टि तभी सम्भव है जबकि उसके साधन भी सुन्दर एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित हो।उद्देश्यतथा साधन दोनों परस्पर सम्बद्ध तथा परस्पर निर्भर होते है और दोनों का अपना-अपना महत्व है।

यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यद्यपि आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवादी धारणा में आस्था रखते थे फिर भी वे मानवतावादी एवं नैतिक मूल्यों के विरोधी नहीं थे। जीवन के प्रजातान्त्रिक मूल्यों में उनकी घोर आस्था थी। अतः वे प्रजातान्त्रिक तरीके से समाजवाद के स्थापना की हिमायत करते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव ने समाजवाद के

मानववादी आधारों पर अधिक बल दिया है। वे फ्रांत्स मेहरिंग के इस मत को स्वीकार करते थे कि मार्क्स आधुनिक युग का प्रोमेंथियुस था, वह मानववादी उत्साह से अनुप्रेरित था और शोषित तथा संतप्ट मानवता के मुक्ति हेतु हर प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिए उद्यत था। मानववाद से सम्बद्ध होने के कारण मार्क्सवाद ने वर्तमान युग में एक प्रचण्ड क्रान्तिकारीदर्शनका रूप धारण कर लिया है। उसने करोड़ो लोगों को नयीदार्शनिकज्योति प्रदान की हे। आचार्य नरेन्द्रदेव ने उत्साह पूर्वक कहा कि मार्क्सवाद को क्रियान्वित करके एक नवीन समाज का निर्माण करना सम्भव है।

15.4.2 समाजवाद पर विचार

भारतीय किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की स्थिति अत्यन्त दयनीय तथा उनकी समस्याएं अत्यन्त विकट थी। वे गरीबी तथा भूखमरी से पीड़ित थे जिससे निजात दिलाने हेतु किसी क्रान्तिकारी योजना का निर्माण आवश्यक था। इसलिए आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारत के कृषक पुनर्निर्माण का समर्थन किया। वे स्टालिन के इस बात से पूर्णतया सहमत थे कि ''किसानों के विषाल समुदाय को समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित करना आवश्यक है।'' इसलिए उनका आग्रह था कि सभी प्रकार के किसानों की शक्तियों को एकजुट किया जाय। बहुसंख्यक किसानो कोदेशके समाजवादी पुनर्निर्माण की योजना से सम्बद्ध करने के लिए सहकारी समितियों को संगठित करना तथा उन्हे सुदृढ़ करना आवश्यक था। उनका मानना था कि किसानों की दयनीय स्थिति से निजात दिलाने के लिए आवश्यक है कि ऋण निरस्त कर दिये जाय तथा उनको कम व्याज पर ऋण की व्यवस्था की जाय। भूमि व्यवस्था का क्रान्तिकारी रुपान्तरण किया जाय इसके लिए आवश्यक है कि वास्तविक किसानों और राज्य के बीच के विचौलियों को समाप्त कर दिया जाय। नरेन्द्रदेव राष्ट्रीय समस्याओं को किसानों के वर्गगत दृष्टिकोण से देखने के लिए तैयार नही थे। इसलिए उन्होने कृषकवाद की निन्दा करते हुए भारतीय समाजवादियों को कृषकवाद के खतरों से आगाह करते हुए लिखा कि ''मैं इस स्थल पर एक और खतरे की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ और वह आसन्न खतरा है कृषकवाद का! इस दृष्टिकोण की सबसे बड़ी कमी यह रही है कि इसके अन्तर्गत हर समस्या को एक संकीर्ण एवं तंगदिली कृषक हितों से जोड़कर देखा जाता है। यह मान्यता इस आदर्ष से निसृत हुई है कि हमारी राज्य व्यवस्था की तरह यहाँ का आर्थिक विकास का कलेवर भी कृषक जीवन के रंगो से पूरित होगा। इन लोगों काविश्वासएक ऐसे कृषक जनतन्त्र में केन्द्रित है जो किसानों के स्वामित्व की जनतान्त्रिक व्यवस्था होगी। वास्तव में देखा जाय तो यह विचार धारा उस मध्यम कृषक की विचारधारा है जो कि 'पैटी बुर्जुवा' अर्थशास्त्र की मान्यता को आधार मानता है तथा आधुनिक विचारों से प्रभावित बना रहता है।

आचार्य नरेन्द्रदेव का मानना था कि कृषकवाद मध्यम कृषक की विचारधारा है जबकि हमें भूमिहीन कृषक मजदूरों का भी ध्यान रखना होगा। उन्हें यह भय भी था कि किसानवाद से ऐसा न हो कि नगरों एवं देहातों के बीच हानिकर संघर्ष उत्पन्न हो जाय। वे इस पक्ष में थे कि ग्रामीण विकास के लिए साक्षरता का होना आवश्यक है। साक्षरता से किसानों में जागरुकता बढ़ेगी जिससे किसानों एवं मजदूरों के मध्य दुराव को कम किया जा सकेगा। आचार्य नरेन्द्रदेव किसानों और मजदूरों दोनों को एक साथ जोड़कर प्रगति और आधुनिकता की दिषा में आगे ले जाना चाहते थे। वे एक ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहते थे जिससे गांवों में सहकारी व्यवस्था कायम हो सके और जो लोकतान्त्रिक ग्राम सरकार का मार्ग प्रशस्तकरें। आर.ए.प्रसाद के अनुसार आचार्य नरेन्द्रदेव भारत में एक विकेन्द्रित प्रजातान्त्रिक राज्य की स्थापना का प्रबल समर्थन करते थे। उनके अनुसार 'राज्य हर खेतिहर को विभिन्न प्रकार की सहायता देगा तथा विकेन्द्रित समाजवादी राज्य में सामान्य मतपत्र के आधार पर चुनी हुई पंचायते ही गांवो में राज्य की शक्ति की प्रमुख नियन्ता होगी।

15.4.4 साधनों की शुद्धता सम्बन्धी विचार

आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवाद में आस्था रखने के बावजूद इस बात पर जोर देते थे कि साध्य तभी पवित्र होगा जबकि उसे प्राप्त करने का साधन भी पवित्र हो। उनकी यह धारणा गांधी के करीब दिखायी देती है। 1948 में गांधी की मृत्यु पर उन्होने कहा 'वास्तव मे किसी भी जीवन का रास्ता जीवन में शान्ति, धर्म तथा सामाजिक-आध्यात्मिक पृष्ठों की स्थापना से जुड़ा हुआ है और हम इन मूल्यों के विरुद्ध अत्याचार, दुर्व्यवहार, घृणा तथा शत्रुता का वरण नहीं कर सकते हैं।'' उन्होने लिखा कि ''साधनों की शुद्धता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी की साध्यों की शुद्धता। बुरे रास्ते हमें कभी भी अच्छे लक्ष्यों तक नहीं पहुचा सकते। अतः हमारे लक्ष्य की प्राप्ति हमें तभी होगी जबकि हम जीवन व्यवहार में कुछ मूल्यों का कड़ाई के साथ पालन करते रहें।'' आचार्य नरेन्द्रदेव भौतिकवादी मूल्यों के बजाय नैतिक मूल्यों को विशेष महत्व देते थे। नैतिक मूल्यों को तार्किक समर्थन देने के लिए ही उन्होने हिन्दू तथा बौद्ध चिन्तन का गम्भीर अध्ययन किया। वे मार्क्सवादियों के इस धारणा से सहमत नहीं थे कि सषस्त्र विद्रोह ही समाजवाद को स्थापित करने का एकमात्र रास्ता है। उनके अनुसार लोकतान्त्रिक साधनों से भी समाजवाद की स्थापना की जा सकती है लेकिन लोकतान्त्रिक साधनों से उनका आशय कदापि यह नही था कि केवल संसदीय साधन (कानून निर्माण का मार्ग) ही अपनाया जाय। वे संसदीय साधनों के साथ-साथ अति संसदीय साधनो जैसे सत्याग्रह, हड़ताल और आम हड़ताल को भी अपनाने के पक्षधर थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्स में भी मानव तलाषते हुए नजर आते हैं क्योंकि वे जानते है कि मार्क्स और गांधी दोनों ही भिन्न रास्तों से चलते हुए एक नैतिक प्राणी को खोजने का प्रयास करते हैं जो स्वतन्त्रता का उपभोग कर अपने अन्दर छुपी अनन्त क्षमताओं को उजागर कर देता है।

15.4.5 आर्थिक नियोजन

आचार्य नरेन्द्रदेव भारत में योजनाबद्ध आर्थिक विकास के पक्षधर थे। उनका मानना था कि राष्ट्र का समुचित आर्थिक विकास तभी सम्भव है जबकि हम योजनाबद्ध तरीके से आर्थिक विकास के मार्ग पर चले अर्थात नियोजन को अपनाना हमारा लक्ष्य हो। सेवियत संघ में प्रचलित आर्थिक नियोजन पद्वति कीप्रशंसाकरते हुए उन्होने लिखा है ''विश्व में सेवियत संघ ही एक ऐसादेशहै जहाँ बेरोजगारी नहीं है। नियोजन विकास के व्यापक लाभों के प्रति सहमति तो अब पूंजीपति भी जताने लगे है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वे आर्थिक नियोजन का पक्षपोषण तो करते है परन्तु नियोजन के नाम पर सर्वाधिकारवाद का समर्थन नहीं करते हैं। आर्थिक नियोजन के माध्यम से समाज के लाखों ऐसे लोगों का कल्याण किया जा सकता है जो समाज में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों से पिछड़े हुए है और जिनके विकास के वगैर समाज को आदर्ष स्वरूप देना सम्भव नहीं है।

अभ्यास प्रश्न1

निर्देश- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखे।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. आचार्य नरेन्द्रदेव ने वकालत क्यों छोड़ दी थी ?

....
....

2. आचार्य नरेन्द्रदेव ने किस वर्ष 'अखिल भारतीय समाजवादी दल' के उद्घाटन सम्मेलन का सभापतित्व किया ?

(i) 1931 में (ii) 1934 में

(iii) 1942 में (iv) इनमें से कोई नहीं

....

3. इतिहास एक निरन्तर गतिमान प्रवाह तथा सामाजिक घटनाक्रम है।

(i) सत्य है (ii) असत्य है

4. आचार्य नरेन्द्रदेव नियोजन के पक्षधर वही थे ?

(i) सत्य है ii) असत्य है

15.4.6 राष्ट्रीय आन्दोलन तथा समाजवादी आन्दोलन सम्बन्धी धारणा

आचार्य नरेन्द्रदेव राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवादी आन्दोलन से जोड़कर उसे व्यापक बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होने अपनी पुस्तक Socialism and National Revolution और 'राष्ट्रीयता तथा समाजवाद' की रचना की। उन्होने लिखा कि देश में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक तीव्र गति से कार्य कर रही है जिसके परिणाम स्वरुप उच्च तथा मध्यम वर्ग के अधिकाधिक अंग राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक होते जा रहें हैं। यह राष्ट्रीय स्वाधीनता की दृष्टि से शुभ संकेत नही है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि उस एकता के लिए जिसका कोई आधार नहीं है विलाप करना छोड़ दे और उन तरीकों को ढूढ़ निकाले जिससे राष्ट्रीय संघर्ष जो अब तक प्रधानतः मध्य वर्ग का आन्दोलन रहा है अधिक तीव्र बनाया जा सके। मेरी भावना हे कि इसका एकमात्र उपाय यह है कि जन समुदाय को आर्थिक चेतना तथा वर्ग चेतना की बुनियाद पर संगठित करके राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापकता प्रदान की जा सकती है। प्रचार और संगठन ही ऐसे दो साधन है जिसके द्वारा किसी वर्ग को आत्म सचेत बनाया जा सकता है। उनका कहना था कि जनसमुदाय को क्रियाषील बनाने तथादेशको लोकतन्त्र के लिए तैयार करने का एक मात्र उपाय यह है कि किसी लोकहितकारी आर्थिक विचारधारा को अंगीकार करके राष्ट्रीय संग्राम का समाजीकरण किया जाय। आवश्यकता इस बात की है कि समाज के वर्गीय संरचना को दृष्टिगत रखकर हमें ऐसी रणनीति बनानी पड़ेगी जिससे लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय हो। उनका कहना था कि जनसाधारण प्राकृतिक अधिकारों की किसी धारणा या लोक प्रभुत्व के किसी सिद्धान्त से आकृष्ट नहीं हो सकता। इसलिए उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ने का सबसे सरल उपाय यही है कि उनमें वर्गीय चेतना जागृत की जाय और आर्थिक हितो की भाषा बोलकर उनको वैचारिक रूप से एकजुट किया जाय। उन्होने समाजवादियों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़ने की सलाह दी और कहा कि यदि समाजवादियों ने अपने कोदेशमें चल रहे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से पृथक रखा तो उनका यह कार्य आत्म हत्या करने के समान होगा। वे स्वतन्त्रता आन्दोलन को अत्यधिक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होने समाजवादियों से कहा कि एक औपनिवेशिकदेशके लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता समाजवाद के मार्ग में एक अपरिहार्य अवस्था है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति उनके लगाव का ही प्रतिफल था कि जब 1942 में कांग्रेस ने भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रस्ताव पारित किया तो उन्होने उसका समर्थन करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव स्वतन्त्रता के समाजिक पहलू की व्याख्या करता है। यह खेतो तथा कारखानों की सम्पूर्ण शक्ति को श्रमिक वर्ग में निहित करना चाहता है। उनकी दृष्टि में इस प्रस्ताव काउद्देश्यजनसाधारण की सर्वोच्चता स्थापित करना था। वे चाहते थे कि जनसमुदाय की क्रान्तिकारी भावना को तीव्र किया जाय जिससे उसका उपयोग स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किया जा सके। स्वयं उन्होने जनता को क्रान्तिकारी कार्यवाही के लिए उत्तेजित करने के लिए कार्य भी किया। उनका कहना था कि 18वी सदी में पष्चिमी यूरोप के सामाजिक तथा आर्थिक मुक्ति हेतु जो कार्य वहां के पूंजीपतियों ने किया वही कार्य

भारत में शोषित जनता के संगठनों द्वारा किया जाना चाहिए। भारत में ब्रिटिष साम्राज्यवाद देषी राजाओं, जमींदारों और पूँजीपतियों की सहायता से अपनी जड़े मजबूत कर रहा है। इस प्रकार शोषण की व्यवस्था के स्तम्भों को दृढ़ बनाया जा रहा था। पूंजीपतियों ने भी जमीदारों के साथ समझौता कर लिया था। प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियो के इन गठबन्धनों ने शोषित जनता के कार्य को और भी अधिक दुरुह बना दिया था। उसेदेशकी राजनीतिक तथा आर्थिक दोनो प्रकार की मुक्ति के लिए संघर्ष करना था। ऐसी स्थिति में औद्योगिक मजदूरों, किसानों तथा निम्न मध्यम वर्गीय लोगों द्वारा संयुक्त मोर्चा बनाया जाना आवश्यक हो गया था। इस प्रकार आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष सफलता की अधिक आषा के साथ चलाया जा सकता था। नरेन्द्रदेव श्रमिक वर्ग को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की अग्रगामी टुकड़ी तथा किसानों एवं बुद्धजीवियों को उसका सहायक मानते थे। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की मुक्ति के लिए संघर्ष है। अतः उन्होने देश के मजदूरों, किसानों और निम्न मध्यम वर्ग को संगठित कर स्वतन्त्रता आन्दोलन के आधार को व्यापक बनाने पर बल दिया। उनकी दृष्टि में भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के आधार को व्यापक बनाने के लिए जनता में रचनात्मक कार्यो का किया जाना भी आवश्यक है। उन्हें आषा थी कि द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त संसार में अनेक जनक्रान्तियां होगी जो समाजवाद की स्थापना व राष्ट्रों को स्वाधीनता दिलाने में मील का पत्थर सिद्ध होगी। उन्होने माना कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अर्थात शोषक राष्ट्र से मुक्ति प्राप्त किये बिना समाजवाद के स्थापना की बात करना आकाष कुसुम के समान होगा। इसलिए समाजवादी आन्दोलन से जुड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति एवं संगठन का यह दायित्व है कि वह स्वाधीनता आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा ले।

15.4.7 आम हड़ताल सम्बन्धी विचार

आचार्य नरेन्द्रदेव आम हड़ताल के सम्बन्ध में जार्ज सोरेल द्वारा प्रतिपादित श्रम संघवादी सिद्धान्त से प्रभावित थे। उन्हेविश्वासथा कि आम हड़ताल भावनात्मक विचारधारात्मक तथा कार्यनीतिक तीनों ही दृष्टियों से लाभदायक है। उनके अनुसार आम हड़ताल के दो परिणाम होगें-प्रथम उससे देशकी अर्थव्यवस्था पूर्णतः जर्जर हो जायेगी जिससे विदेशीशोषकदेशभाग जायेगें। द्वितीय आम हड़ताल को सफलता पूर्वक संगठित करने से जनता में प्रचण्ड शक्ति का उदय होगा जो सामाजिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करेगा। उन्होने कहा ''रुस के विपरीत भारत में अभी तक हड़ताल के श्रमजीवी अस्त्र को जनसमुदाय के लिए संकेत के रुप में प्रयुक्त नहीं किया गया है किन्तु श्रमिक वर्ग अपने राजनीतिक प्रभाव को तभी बढ़ा सकता है जबकि वह राष्ट्रीय संघर्ष में आम हड़ताल का प्रयोग करके निम्न मध्य वर्ग को हड़ताल की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से अवगत करा दे। आम हड़ताल सम्बन्धी आचार्य नरेन्द्रदेव की यह धारणा महात्मा गाँधी की राजनीतिक विचारधारा के नितान्त विपरीत है।

15.4.8 धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद में आस्था

यद्यपि अपने विद्यार्थी जीवन में आचार्य नरेन्द्रदेव पर लाल, बाल, पाल (लाला लाजपत राय, बालगंगाधर तिलक तथा विपिन चन्द्र पाल) एवं अरविन्द घोष के धार्मिक पुनरुत्थानवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा था लेकिन 1930 तक आते-आते उन पर यह प्रभाव समाप्त हो गया। आचार्य नरेन्द्रदेव धर्म निरपेक्ष या लौकिक राष्ट्रवाद मेंविश्वासकरते थे। उनके अनुसार समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते हैं और इसके साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन में भी परविर्ततन होता रहता है। प्राचीन काल में सम्पूर्ण जीवन पर धर्म-मजहब का प्रभाव होता था। इसलिए संस्कृति के निर्माण में भी उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी परन्तु आज मजहब का प्रभाव कम हो गया है। हमारे देश में दुर्भाग्य से लोग संस्कृति को धर्म से अलग नहीं करते हैं। इसका प्रमुख कारण हमारी अज्ञानता एवं संकीर्णता है। वस्तुतः धर्म और संस्कृति दो अलग-अलग स्थितियां है। वर्तमान समय में

संस्कृति के निर्माण में धर्म से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका राष्ट्रीयता ने प्राप्त कर ली है यदि ऐसा नहीं होता तो एक हीदेशमें रहने वाले विभिन्न धर्मो के अनुयायी उसे नहीं अपनाते। धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा कि राष्ट्रीयता की मांग है कि भारत में रहने वाले सभी मजहब के लोगों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए। अब चार करोड़ मुसलमान हमारेदेशके अधिवासी है तो हमारे लिए उनके सम्पर्क से बचने की बात सोचना घोर ना समझी है ऐसी अवस्था में एकरुपता के अभाव तथा संकीर्ण बुद्धि से उनके साथ व्यवहार करने में सदा भय बना रहेगा और संघर्ष होता रहेगा। एक व्यापक तथा उदार बृद्धि से काम लेने तथा कानून और आर्थिक पद्धति की समानता से धीरे-धीरे विभिन्नता दूर होगी और इसदेशके सभी लोग समान रूप से इसदेशकी उन्नति में लगेगें। धर्म के आधार पर लोगों मे भेदभाव करने की प्रवृत्ति का त्याग अर्थात सभी धर्मों के लोगो के साथ समानता का व्यवहार राष्ट्रीय एकता की कड़ी को मजबूत करेगा। इससे समाज के लोगों के बीच की फूट रुकेगी जिससे विदेशी हुकुमत के खिलाफ जारी संघर्ष और अधिक प्रबल होगा।

15.4.9 नवीन दृष्टिकोण से भारतीय धर्म की व्याख्या

धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद सम्बन्धी अपनी विचारधारा को मजबूती प्रदान करने के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव ने 'भारतीय धर्म' की एक नवीन धारणा का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार आज विविध धर्मो ने सम्प्रदाय विशेष की स्थिति प्राप्त कर ली है। इन विविध सम्प्रदायों में उदारता के साथ एक विशेष प्रकार की संकीर्णता भी है। इन विविध सम्प्रदायों के लोगों का सोचना है कि आध्यात्मिक जीवन के चरम लक्ष्य (स्वर्ग, मोक्ष अथवा आत्मकल्याण) की प्राप्ति का केवल एक ही मार्ग है और वह मार्ग केवल वही है जिसका अन्वेषण और निर्देश उस सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्तक या पैगम्बर ने किया है किन्तु उनके अनुसार भारतीय धर्म इन सबसे भिन्न है क्योंकि उसका न तो कोई आदि प्रवर्तक है और न तो उसका कोई एक पवित्र ग्रन्थ ही है जिसको वह एक मात्र प्रमाण माने। वे इसे सनातन धर्म के नाम से भी नहीं पुकारना चाहते थे क्योंकि सनातन धर्म भी तो आज एक सम्प्रदाय विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिए वे इसे 'भारतीय धर्म' कहना ही पसन्द करते थे। उनका कहना था कि भारत की अधिकांश जनता इसी धर्म को मानती है। यद्यपि इस पर भी सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है फिर भी यह अपनी मुख्य-मुख्य बातों के सम्बन्ध में आज भी उदार है। इस धर्म का विश्वास है कि आत्मकल्याण के अनेक मार्ग है और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार आचरण करते हुए आत्म कल्याण कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं हैं आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना था कि भारतीय धर्म सभी सन्तों को मानता है और सबकी वाणी सुनता है वह किसी धर्म के विरुद्ध प्रचार नहीं करता, दूसरों को अपने धर्म में दीक्षा देने का प्रयत्न नहीं करता है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार भारतीय धर्म में समय-समय पर अनेक पंथों का उदय हुआ। भारतीय धर्म ने अपनी उदारता एवं समन्वय वादिता के कारण व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए उन सबकों अपने में समाहित कर लिया। परिणाम स्वरूप भारतीय धर्म की विजय हुई और समाज से अलग हुए ये सम्प्रदाय पुनः भारतीय धर्म के दायरे में आ गये। उन्होने एक उदाहरण देते हुए कहा कि सिख सम्प्रदाय के दशम गुरु ने सिखों का संगठन किया और उनको कुछ विशेष चिन्ह धारण करने की आज्ञा दी। जिससे धीरे-धीरे सिख समाज साधारण समाज से पृथक होने लगा किन्तु हिन्दुओं ने सिख गुरुओं की उपासना शुरु कर दी और उन्हे समाज का रक्षक मानते हुए प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गुरु ग्रन्थ का पाठ भी कराया परिणाम स्वरुप पार्थक्य दूर होने लगा और सिख अपने को हिन्दू समझने लगे।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने माना कि भारतीय धर्म का यह उदान्त भाव सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखने के लिए विवष करता है। यही समन्वय का योग और उपनिषदों की शिक्षा है। उनके अनुसार यह जन जागरण का युग है। इस समय सब लोग अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे है। ऐसे में जब तक एकता के नये साधन नहीं निकाले जायेगें तब तक संघर्ष और विद्रोह की भावना बनी रहेगी। इसलिए उन्होने शान्ति की रक्षा और युद्धों को रोकने के लिए भारतीय धर्म की महत्ता बताई। उन्होने बताया कि राष्ट्रों के मध्य सौहार्द्र और सहयोग स्थापित करने में भी इससे सहायता मिलेगी। उनके अनुसार भारतीय धर्म की इस उदार भावना को अपनाने की आज विशेष आवश्यकता है क्योंकि इसके अभाव में मानव समाज और विश्व दोनो की रक्षा सम्भव नहीं है। भारतीय धर्म भारत के सभी सम्प्रदायों का धर्म है यह सम्प्रदाय के आधार पर लोगों में भेदभाव नहीं करता है। इसलिए सभी सम्प्रदायों के लोग इसमे अपनी-अपनी आस्था व्यक्त करते है। भारतीय धर्म ने सभी सम्प्रदायों के लोगों को जोड़ने की एक ऐसी मजबूत कड़ी का काम किया है जो अटूट है। यह राष्ट्रीय एकता को भी मजबूत बनाने का एक सबल साधन है।

15.4.10 गाँधीवाद के सम्बन्ध में विचार

यद्यपि आचार्य नरेन्द्रदेव का गांधी जी से घनिष्ठ सम्बन्ध था फिर भी गांधी जी के वर्ग सहयोग के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किये अर्थात उनके द्वारा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया बल्कि वे इस बात का पक्षपोषण करते रहे कि समाज में वर्गो की उपस्थिति सदैव बनी रहती है। उन्होने माना कि गांधी जी द्वारा कल्पित वर्ग विहीन समाज समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। जब तक समाज के लोगों में समानता की स्थिति नहीं होगी तब तक अहिंसावादी होना भी सम्भव नहीं होगा। आचार्य नरेन्द्रदेव गांधी के साधनों की शुद्धता या पवित्रता सम्बन्धी धारणा में आस्था रखते थे। इसलिए वे बार-बार कहते थे कि बिना साधनों की शुद्धता के अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। गांधीवाद का ही प्रभाव था कि आचार्य नरेन्द्रदेव नैतिकतावादी और मानवतावादी मूल्यों का समर्थन करते हुए दिखायी देते है।

15.5 मानवतावाद में आस्था

आचार्य नरेन्द्रदेव घोर मानवतावादी थे। उनके द्वारा अपनी रचनाओं तथा विचारों में मानव कल्याण तथा मानव मात्र की प्रतिष्ठा एवं गरिमा का भरपूर समर्थन किया गया। इसलिए कहा जाता हे कि वे कार्ल मार्क्स में भी मानव तलाषते हुए नजर आते हैं। मार्क्स के सिद्धान्तों का समर्थक होने के बावजूद वे उनके व उनके समर्थको के इस बात से सहमत नहीं थे कि समाजवाद व साम्यवाद को स्थापित करने का एक मात्र रास्ता सषस्त्र विद्रोह ही है। उनका मानना था कि लोकतान्त्रिक साधनों से भी समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। अपनी मानवतावादी धारणा में आस्था के कारण ही वे गांधी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में कहते है कि गांधीवादी अहिंसा अन्ततः वर्गविहीन समाज में पर्यवसित होने की क्षमता रखती है। अहिंसा व्रत के अपने इस अनुसंधान से इसे (गांधीवाद को) यह तथ्य मिला कि वर्गभेदों और सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं को मिटाये बिना समाज में हिंसा का उन्मूलन नहीं हो सकता। अतः वर्गहीन समाज इसका ध्येय है और समत्वयुक्त समाज की एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था इसे करनी है जिससे जनतन्त्रता का भाव नष्ट न हो और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचार्य नरेन्द्रदेव को यहविश्वासथा कि मार्क्स और गांधी दोनों ही भिन्न रास्ते से चलकर भी एक 'नैतिक प्राणी' की स्थापना करना चाहते हैं जो स्वतन्त्रता का उपभोग कर अपने अन्दर छिपी अनन्त क्षमताओं को उजागर कर देता है। यह उनके मानवतावादी दर्शन का ही प्रतिफल कहा जा सकता कि वे मानव मात्र की प्रतिष्ठा और गरिमा को अक्षुण्य मानते हैं।

अभ्यास प्रश्न2

निर्देश- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखे।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. कांग्रेस ने भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रस्ताव कब पारित किया था।

2. औपनिवेशिक देशके लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता समाजवाद के मार्ग में एक अपरिहार्य अवस्था है। सत्य है/असत्य है

3. 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' पुस्तक की रचना की थी-

(i) गांधी ने (ii) आचार्य नरेन्द्रदेव ने

(iii) जवाहर लाल नेहरु ने (iv) इनमें से कोई नहीं

4. 'भारतीय धर्म' सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किसने किया है ?

5. आचार्य नरेन्द्रदेव गाँधी जी के वर्ग सहयोग के विचार से सहमत थे- सत्य है/असत्य है

15.6 सारांश

आचार्य नरेन्द्रदेव को भारत में समाजवादी चिन्तन का आदि पुरुष कहा जा सकता है। एक समाजवादी विचारक के रूप में उनके उपर मार्क्स के वर्ग संघर्ष तथा इतिहास की भौतिक व्याख्या सम्बन्धी विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ा। जिसके कारण उन्होने माना कि इतिहास एक निरन्तर गतिमान प्रवाह है जो अपने गति से आगे बढ़ता रहता है लेकिन इतिहास निर्माण में केवल भौतिक तत्व ही सर्वेसर्वा नहीं है बल्कि इसको प्रभावित करने में मानव मास्तिष्क अर्थात विचारों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। समाजवादी धारणा में घोर आस्था होने के कारण ही आचार्य नरेन्द्रदेव समाज में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समानता लाना चाहते थे। उनका मानना था कि बिना समानता अर्थात समाजवाद को स्थापित किये समाज से श्रेणी नैतिकता तथा मत्स्य न्याय का उन्मूलन नहीं किया जा सकता जो मानव मात्र के मनुष्यत्व एवं गरिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है। भारत में किसानो व खेतिहर मजदूरों की दयनीय स्थिति से भी वे भली-भांति परिचित थे इसलिए उनका कहना था कि कृषि योग्य जमीन की मालिकाना व्यवस्था इस प्रकार की जाय जिससे सरकार और किसान के बीच के विचौलिया प्रथा को समाप्त किया जा सके।

आचार्य नरेन्द्रदेव के काल में भारत अंग्रेजों का गुलाम था। वे इस गुलामी की व्यवस्था से भी व्यथित थे। यही कारण था कि उन्होने समाजवादियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग करने की अपील की। उनका मानना था कि आर्थिक हितों के नाम पर समाज के वर्गो को संगठित कर उनका उपयोग स्वाधीनता संग्राम हेतु किया जा सकता है। किसानों, मजदूरों और निम्न मध्यम वर्ग का संगठन स्वतन्त्रता संघर्ष के आधार को विस्तृत करने का महत्वपूर्ण जरिया बन सकता है। जिससे भारतीय जनमानस को आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की एक बड़ी बाधा अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति थी जिसमें भारत की धार्मिक विविधता सहयोग प्रदान कर रही थी। इसलिए आचार्य नरेन्द्रदेव ने 'धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद' व 'भारतीय धर्म' के धारणा का प्रतिपादन करते हुए कहा कि राष्ट्रीयता की मांग है कि भारत में माने जाने वाले सभी धर्म के लोगों के साथ समानता का व्यवहार किया जाय। इससे समाज के विभिन्न धर्मो के लोगो के बीच प्रेम और सौहाई बढ़ेगा और वेदेशकी उन्नति में समान रूप से लगेगें। अपने धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद को बल प्रदान करने हेतु उन्होने भारतीय धर्म की नवीन अवधारणा का प्रतिपादन किया। उन्होने कहा कि भारतीय धर्म एक ऐसा धर्म है जिसका न

तो कोई आदि प्रवर्तक है न ही उसका कोई विशेष कृत्य या अनुष्ठान है और न ही इसका कोई विशेष ग्र्रन्थ है बल्कि यह तो एक ऐसा उदार धर्म है जो मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी अन्तरात्मा के अनुसार आत्म कल्याण (स्वर्ग व मोक्ष प्राप्त करने) का प्रयास कर सकता है। यद्यपि इसमें भी समय-समय पर अनेक पंथो का उदय हुआ फिर भी अपनी उदारता व समन्वयवादिता के कारण व उसे अपने में समेटता गया।

आचार्य नरेन्द्रदेव गांधी जी के विचारों से भी प्रभावित थे इसलिए समाजवाद का समर्थन करते हुए भी उन्होने मानवतावादी मूल्यों की अनदेखी नहीं की। उनका मानना था कि समाजवाद का लक्ष्य मानव की प्रतिष्ठा का स्थापित करना होना चाहिए। गांधी जी भी अपने अहिंसावादी धारणा से मानवतावादी मूल्यों की प्रतिस्थापना करना चाहते थे। यद्यपि गांधी के प्रति विशेष लगाव के बावजूद आचार्य नरेन्द्रदेव उनके इस विचार से सहमत नही थे कि समाज में वर्ग सहयोग पाया जाता है बल्कि इसके विपरीत उन्होने माना कि समाज में वर्गीय भेद सदैव रहा है।

15.7 शब्दावली

1.सर्वहारा वर्ग - उत्पादन के स्वामियों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्ग

2.समाजवाद - वह धारणा जो व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्वपूर्ण मानती है तथा समाज में आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक, सं ास्कृतिक आदि समानता पर जोर देती है।

3.नियोजन - योजनाबद्ध तरीके से कार्य करना

4.संस्कृति किसी भी राष्ट्र अथवा समाज व भौतिक विवेक

5.सर्वाधिकारवाद - राज्य को समस्त प्रकार के अधिकार सौप देना या मानव जीवनको पूर्णतया राज्य के अधीन कर देना

6.पूँजीवाद- वह व्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित हो

7.स्वतन्त्रता - व्यक्ति को अपने व्यक्तिव के विकास का समुचित अवसर प्राप्त होना

8.जनतन्त्र - शासन का वह स्वरुप जिसमें अन्तिम शक्ति जनता में निहित हो

9.औपनिवेशिक - किसी राज्य पर दूसरे राज्य के शासन की स्थापना

10.धर्म निरपेक्षता - राज्य द्वारा किसी धर्म को विशेष महत्व न देना अर्थात सभी धर्मो को समान महत्व देना

11.अन्वेषण - खोज करना

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न1

1. गांधी जी द्वारा सरकार से असहयोग की मांग पर, 2. 1934 ई0 में,3. (i) सत्य है, 4. (ii) असत्य है,

अभ्यास प्रश्न2

1. 1942 ई0 में ,2.(i) सत्य है,3.(iii) आचार्य नरेन्द्रदेव ने ,4.आचार्य नरेन्द्रदेव ने ,5.(ii) असत्य है

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.बी.एल.फाड़िया, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।

2.सुषमा गर्ग, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।

3.डॉ.बी.पी.वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

15.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ज्योति प्रसाद सूद, आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, के.नाथ एण्ड कम्पनी मेरठ।

2. ए. अप्पादुराई, बीसवीं शताब्दी में भारतीय राजनीतिक चिन्तन, साउथ एशियन पब्लिशर्स प्रा.लि. नई दिल्ली।

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.आचार्य नरेन्द्रदेव के राजनीतिक विचारों की विवेचना कीजिए।

2.''आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवाद का आधार जनतन्त्र और मानवतावाद है।'' इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

3.''आचार्य नरेन्द्रदेव के चिन्तन में कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी, दोनो का प्रभाव देखा जा सकता है।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।

4.भारतीय समाजवादी चिन्तन को आचार्य नरेन्द्रदेव की देन पर निबन्ध लिखिए।

5.आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवादी विचारों का उल्लेख कीजिए। आप उनसे कहां तक सहमत हैं।

इकाई 16 राममनोहर लोहिया (1910-1967)

इकाई की संरचना

16.1 प्रस्तावना

डॉ. राममनोहर लोहिया एक राजनीतिज्ञ ही नहीं बल्कि इतिहासकार, अर्थशास्त्री, दार्शनिक तथा महान लेखक थे। जीवन का शायद ही कोई ऐसा पहलू होगा जिसे उन्होनें अपनी प्रतिभा से स्पर्ष न किया हो। उनमें विद्वता तथा क्रान्ति का अद्भुत सम्मिश्रण था। उनके भाषण तथा रचनाओं में उनकी प्रतिभा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है। उनका भाषण तथा उनकी रचनाएं तथ्य परक आकड़ों पर आधारित होती थी। वे विद्यार्थी जीवन से ही राजनीतिक क्रियाकलापों में रूचि लेने लगे थे। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में भी उनकी भूमिका अग्रणी थी। भारत में समाजवादी आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने तथा आगे बढ़ाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। इसलिए समाजवादी चिन्तको में उनका नाम प्रमुखता से लिया जाता है। यद्यपि वे समाजवादी विचारों के उग्र प्रचारक थे फिर भी भारतीय संस्कृति में उनकी अटूट श्रद्धा थी। जिसके कारण वे समाजवाद के लोकतान्त्रिक स्वरूप को विशेष महत्व देते हैं। उनका चिन्तन मौलिकता से ओत-प्रोत है। उनका मानना था कि हमें किसी का भी अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। वर्तमान समस्याओं के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि इन समस्याओं का कारण मानव प्रकृति अथवा कोई चिर स्थायी विश्व व्यवस्था नहीं है बल्कि इसकी जड़ में कुछ भ्रष्ट सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएं हैं। वे जीवन पर्यन्त ऐसी संस्थाओं और व्यवस्थाओं के खिलाफ आवाज बुलन्द करते रहे। उनका उद्देश्य ऐसी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम करना था जिनका उद्देश्य समाज में समानता स्थापित करने के साथ-साथ लोगों में सौहार्द्र कायम करना था। जिससे लोगों के बीच मनमुटाव व संघर्ष को कम किया जा सके।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करके हम-

1.भारतीय समाजवादी विचारकों में राममनोहर लोहिया की स्थिति का अवलोकन कर सकेगें।

2.राममनोहर लोहिया के राजनीतिक विचारों से परिचित हो सकेगें।

3.राममनोहर लोहिया के सामाजिक तथा आर्थिक विचारोंको जान सकेंगें।

4.चौखम्भा राज्य की व्यवस्था को समझ सकेगें।

5.भारतीय राजनीतिक चिन्तन में लोहिया के योगदान को समझ सकेगें।

16.3 राममनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

यद्यपि राममनोहर लोहिया के विचारों में मौलिकता प्रखर थी तथापि वे समाजवादी कल्पनाओं में मार्क्स व गांधी के विचारों की अनदेखी नहीं कर सके। वे न तो पूर्णतया मार्क्सवादी और न ही गांधीवादी बन पाये बल्कि उन्होने तो दोनो के बीच का रास्ता चुना जो समन्वयवादी धारणा थी। उनका कहना था कि हमें दोनों का अन्धानुकरण करने के बजाय उनके सिद्धान्तों के श्रेष्ठतम तत्वों का निचोड़ ग्रहण करना चाहिए। राममनोहर लोहिया के प्रमुख सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता हैं-

16.3.1 समाजवादी चिन्तन

भारत का प्रत्येक समाजवादी चिन्तक समाजवाद के बारे में अपने ढंग से सोचता है। राम मनोहर लोहिया भी एक ऐसे समाजवादी चिन्तक हैं, जो न तो किन्ही रूढ़ मान्यताओं से ग्रस्त थे और न ही इस बात के मोहताज थे कि किसी महत्वपूर्ण लेखक ने समाजवाद के बारे में क्या लिखा है बल्कि उन्होने तो समाजवाद की एक ऐसी व्यावहारिक धारणा प्रस्तुत की जिसे 'व्यावहारिक राष्ट्रीय समाजवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। वे मार्क्स और गांधी दोनों से प्रभावित थे लेकिन दोनों में से किसी के भी अन्धानुकरण का विरोध करते थे। वे कहा करते थे कि किसी भी मामले में हमारी पकड़ मूल बात में होनी चाहिए। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह बात मार्क्स या गांधी ने कही है या नहीं।

राममनोहर लोहिया के द्वारा अपने निबन्ध 'दि डाक्ट्रीनल फाउण्डेशन ऑफ सोशलिज्म' में अपने समाजवादी विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि समाजवाद की धारणा लम्बे समय से पूंजीवाद और साम्यवाद के दस्तों के पीछे चलती रही है और उधार की साँसों पर जीवित रही है। जिससे समाजवादियों के कार्यों में हिचक का भाव पैदा हो गया है। इसलिए एक ऐसे सुसंगत सिद्धान्त की आवश्यकता प्रबल हो गयी है जो समाजवाद को विचार तथा कर्म के क्षेत्र में स्वायत्त दिशा दे सके। स्वायत्त समाजवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में लोहिया की धारणा थी कि पूंजीवाद और साम्यवाद आधुनिक सभ्यता के संकुल के दो भाग हैं। जिसमें पूंजीवाद निरन्तर बढ़ते जीवन स्तरों के लिए स्वतन्त्र उद्यमों की अर्थव्यवस्था पर निर्भर है तो साम्यवाद उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर। ये दोनों ही अल्प विकसितदेशोंमें समाजवाद को स्थापित करने के दृष्टि से अप्रासंगिक हैं। इसलिए उन्होने कहा कि हमें यूरोपीय समाजवाद के मॉडल से इतर एक ऐसे मॉडल को अपनाना पड़ेगा जो भारत सहित एशिया के पिछड़ेदेशोंके लिए उपयोगी सिद्ध हो। 26 मार्च 1952 को 'एशिया समाजवादी कांग्रेस' की रंगून प्रारम्भिक सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा कि 'एशिया में जहां आर्थिक समस्याएं मुंह बाये खड़ी हैं, पष्चिमी ढंग का समाजवादी प्रजातन्त्र कदापि उपयोगी नहीं हो सकता। एशिया के लोग रोटी के लिए अपने प्रजातान्त्रिक अधिकारों को बेचने के लिए सरलता से तैयार हो जायेगें। परम्परागत तरीके से सोचने पर रोटी की समस्या के समाधान हेतु हमें पूंजीवादीअथवा साम्यवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना ही अनिवार्य दिखायी देने लगती है किन्तु दोनों ही अर्थव्यवस्था एक जैसी हैं। दोनों में अन्तर सिर्फ इतना है कि पूंजीवाद यदि निजी संपत्ति को प्रोत्साहन देता है तो साम्यवाद सार्वजनिक संपत्ति को। पूंजी तथा संपत्ति का केन्द्रीकरण दोनों में समान रूप से है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण अन्ततः बेरोजगारी को बढ़ा देता है।'' एक बार उन्होनें कहा था कि ''एक बार जहाँ आपने आर्थिक विकेन्द्रीकरण का रास्ता अपनाया तो उसके परिणामस्वरूप भारत तथा एशिया केदेशोंमें लाखों-करोणों लोगो का बेकार हो जाना निष्चित है।''

राममनोहर लोहिया को पूर्ण विश्वासथा कि समाजवाद का यूरोपीय मॉडल जो बड़ी-बड़ी मशीनों के उपयोग का समर्थन करता था, भारत व एशिया केदेशोंके लिए उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी धारणा महात्मा गांधी के उन विचारों के नजदीक दिखायी देती है जिसमें वे छोटी-छोटी मशीनों एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना पर बल देते है। लोहिया का मानना था कि छोटी-छोटी मशीनों तथा कुटीर उद्योगों की स्थापना में जहाँ धन कम लगेगा वही इस से रोजगार बढ़ेगा तथा बेकारी कम होगी।

इस प्रकार लोहिया ने एक ऐसी विचार परम्परा को जन्म दिया जिसे 'एशियाई समाजवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। उन्होने स्पष्ट कहा कि एशिया के समाजवादियों को मौलिक चिन्तन तथा अभिक्रम का अभ्यास डालना चाहिए। उन्हें अपनी नीतियां उस सभ्यता के सम्बन्ध में निरुपित करनी हैं जो शताब्दियों पुराने उद्देश्यतथा सामन्तवाद के कूड़े-करकट में उभरने का प्रयास कर रहीं हैं। यूरोपीय समाजवादियों ने समाज के राजनीतिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के जो तरीके सुझाये हैं वे एशिया केदेशोंविशेषकर भारत व इंडोनेशिया के लिए कदापि उचित नहीं है। एशिया केदेशोंव भारत की अर्थव्यवस्था अभी भी कृषि पर आधारित है। इसलिए वे लिखते हैं कि किसानों को गहन खेती के बारे में जानकारी देने के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार की सहकारी कृषि के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। भूमि का साम्यवादी पुनर्विभाजन केवल एक मजाक ही नहीं अपितु निरर्थक क्रुरता भी है। इसके

विपरीत भूमि के समाजवादी विभाजन के साथ शक्ति का विकेन्द्रीकरण होने से न सिर्फ अच्छे आर्थिक परिणाम निकलेगें वरन् जीवनयापन का नया स्वरूप भी विकसित होगा। लोहिया के अनुसार एशियन समाजवाद का मुख्य उद्देश्य-प्रशासन का प्रजातन्त्री करण, थोड़ी पूंजी लगाकर छोटी मशीनों का उपयोग, संपत्ति का समाजीकरण तथा अधिकाधिक आर्थिक एवं राजनीतिक समाजीकरण है।

राममनोहर लोहिया समाजवाद की स्थापना के लिए हिंसक संघर्ष को स्वीकार नहीं करते थे बल्कि उनका मानना था कि सामाजिक अन्याय को दूर करने का एक महत्वपूर्ण साधन शान्तिपूर्ण प्रतिरोध के साथ रचनात्मक कार्यवाही हो सकती है। इसलिए सार्विक वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचन इसका एक साधन हो सकता है। उन्होने माना कि समाजवादी दल के पास इतनी शक्ति और सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह किसी भी क्षण उपयुक्त कार्य कि लिए उसका उपयोग कर सके। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाजवादी दल जनता का प्रवक्ता, उसकी राय का संगठक, अन्याय का प्रतिरोधी और पुननिर्माण का निपुण संचालक हो। उसे रचनात्मक कार्य में भाग लेने, लोकमत को प्रषिक्षित करने तथा स्वयं उनसे षिक्षित होने तथा अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए तैयार रहना चाहिए। कुदाल, मताधिकार और जेल ये तीनों इन कार्यों के प्रतीक हैं। शान्तिपूर्ण तरीकों अर्थात सत्याग्रह के माध्यम से अन्याय का प्रतिरोध आवश्यक है। समाजवाद को हिंसक संगठन और उसके समर्थन की सदैव निन्दा करनी चाहिए। यद्यपि पुराने की यन्त्रणा समाप्त करने तथा नये को जन्म देने के लिए जनता अन्तिम उपाय के रूप में अपनी शाही शक्ति के उपयोग को चुन सकती है। यह शक्ति केवल कुछ क्षणों के लिए प्रदर्शित जनता की स्वतः स्फूर्त हिंसा होगी। यद्यपि वे गांधी जी की समाजवादी व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करते थे फिर भी उनका कहना था कि यदि गांधी जी के समाजवाद की कुछ बातें भारतीय ताने-बाने में बुन दी जाये तो भारतीय समाजवाद का स्वरूप वास्तव में निखर जायेगा। गांधी जी का सविनय अवज्ञा और असहयोग का सिद्धान्त, साधन और साध्य की सुचिता पर जोर, राजनैतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण और जीवन में सादगी और कठोरता ऐसी बातें है जो समाजवादी धारणा की स्थापना का पवित्र साधन कही जा सकती है।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लोहिया द्वारा नवीन समाजवाद की वकालत करते हुए कहा गया कि प्राचीन समाजवाद 'एक मरा हुआ सिद्धान्त तथा मरणशीलव्यवस्था' है। इसलिए समाजवाद के एक नवीन स्वरूप का अपनाया जाना आवश्यक है। लोहिया ने नवीन समाजवाद के लिए छः सूत्री योजना का निरुपण किया। उनके अनुसार आय और व्यय के क्षेत्र में अधिकतम समानता उपलब्ध कराने के लिए उद्योगों, बैंको तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीकरण किया जाय। विश्व में आर्थिक अन्तरनिर्भरता बढ़ती जा रही है जिसके कारण समूचे विश्व के लोगों के जीवन स्तर को सुधारने का प्रयास किया जाना चाहिए। वे लोकतान्त्रिक राजनीतिक समानता के पक्षधर थे इसलिए चाहते थे कि वाणी की स्वतन्त्रता, समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता सुरक्षित हो और किसी भी सरकार को इसमें बलपूर्वक हस्तक्षेप का अधिकार नहीं हो। वयस्क मताधिकार पर आधारित विश्व संसद की स्थापना की जाय। सामान्य जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा की प्रणाली का सहारा लिया जाना चाहिए।

16.3.2 इतिहास की व्याख्या

रामनोहर लोहिया इतिहास के चक्रीय सिद्धान्त के प्रस्तावक थे। उनके अनुसार इतिहास की गति चक्र के समान तथा अपरिवर्तनीय होती है। यह धारणा अरस्तू के चक्र-सिद्धान्त का स्मरण दिलाती है। यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि इतिहास कभी भी सरल रेखा की भांति आगे नहीं बढ़ता है बल्कि यह तो एक चक्र की भांति घूमते हुए अपने पथ पर अग्रसर होता रहता है। चक्रमण के दौरान विकास के षिखर पर पहुंचा हुआ कोई देशपतन के गर्त में जा सकता है तो एक समय ऐसा भी आ सकता है जबकि पतन के गर्त में गिरा हुआ देशपुनः उन्नति करते हुए विकास के चरमोत्कर्ष की तरफ बढ़े। लोहिया स्पेन्गलर तथा नार्थट्राप आदि इतिहासकारों की भांति इस मत का समर्थन करते हैं कि राष्ट्रों तथा सभ्यता का उत्थान-पतन सदैव होता रहता है। ब्रिटिष साम्राज्य का उत्थान तथा पतन, गुप्त साम्राज्य का उत्थान तथा पतन इसके उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि कोई देशइतिहास के चक्राकार गति से घूमता हुआ कभी अपने विकास और वैभव के चरमोत्कर्ष पर तो कभी पतन के अधोविन्दु तक पहुँच सकता है।

यद्यपि राममनोहर लोहिया मार्क्स के द्वण्दात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करते है किन्तु परम्परावादी मार्क्सवादियों के मुकाबले वे चेतना को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। वे एक ऐसे सिद्धान्त की रचना करना चाहते थे जिसके अन्तर्गत आत्मा तथा सामान्य उद्देश्यों एवं द्रव्य तथा आर्थिक उद्देश्यों का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध हो कि दोनों अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम रख सकें। इस प्रकार लोहिया ने मार्क्सवादियों के भौतिकवाद को चेतनावाद में परिवर्तित कर दिया। उनका कहना था कि ''एक ऐसे बौद्धिक यन्त्र का

निर्माण किया जाना चाहिए जो आत्मा या सामान्य उद्देश्यों में स्वायत्त सम्बन्ध को स्थापित कर सके।'' मार्क्स और हीगल के इतिहास की व्याख्या के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण है कि ये व्याख्याएं इतिहास का पूरा बोध नहीं करा सकती हैं। इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि ''जो लोग इतिहास के नियम की बात करते है तथा जो इस प्रकार का संकेत करते हैं कि विभिन्न कालों में विभिन्न जाति के लोगो का किस प्रकार उत्थान होता है या हुआ। उन्हें यह भी बोध कराना चाहिए कि विभिन्न जातियों का उत्थान-पतन किन कारणों से हुआ और यदि वे इस प्रश्नका उत्तरदेने में असमर्थ है तो फिर उनका इतिहास के सम्बन्ध में कुछ कहना कोरा प्रलाप है। लक्षणों के सम्बन्ध में संकेत करना कारणों का बताना नहीं है।''

अन्ततः लोहिया ने माना कि इतिहास में तीन तथ्य महत्वपूर्ण हैं- प्रथम इतिहास के कालखण्ड में देशों का उत्थान-पतन होता रहता है परिणामस्वरूप धन-वैभव का स्थान परिवर्तित होता रहता है जिससे समूह के बाहरी रिष्तों में भी उतार-चढ़ाव देखा जा सकता है। द्वितीय समूह के अन्दर वर्गों एवं जातियों का संघर्ष चलता रहता है और तृतीय सभी समूह शारीरिक संस्कृति ढंग से मिलन भी करते रहते है। इसलिए इतिहास में कारणों के खोज का कोई अन्त नहीं है।

16.3.3 चौखम्भा राज्य की परिकल्पना

राममनोहर लोहिया समाजवादी धारणा के प्रबल समर्थक होते हुए भी समाजवादियों के राज्य विहीन धारणा को स्वीकार नहीं करते थे और न ही किसी ऐसी व्यवस्था के समर्थक थे जिसमें राज्य सर्वोपरि हो। वे राज्य को एक महत्वपूर्ण संस्था मानते थे जिसके द्वारा जनता के कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन सम्भव होगा। वे इस बात से भी भलीभांति परिचित थे कि राज्य अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर जन सामान्य के जीवन को कष्टमय बना सकता है। इसलिए उन्होने सदैव इस बात का पक्षपोषण किया कि राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। उनकी 'चौखम्भा राज्य' की कल्पना इसका उदाहरण है। उनका मानना था कि शक्तियों का केन्द्रीकरण राज्य की प्रशासनिक क्षमता को कम कर देता है इतना ही नहीं इससे लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी बाधित होती है। इसलिए प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। राज्य शक्ति के विभाजन का पक्षपोषण करने के कारण लोहिया को बहुलवादी कहा जा सकता है। उनका मानना था कि राज्य की शक्ति को विभिन्न केन्द्रों में विभाजित कर देने से जन सामान्य के राजनीतिक क्रियाकलापों में सहभागी बनने के अवसर बढ़ जाते हैं। इससे लोकतन्त्र को वास्तविक स्वरूप प्रदान किया जा सकता है।

राममनोहर लोहिया एक ऐसे राज्य की कल्पना करते हे जिसमें चार स्तम्भ होगें अर्थात जिसमे शासन की शक्तियां चार स्तर की सरकारों में विभाजित होगी। इस राज्य का उद्देश्य केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धाराणाओं को समन्वित करना था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत गांव, मण्डल (जिला) प्रान्त तथा केन्द्रीय सरकार का गठन किया जायेगा तथा उन्हें एक कार्यमूलक संघवाद के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जायेगा। ऐसे राज्य में जिलाधीष का पद समाप्त कर दिया जायेगा क्योंकि वह प्रशासनिक शक्ति के केन्द्रीकरण की एक बदनाम संस्था है। ऐसे राज्य में गांव, मण्डल तथा नगरों की पंचायते लोक कल्याणकारी नीतियों तथा कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्वनिर्वहित करेगी।

चौखम्भा राज्य की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित होगी-

(क) सम्पूर्ण सरकारी एवं योजना व्यय का एक चौथाई ग्राम, मण्डल तथा नगर पंचायत के माध्यम से खर्च किया जायेगा।

(ख) पुलिस इन ग्राम, मण्डलों तथा पंचायतों के अधीन रहते हुए कार्य करेगी।

(ग) जिलाधीष का पद समाप्त कर उसके समस्त कार्य जिले की विभिन्न संस्थाओं को सौप दिये जायेगें।

(घ) कृषि, उद्योग तथा अन्य प्रकार की संपत्ति का राष्ट्रीकरण कर दिया जायेगा और ये ग्राम, मण्डल तथा नगर पंचायतों के अधीन एवं उनके द्वारा शासित होगी।

(ड) छोटी मशीनोंके अधिकाधिक उपयोग द्वारा आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ राजनीतिक तथा प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में प्रयास किया जायेगा।

राममनोहर लोहिया का मत था कि अभी तक उदारवादी तथा साम्यवादी दुनिया दो स्तरीय राज्यों के बारें में ही जानती है। इसलिए राज्य के कार्यो अथवा शक्तियों का बंटवारा केन्द्र तथा राज्यों के बीच करने हेतु संवैधानिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जा रहा है ताकि उनके व्यावहारिक स्वरूप को निखारा जा सके किन्तु प्रजातन्त्र सामान्य व्यक्ति को केवल तभी स्फूर्ति प्रदान कर सकता है जबकि ये संवैधानिक सिद्धान्त चौखम्भा राज्य के गठन से सम्बन्धित हो। समानता रूपी मांस और रक्त से पोषित इन चार स्तम्भों रूपी शारीरिक ढांचे वाले राज्य से ही प्रजातन्त्र की आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है। शक्तियों का विभाजन जनता की राजनीतिक

क्रियाकलापों एवं प्रशासन में सहभागिता को बढ़ायेगा, जिससे प्रजातन्त्र को भी उर्वरा शक्ति प्राप्त होगी और वह अधिक प्रभावी भूमिका हेतु तैयार होगा।

इस प्रकार राममनोहर लोहिया अपने चार स्तम्भ वाले राज्य में प्रशासन की शक्तियों को विकेन्द्रित कर उसे लोकतन्त्र के अनुरूप बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ विधायी विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। इससे राज्य में नौकरषाही का गढ़ ध्वस्त होगा और शासन शक्ति का उपयोग जनता के प्रति उत्तरदाई संस्थाओं के द्वारा किया जायेगा।

16.3.4 सप्तक्रान्ति का सिद्धान्त

राममनोहर लोहिया का मानना था कि देश के राजनीतिक दलों के बीच ऐसा कोई सामान्य कार्यक्रम या सिद्धान्त नहीं है जिस पर वे आपस में सहमत हो। परिणामस्वरूप प्रतिपक्षी दल आपस में लड़ते रहते हैं जिसका स्पष्ट लाभ संपत्तिरुढ़ दल को होता है। इसलिए जनता का विश्वासअर्जित करने तथा मजबूत विपक्ष की भूमिका स्थापित करने के लिए सामान्य कार्यक्रम और सिद्धान्त का होना आवश्यक है। इसके लिए राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में 1966 में संयुक्त समाजवादी दल द्वारा एक सात सूत्रीय प्रस्ताव को स्वीकार किया गया। जिसे 'सप्त क्रान्ति सिद्धान्त' की संज्ञा दी जाती है। लोहिया का मानना था कि इन प्रस्तावों के व्यावहारिक क्रियान्वयन के बिना समाजवाद के सार्वभौम सिद्धान्तों को व्यावहारिक स्वरूप नहीं दिया जा सकता है। सात सूत्रीय प्रस्ताव की रूपरेखा निम्नलिखित थी-

क) स्त्री-पुरुष समानता का समर्थन

ख) रंग भेद पर आधारित असमानताओं की समाप्ति

ग) जन्म और जाति पर आधारित असमानताओं की समाप्ति

घ) विश्व सरकार का निर्माण तथा विदेषियों द्वारा दमन का अन्त

ड) आर्थिक असमानताओं को विरोध

च) व्यक्तिगत अधिकारों के अतिक्रमण का विरोध

छ) शस्त्र आधारित युद्धों का विरोध तथा सविनय अवज्ञा के सिद्धान्त को स्वीकृति

16.3.5 विश्व सरकार की स्थापना

राममनोहर लोहिया विश्व शान्ति के प्रबल पोषक थे। इसके लिए वे चाहते थे कि विश्व के झगड़ों को समाप्त करने के लिए विश्व संसद की स्थापना की जाय चाहिए। वे कहते थे कि देशमें समाजवाद की स्थापना के बाद इस दिशा में प्रयास होना चाहिए। विश्व संसद के निर्माण एवं कार्य के सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि ''वयस्क मताधिकार पर चुनी विश्व सरकार का निर्माण हो जिसे सभीदेशोंके युद्ध बजट का चौथाई या पांचवा हिस्सा प्राप्त हो। यह विश्व पंचायत कैसे स्थापित की जाय इसके सम्बन्ध में उनका कहना था कि सत्याग्रह के द्वारा भी विश्व पंचायत सम्भव है। विश्व शान्ति के स्थापना के उद्देश्य से ही वे चार स्तम्भीय राज्य में विश्व सरकार के रूप में पांचवा स्तम्भ भी जोड़ना चाहते थे। विश्व व्यवस्था के माध्यम से विश्व शान्ति की यह कल्पना लोहिया के चिन्तन की ऊँचाइयों को प्रदर्शित करती हैं।

16.3.6 जाति और वर्गों में संघर्ष की धारणा

अपनी पुस्तक 'दी व्हील आफ हिस्ट्री' में राममनोहर लोहिया के द्वारा इस बात का उल्लेख किया गया है कि इतिहास में जातियों एवं वर्गों का संघर्ष सदैव देखने को मिलता है। इस संघर्ष की आन्तरिक हलचल ही इतिहास को गतिशीलता प्रदान करती है। जाति और वर्गो के बीच घड़ी के पेण्डुलम की तरह आन्तरिक क्रिया होती रहती है। जैसे घड़ी के पेण्डुलम की आन्तरिक क्रिया से घड़ी की सूई अर्थात समय आगे बढ़ता है वैसे ही जाति व वर्गो के आन्तरिक क्रिया से इतिहास भी अपने पथ पर अग्रसर होता रहता है। जातियों का रूप निष्चित होता है जबकि वर्गों की आन्तरिक रचना षिथिल होती है। जातियों में प्रायः गतिहीनता और निष्क्रियता पायी जाती है जबकि वर्ग सामाजिक गतिशीलता की प्रचण्ड शक्तियों के प्रतिनिधि होते है। इस प्रकार लोहिया ने माना कि अब तक का मानव इतिहास जातियों तथा वर्गो के बीच आन्तरिक गति का इतिहास रहा है। जातियां जब षिथिल होती है तो वर्गों में परिणत हो जाती हैं और वर्ग संगठित होकर जातियों का रूप धारण कर लेते हैं।

16.3.7 धर्म और राजनीति

राममनोहर लोहिया धर्म और राजनीति का समन्वित उपयोग करने के पक्षघर थे। उनका मानना था कि धर्म और राजनीति आपस में बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं और उनकी जड़ भी एक ही है। यद्यपि दोनो का अधिकार क्षेत्र पृथक-पृथक है परन्तु दोनों का गलत संयोजन दोनों को विकृत करता है। उनका यह भी विचार था कि राजनीतिक प्रणाली की आधारिक संरचना विकसित करने के लिए धर्म और राजनीति दोनों का प्रयोग तर्क संगत रूप से किया जा सकता है। आगे उन्होने लिखा कि धर्म दीर्घ कालीन राजनीति तो राजनीति अल्पकालीन धर्म है। उनका मानना था कि धर्म का काम लोगों का कल्याण तथा अच्छाई की प्रशंसा करना है तो राजनीति का काम बुराई से लड़ना और उसकी निन्दा करना है। जब धर्म केवल कुछ अच्छा करने के बदले स्वयं की प्रशंसा करने तक सीमित हो जाय तो वह निष्प्राण हो जाता है जबकि राजनीति जब बुराई से लड़ने के बजाय केवल उसकी निन्दा करने लगती है तो वह कलही बन जाती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि धर्म विशेष को किसी खास राजनीति से अपने को सम्बद्ध नहीं करना चाहिए क्योंकि यह साम्प्रदायिक धर्मान्धता को जन्म देता है। वर्तमान धर्म निरपेक्षता की अवधारणा के पीछे भी उद्देश्य यही है कि समाज या राज्य में साम्प्रदायिक कट्टरता को उत्पन्न न होने दिया जाय। एक मान्यता यह भी है कि राजनीतिक और धार्मिक दोनों व्यवस्थाओं में दण्ड देने का प्रावधान पृथक-पृथक हो क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो यह संरक्षणवाद व भ्रष्टाचार की जननी सिद्ध होगा। इसका आशय है कि लोहिया यह मानते थे कि धर्म और राजनीति एक दूसरे की पूरक होनी चाहिए परन्तु उन्हें एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उनके लिए सत्य का महत्व उसके आध्यात्मिक मूल्य के कारण नहीं बल्कि समाज के व्यवस्था के कारण था। वे राजनीति में अनैतिक तत्वों के उपयोग के विरोधी थे इसलिए कभी भी छल-कपट को राजनीतिक हथियार बनाने का पक्षपोषण नहीं किया। वे आलस्य और अकर्मण्यता को भी अस्वीकार करते हुए इसे समाजिक और आर्थिक विकास के मार्ग में एक बड़ा रोड़ा मानते थे। धर्म और मानवता में आस्था के कारण ही वे जीवन भर दलित, शोषित, दरिद्र नारायण के अधिकारों की लड़ाई लड़ते रहे। सामाजिक न्याय अर्थात समानता उनके जीवन का ध्येय था।

अभ्यास प्रश्न1

1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखे।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. 'दी डाक्ट्रीनल फाउण्डेशन ऑफ सोसलिज्म' नामक निबन्ध की रचना की थी-

क) जवाहर लाल नेहरु ने ख) महात्मा गॉधी ने

ग) राममनोहर लोहिया ने घ) इनमें से किसी ने नहीं

2. राममनोहर लोहिया के अनुसार समाजवाद का यूरोपीय मॉडल भारत व एशिया केदेशोंके लिए उपयुक्त नहीं है।

(प) सत्य है (पप) असत्य है

3. एशियाई समाजवाद की धारणा का प्रतिपादन किसने किया है ?

4. चौखम्भा राज्य की कल्पना किसने की थी ?

5. लोहिया के अनुसार धर्म का काम लोगों का कल्याण तथा अच्छाई की प्रशंसा करना है तो राजनीति का काम बुराई से लड़ना और उसकी निन्दा करना है।

(प) सत्य है (पप) असत्य है

16.3.8 जाति व्यवस्था व नारी के सम्बन्ध में विचार

राममनोहर लेहिया भारत की सामाजिक संरचना में आच्छादित जाति व्यवस्था व पुरूष प्राधान्य के कटु आलोचक थे। उनका कहना था कि ये दोनो सामाजिक संरचना की बुनियादी दुर्बलताएं हैं। इसलिए इनको येन केन प्रकारणे समाप्त किया जाना चाहिए। उन्होने माना कि देशके सभी राजनीतिक दलों में सहमति का बहुत बड़ा क्षेत्र अभिकल्पना व रीति रीवाजों के माध्यम से महिलाओं और शुद्रों को सामाजिक संरचना में नीचे रखना है जबकि इन दोनों की आबादी सम्पूर्ण जनसंख्या में तीन चौथाई से अधिक है। सामाजिक संरचना में व्याप्त इन बुराईयों को दूर करने के लिए लोहिया ने युवा वर्ग से सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में आगे

आने की अपील की। उन्होनें लिखा है कि ''मेरा यह विश्वासहै कि जाति और महिलाओं का ये विभाजन मुख्यतया भावना के इस हास के लिए उत्तरदाई हैं इस विभाजन में जोखिम और प्रसन्नता के लिए सभी को समाप्त करने की पर्याप्त शक्ति है। भारत में व्याप्त गरीबी और सामाजिक विभाजन आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे की दुर्बलताओं के सहारे फल-फूल रहे हैं। उन्होने जोर देकर कहा कि गरीबी के समाप्ति के लिए लड़े जाने वाले सभी युद्ध तब तक शर्मनाक है जब तक कि इन दोनों विभाजनों पर एक साथ सजग और वहनीय युद्ध नहीं होता है।

16.3.9 समानता, स्वतन्त्रता और न्याय सम्बन्धी धारणा

समाजवादी धारणा में विश्वासके कारण राममनोहर लोहिया स्वतन्त्रता, समानता और न्याय के कट्टर समर्थक थे। उनका मानना था कि सम्पूर्ण विश्व के जनमानस में समानता का होना आवश्यक है क्योंकि समानता के बिना स्वतन्त्रता कपोल कल्पना मात्र होगी तो स्वतन्त्रता और न्याय के बिना मिलने वाली समानता का कोई अर्थ नहीं होगा। लोहिया का कहना था कि असमानता अन्याय का सबसे बड़ा कारण है। असमानता के कारण ही समाज के लोगों में द्वण्द व टवराव होता है जिसे रोकने के लिए राज्य को हथियार की व्यवस्था करनी पड़ती है। यदि असमानता आधारित अन्याय को समाप्त कर दिया जाय तो इन हथियारों की आवश्यकता भी समाप्त हो जायेगी। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तीनों प्रकार की समानता का होना आवश्यक है। लोहिया ने समानता के चार पक्ष माने थे- आन्तरिक, वाह्य, आध्यात्मिक और भौतिक। समानता वाह्य तथा आन्तरिक के साथ-साथ भौतिक और आध्यात्मिक भी होनी चाहिए।

जहां तक स्वतन्त्रता का प्रश्नहै लोहिया नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पहलुओं पर बल देते है। वे स्वतन्त्रता का अर्थ केवल प्रतिबन्धों से मुक्ति नहीं बल्कि स्वतन्त्रता का आशय व्यक्ति को खुलकर जीवन जीने के अधिकार से मानते है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर राज्य हावी न होने पाये इसके लिए राज्य की शक्तियों पर नियन्त्रण भी होना चाहिए। लोहिया व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कट्टर समर्थक थे। लोहिया का कहना था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न तो पूंजीवादीराज्य और न हीं साम्यवादी राज्य में सम्भव है बल्कि यह तो केवल समाजवादी राज्य में ही मुमकीन हो सकती है।

इस प्रकार लोहिया ने माना की समाजवाद की मूल धारणा समानता ही न्याय की जननी है। स्वतन्त्रता और समानता के अभाव में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त नहीं होगा और जब तक ऐसा सम्भव नहीं हुआ न्याय की कल्पना करना कोरी बकवास होगी। समाजवाद की स्थापना के साथ ही लोगों को स्वतन्त्रता और न्याय की सहज उपलब्धता सम्भव हो जायेगी क्योंकि असमानता आधारित शोषण व अन्याय का स्थान भाई चारा और आपसी सौहार्द ले लेगा। जिससे न्याय की प्रतिस्थापना सम्भव होगी।

16.3.10 हिन्दी का समर्थन

राममनोहर लोहिया एक व्यावहारिक चिन्तक थे जो यह भली-भांति जानते थे कि भारत की बहुसंख्यक जनता न तो अंग्रेजी भाषा जानती है और नही इसे समझती है। इसलिए शासन-प्रशासन के निर्णयों को जनता के लिए सुलभ बनाने हेतु ऐसी भाषा का उपयोग किया जाना चाहिए जिसे भारत की बहुसंख्यक जनता जानती एवं समझती हो। भारत की अधिकांष जनता की सुगम भाषा हिन्दी है। इसलिए राममनोहर लोहिया ने हिन्दी का जोरदार तरीके से समर्थन किया और कहा कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राजभाषा के रूप में अपनाना न सिर्फ लोगों को सुगमता प्रदान करेगा बल्कि इससे प्रशासन की भूमिका भी प्रभावी होगी। जब तक जनसामान्य प्रशासनिक निर्णयों से अवगत नहीं हो जाता उसका सही क्रियान्वयन सम्भव नहीं होगा और इसका माध्यम हिन्दी ही हो सकती है। उन्होनें तो यहाँ तक कह डाला कि भारत में लोकतन्त्र का स्वरूप तब तक वास्तविक नहीं हो सकता जब तक कि लोक प्रशासन अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के माध्यम से न चलाया जाय क्योंकि अंग्रेजी आज भी भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए गुप्त रहस्य ही है। हिन्दी को प्रशासनिक भाषा के रूप में स्थापित करना उनका एक प्रमुख उद्देश्य था।

16.3.11 परराष्ट्र सम्बन्ध

भारत की विदेशनीति के सिद्धान्तों पर भी राममनोहर लोहिया ने गहन मनन एवं चिन्तन किया। उनका मानना था कि भारत का अपने पड़ोसी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु के गुट निरपेक्षता की नीति के वे कटु आलोचक थे। उनका मानना था कि भारत के कल्याण के लिए हमें विदेषों में सच्चे मित्रों की तलाश करनी चाहिए। यह कार्य गुटनिरपेक्षता से सम्भव नहीं है। यदि हम ऐसे मित्र तैयार करते है जो प्रत्येक परिस्थिति में हमारे साथ खड़ा हो तो राष्ट्र का मनोबल

बढ़ेगा और हम बिना किसी डर के विश्व में प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होते रहेगें। जब तक ऐसा नहीं होता हमें विश्व में महाशक्तियों से समानता के व्यवहार का अवसर प्राप्त नहीं होगा।

16.3.12 समाजवादी सभ्यता - राममनोहर लोहिया वर्तमान सभ्यता के विभिन्न पहलुओं का विष्लेषण करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि एक नयी सभ्यता की स्थापना आवश्यक है। इसके लिए उन्होनें समाजवाद रूपी नई सभ्यता की वकालत की जिसे मार्क्स के शब्दों में 'समाजवादी मानवतावाद' की संज्ञा दी जा सकती हैं। उन्होने माना कि आज हमारे समक्ष दो तरह की सभ्यताएं देखने को मिलती है- पूजीवादी और साम्यवादी! किन्तु इन दोनों में ही गरीबी, भय और युद्ध का खतरा बढ़ता है। इनका बढ़ना सभ्यता के विकास के दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता है क्योंकि इससे लोगो की दषा बेहतर नहीं बल्कि बदतर होती जायेगी। उन्होने माना कि आज विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण न सिर्फ औद्योगिक क्षेत्र में बल्कि कृषि क्षेत्र में भी इनके उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ी है। परिणामस्वरूप पूँजी का केन्द्रीकरण होने लगा है और पूंजीवादी व्यवस्था बलवती होती जा रही है। बढ़ती हुई संपत्ति से लोगों के जीवन स्तर के सुधरने की बात भी की जाती है परन्तु सबसे बड़ा प्रश्नयह उठता है कि क्या यह सभ्यता लोगों के बीच सुख-षान्ति और सामाजिक समरसता स्थापित करने में सफल होगी तो इसका उत्तरनकारात्मक ही होगा। इसलिए लोहिया ने कहा कि वैज्ञानिक तकनीकों का प्रयोग अमेरिका या यूरोप में भले ही लाभदायक रहा हो लेकिन एशिया व अफ्रीका केदेशोंमें यह राहत नहीं पहुंचा सकता। इसलिए लोहिया ने माना कि एक ऐसी नई सभ्यता की स्थापना आवश्यक है जिसमें काफी कुछ समानता हो, शक्तियों का विकेन्द्रीकरण हो, सामाजिक दायित्व हों, छोटे व मझले उद्योगों की स्थापना हो, बेहतर जीवन स्तर हो, व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता हो तथा इन सबकी रक्षा के लिए विश्व संसद एवं विश्व सरकार का अस्तित्व हो।

16.3.13 सविनय अवज्ञा और लोकतन्त्र

भारतीय स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत में यह कहने वाले बहुतायत हो गये थे कि लोकतन्त्र में सविनय अवज्ञा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उदाहरण स्वरूप डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने संविधान सभा की बैठक में कहा कि अब भारत में प्रतिरोध के संविधानिक साधन मौजूद है इसलिए असहयोग, सत्याग्रह एवं सविनय अवज्ञा की कोई गुंजाइस नहीं बचती है। अम्बेडकर ने तो यहाँ तक कहा कि इस तरह की बाते अराजकता उत्पन्न कर सकती है। इसलिए बेहतर यही होगा कि लोग जल्द से जल्द इसे भूल जायें। सत्याग्रह के सम्बन्ध में जवाहर लाल नेहरु ने भी 1954 में इसी तरह का दृष्टिकोण प्रदर्शित किया। इन विचारों ने राममनोहर लोहिया को अत्यन्त दुख पहुचाया परिणामस्वरूप उन्होने नैनी जेल में बन्द रहते हुए भारत के राष्ट्रपति को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होने कहा कि प्रधानमंत्री का यह कथन कि आजाद मुल्क में सविनय अवज्ञा बेहूदा है आश्चर्यचकित करने वाली बात है। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि किसी स्वतन्त्र एवं लोकतान्त्रिक देश में भी सविनय अवज्ञा का एक विशेष उद्देश्य है। अगर सत्याग्रह का रास्ता बन्द कर दिया गया तो जनता के समाने विरोध करने के लिए हिंसा के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं बचेगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोहिया ने न सिर्फ लोकतन्त्र में सविनय अवज्ञा को महत्वपूर्ण माना बल्कि अन्याय से लड़ने के मजबूत हथियार के रूप में इसे मान्यता प्रदान की और हर तरह के हिंसा की घोर निन्दा की।

16.3.14 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

मिल की भांति राममनोहर लोहिया भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि मनुष्य को निर्वाध गति से विश्व के किसी भी कोने में भ्रमण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वे वर्तमान में प्रचलित पासपोर्ट पद्धति के विरोधी थे। इस सम्बन्ध में उनका तर्क था कि यदि हमारे देशका नागरिक दिल्ली, बम्बई या नागपुर में बस सकता है तो उसे यह आजादी भी होनी चाहिए कि वह लन्दन, न्यूयार्क या सिडनी में जाकर बस सके। चिन्तन और भाषा की स्वतन्त्रता भी प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। यद्यपि यह ठीक है कि कार्य व्यवहार उसी भाषा में हो जिसे बहुसंख्यक समुदाय चाहता है फिर भी अल्पसंख्यकों को अपनी बात करने की पूरी आजादी होनी चाहिए।

लोहिया सत्याग्रह के समर्थक थे इसलिए उनका मानना था कि यदि राज्य के किसी कानून को व्यक्ति गलत समझे तो उसका विरोध करने का उसे पूरा अधिकार होना चाहिए। स्वतन्त्रता की रक्षा तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति और समाज को गलत कानूनों के प्रतिरोध की खुली छुट हो। अन्याय पूर्ण कानूनों को न मानना कोई पाप नहीं है। इसलिए शासन के गलत नीतियो का विरोध करने हेतु व्यक्ति को सविनय अवज्ञा का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इस अधिकार पर किसी भी तरह का न तो प्रतिबन्ध हो और न ही ऐसे आन्दोलन में शामिल व्यक्तियों के विरूद्ध कोई दण्डात्मक कार्यवाही की जानी चाहिए। लोहिया व्यक्ति के अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के भी कट्टर समर्थक थे तभी तो वे कहते थे कि बोलने की स्वतन्त्रता का आशय ऐसी बात बोलने से भी है जो सही नही

है। इस सम्बन्ध में उनका मानना था कि क्या सही है और क्या गलत है इसका निर्णय लोगो द्वारा लिया जायेगा। उन्होने तो यहाँ तक कहा कि जब तक किसी राज्य की सुरक्षा को खतरा न हो किसी भी आदमी के बोलने की आजादी पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। यद्यपि लोहिया व्यक्गित स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे तथापि इसका अर्थ यह कदापि नहीं है उन्होने कि प्रत्येक को मनमानी करने की छूट का समर्थन किया बल्कि उन्होने कहा कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य या समाज के हित के विरूद्ध पाये जाने पर प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

16.4 राममनोहर लोहिया के आर्थिक विचार

राममनोहर लोहिया संपत्ति की प्रचुरता और उसका न्यायपूर्ण वितरण- दोनों को आवश्यक मानते थे। न्यायपूर्ण वितरण से उनका आशय था निर्धनों की स्थिति में सुधार। इसके लिए उन्होने सुझाव दिया कि न्याय से पहले संपत्ति में वृद्धि आवश्यक है, संपत्ति बढ़ाने के लिए धनिक वर्ग के व्ययों परअंकुशलगाकर बचत की संचितपूंजीका विनियोग उत्पादन तथा जीविकोपार्जन के अवसर बढ़ाने हेतु लघु एवं कुटीर उद्योगो की स्थापना की जानी चाहिए। भौतिकतावादी होने के कारण वे संपत्ति के बृद्धि को महत्वपूर्ण मानते थे।

उदारवादियों की यह मान्यता थी कि विखरा हुआ धन निष्प्रयोज्य हो जाता है जबकि पूंजीपतियों के हाथों मे पूंजी का केन्द्रीकरण होने से जहां उत्पादन बढ़ता है वही रोजगार के साधनो में भी वृद्धि होती है। राममनोहर लोहिया उदावादियों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए कहते थे कि यदि पूंजी के केन्द्रीकरण से रोजगार के अवसर बढ़ते तो वे भी इसे मान लेते लेकिनपूंजीका व्यक्तिगत हाथों में केन्द्रीकरण तो भोग-विलास का साधन बन कर रह जाता है। जिससे उत्पादन या रोजगार के अवसरों में बृद्धि नहीं होती है। इसलिए व्यय की सीमा पर अंकुश लगाना और उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण अर्थात पूंजी पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधन जुटाने के लिए नियन्त्रण, उत्पादन बढ़ाने के लिए औद्योगीकरण तथा समान वितरण के लिए राष्ट्रीकरण राममनोहर लोहिया के आर्थिक विचारों का मूल है।

अभ्यास प्रश्न2-1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तरलिखे।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरसे मिलान कर अपने उत्तरकी त्रुटियों को दूर करें।

1. राममनोहर लोहिया समाज की जातीय व्यवस्था तथा पुरूष प्राधान्य के विरोधी नही थे।
   (i) सत्य है (ii) असत्य है
2. लोहिया के अनुसार अन्याय का सबसे बड़ा कारण क्या है ?
3. पासपोर्ट पद्धति के विरोधी थे-
   (i) जवाहर लाल नेहरु (ii) राममनोहर लोहिया
   (iii) डॉ. भीमराव अम्बेडकर (iv) उपर्युक्त कोई नहीं
4. राममनोहर लोहिया ने भारत में लघु एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना का समर्थन क्यों किया?
5. राममनोहर लोहिया हिन्दी को राजभाषा का दर्जा देने के विरोधी थे-
   (i) सत्य है (ii) असत्य है

16.5 सारांश

राममनोहर लोहिया एक बुद्धिजीवी समाजवादी चिन्तक थे जिन्होने जीवन के सभी पहलुओं पर सूक्ष्म चिन्तन एवं मनन किया। अन्याय का प्रतिकार उनके सिद्धान्तों की बुनियाद था। इसलिए उन्होने तत्कालीन व्यवस्था के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि पहलुओं पर कठोर प्रहार किया और ऐसी व्यवस्था कायम करने पर बल दिया, जिसमें आवश्यक रूप से सामाजिक समानता हो। उनका कहना था कि भारतीय समाज में जब तक सामाजिक समानता स्थापित नहीं हो जाती तब तक आर्थिक समानता का कोई अर्थ नहीं है। जाति व्यवस्था को उन्होने सामाजिक समानता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा माना। सामाजिक समानता की स्थापना के लिए ही उन्होने पुरूष प्रधान समाज के स्थान पर स्त्री-पुरूष समानता का समर्थन किया। उन्होने समाजवादी सभ्यता को एशियाई दृष्टिकोण से देखने का भी प्रयास किया और कहा कि समाजवाद का यूरोपीयन मॉडल भारत और एशिया के देशों में सफल नहीं हो सकता। वे समाजवाद की स्थापना के लिए हिंसक क्रान्ति का समर्थन करने के बजाय शान्तिपूर्ण तरीके या लोकतान्त्रिक तरीके का समर्थन करते थे।

लोकतन्त्र में लोहिया की घोर आस्था थी क्योंकि लोकतन्त्र में व्यवस्था परिवर्तन शान्तिपूर्ण तरीके से सम्भव होती है। लोकतन्त्र में शासन की गलत नीतियों का विरोध करने के लिए उनके द्वारा सत्याग्रह को स्वीकृति प्रदान की गयी लोकतन्त्र को मजबूत करने के

दृष्टि से ही उनके द्वारा चौखम्भा राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया जिसमें शासन की शक्तियों को राष्ट्रीय, राज्य, मण्डल और गांव स्तर पर विभाजित करने की बात की गयी थी। उनका मानना था कि इससे न सिर्फ लोगो को शासन के क्रियाकलापों में सहभागी बनने का अवसर अधिक मिलेगा बल्कि लोगों की समस्याओं को शासन के क्रियाकलापों में सहभागी बनने का अवसर अधिक मिलेगा बल्कि लोगों की समस्याओं का निस्तारण भी आसानी से हो सकेगा। वे धर्म और राजनीति के समन्वित उपयोग के पक्षधर थे। उनका कहना था कि राजनीति के बिना धर्म निष्प्राण हो जाता है तो धर्म के बिना राजनीति कलही बन जाती है। इतिहास की नवीन व्याख्या में उनके द्वारा चक्रीय सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा गया कि उन्नति और पतन का क्रम एक चक्र के रूप में घूमता रहता है। पतन के गर्त में गया कोई देश विकासोन्मुख हो सकता है तो विकास के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने वाला कोई देशया सभ्यता पतन के गर्त में भी जा सकते हैं।

विश्व में शान्ति व सुरक्षा के दृष्टि से राममनोहर लोहिया द्वारा विश्व सरकार या संसद की स्थापना की बात कही गयी। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि विश्व संसद की स्थापना सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर लोकतान्त्रिक तरीके से की जा सकती है। विश्व सरकार के प्रति उनके लगाव का ही प्रतिफल है कि अपने चौखम्भा राज्य के पांचवे स्तम्भ के रूप में वे विश्व सरकार की स्थापना करना चाहते थे।

16.6 शब्दावली

1.प्रजातन्त्र - शासन व जीवन की ऐसी पद्धति जिसमें सबको समानता प्राप्त हो

2.विकेन्द्रीकरण - शासन की शक्तियों का ऊपर से नीचे तक विभाजन

3.सत्याग्रह - सत्य के लिए आग्रह अर्थात सरकार की गलत नीतियों का शान्तिपूर्ण तरीके से विरोध

4.उद्देश्य - ऐसी व्यवस्था जिसमें राज्य शक्ति पर किसी प्रकार का अंकुश न हो।

5.सामन्तवाद - ऐसी व्यवस्था जिसमें कुछ खास लोगो का सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित हो

6.भौतिकवाद - भौतिक तत्वों पर आधारित विचार परम्परा

7.चेतनावाद - वैचारिक तत्वों को महत्वपूर्ण मानने वाली विचारधारा

8.संघवाद - शक्तियों का केन्द्र व इकाईयों के विभाजन

9.राष्ट्रीकरण - पूंजी के साधनों पर राज्य या सरकार का नियन्त्रण

10.मानववाद -मानव की स्वतन्त्रता गरिमा को प्रतिष्ठित करने वाली विचार पद्धति

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न1

1. (iii) राममनोहर लोहिया ने ,2. (i) सत्य है,3. राममनोहर लोहिया ने ,4. राममनोहर लोहिया ने,5. (i) सत्य है

अभ्यास प्रश्न2

1.(ii) असत्य है ,2.असमानता ,3.(ii) राममनोहर लोहिया ,4.इससे अधिक से अधिक लोगो को रोजगार के अवसर मिलेगें,5. (ii) असत्य है

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.वी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

2.डॉ. बी.एल. फाडिया, भारतीय राजनीतिक चिन्तन साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

3.सुषमा गर्ग, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।

16.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ज्योति प्रसाद सूद, आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, के.नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

2. ए. अप्पादुराई, बीसवीं शताब्दी में भारतीय राजनीतिक चिन्तन, साउथ एशियन पब्लिशर्ष प्रा.लि. नई दिल्ली।

16.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.राममनोहर लोहिया के राजनीतिक विचारों का संक्षिप्त उल्लेख करें।

2.राममनोहर लोहिया के समाजवादी चिन्तन पर प्रकाशडालिए।

3.राममनोहर लोहिया के चौखम्भा राज्य एवं सप्त क्रान्ति सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।

4.स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय के सम्बन्ध में राममनोहर लोहिया की धारणा का विस्तृत विवेचन कीजिए।